धनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोकटीकया समेतं
भावसंवलितया भूमिकया संस्कृतटिप्पण्या
राष्ट्रभाषाव्याख्यया च सनाथीकृतम्

व्याख्यादिप्रणेता सम्पादकश्च
डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

THE

Daśarūpaka of Dhanañjaya

WITH

Avaloka of Dhanika

Edited

With Saṁskrit Commentary, Hindi Translation, Critical and Explanatory Notes and Literary Introduction.

By

Dr. R. S. Tripathi
Department of Saṁskrit and Pāli
Banaras Hindu University
Varanasi–5



VISHWAVIDYALAYA PRAKASHAN
VARANASI

प्रमुख संस्कृत प्रकाशन

प्रारम्भिक रचनानुवादकौमुदी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	२-००
रचनानुवादकौमुदी	,,	४-५०
प्रौढ-रचनानुवादकौमुदी	,,	१५-००
संस्कृत-व्याकरण	,,	१२-५०
संस्कृत-निबन्धशतकम्	,,	७-५०
संस्कृत साहित्य की भूमिका	,,	६-००
तुलनात्मक संस्कृत भाषा-विज्ञान	,,	१५-००
संस्कृत-शिक्षकम्	पं० गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी'	३-००
अलङ्कार प्रस्थान-विमर्शः	डॉ० लक्ष्मीनारायण सिंह	१०-००
अभिनव रस-सिद्धान्त	डॉ० दशरथ द्विवेदी	६-००
अभिनव का रस-विवेचन	डॉ० परमानन्द गुप्त	२५-००
ऋग्वेद भाष्य-भूमिका	डॉ० हरिदत्तशास्त्री	४-००
पालि प्राकृत अपभ्रंश संग्रह	डॉ० रामअवध पाण्डेय तथा डॉ० रविनाथ मिश्र	१५-००
भुशुंडि रामायण (खण्ड १) मूलकथा, भूमिका तथा प्रस्तावना	सं० डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, डॉ० वी० राघवन्	५०-००
भुशुंडि रामायण (खण्ड २)		(प्रेस में)
मुद्राराक्षसम् (विशाखदत्तकृतम्)	डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी	१५-००
लघुसिद्धान्त कौमुदी (सम्पूर्ण)	डॉ० रामअवध पाण्डेय	१६-००

॥ श्रीः ॥

धनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोकटीकया समेतं
भावसंवलितया भूमिकया संस्कृतटिप्पण्या
राष्ट्रभाषाव्याख्यया च
सनाथीकृतम्

व्याख्यादिप्रणेता सम्पादकश्च
डॉ॰ रमाशङ्कर त्रिपाठी
व्याकरणाचार्यः, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰

संस्कृत-पालि-विभागः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः
वाराणसी–५



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९७३ ई०

मूल्य : सोलह रुपये

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–१
मुद्रक : ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस). ७१०९–२९

समर्पणम्

व्याकरण-साहित्य-सांख्य-योग-पुराणेतिहासाद्यनेकविषयेषु
पारङ्गतानां वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये पुराणे-
तिहासाध्यक्षपदमलङ्कुर्वतां धृतमानवतासकल-
गुणानां दयादाक्षिण्याद्यगणितगुणगण-
संवलितानां

श्रीकृष्णमणित्रिपाठिमहाभागानां
करकमलयोः सादरं समर्पयति--
रमाशङ्कर त्रिपाठी

प्राक्कथन

नाट्यशास्त्र के इतिहास में 'दशरूपक' मानदण्ड की भाँति स्थित है। भरत के नाट्यशास्त्र के रूपकविषयक सिद्धान्तों का संक्षिप्त पर सर्वाङ्गीण विवेचन इसकी मौलिकता है। इसके उत्तरभावी नाट्यविषयक ग्रन्थ इसकी दमकती आभा को किञ्चित् भी मलिन नहीं कर सके हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ-रत्न धनञ्जय एवं धनिक बन्धुद्वय की समवेत प्रतिभा का अनघ अखण्ड फल है। ऐसे अमर-ग्रन्थ की अनवद्य व्याख्या प्रस्तुत करने का भला नदीष्ण विद्वानों के अतिरिक्त कौन दम भर सकता है? फिर भी इसकी यह नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, इसे गुरुओं तथा विद्वानों की कृपा का प्रसाद ही समझना चाहिए। 'छात्रों को अधिक से अधिक सहायता पहुँचायी जा सके' इस बात को भी ध्यान में रखते हुए यह संस्करण तैयार किया गया है। कोई भी व्यक्ति इस संस्करण के माध्यम से, बिना किसी की सहायता लिये हुए भी धनञ्जय एवं धनिक के गम्भीर भावों तक अनायास पहुँच सकता है। अध्यापकों, आलोचकों तथा नयी और पुरानी विचारधाराओं के विद्वानों के लिए भी इस संस्करण का उतना ही महत्त्व हो जितना कि छात्रों के लिये—एतदर्थ भी प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में अनुसन्धानात्मक भूमिका के साथ इस संस्करण को अर्थ, विशेष, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, तथा संस्कृत टिप्पणी आदि से सज्जित करने का भरपूर प्रयत्न किया गया है। उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका मूल्याङ्कन मेरा काम नहीं है। संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि यह संस्करण दशरूपक के अर्थ एवं भाव को स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित कर पाठकों की नम्र अपेक्षित सेवा कर सके। अनुवाद की अविकलता तथा स्पष्टता को प्राधान्य देते हुए भी यत्र-तत्र, विशेषतया चतुर्थ प्रकाश में स्वतन्त्र रीति अपनायी गयी है।

'दशरूपक' के इस संस्करण को वर्तमान रूप देने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के कतिपय संस्करणों से सहायता उपलब्ध हुई है। टीका की सरणि तथा उद्धरणों के विषय में डॉ० श्रीनिवास शास्त्री का संस्करण विशेष उपयोगी रहा। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश तथा ध्वन्यालोक के उपलब्ध संस्करणों से भी यथेच्छ सहायता ली गयी है। अनुवादक इन संस्करणों के कृती व्याख्याताओं तथा संपादकों का हृदय से आभार स्वीकार करता है।

'वेणीसंहार' तथा 'रत्नावली' के उद्धरणों के सामने जो पृष्ठ-संख्या दी गयी है तथा जो उनका अनुवादादि प्रस्तुत किया गया है उसे मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से प्रकाशित संस्करणों का समझना चाहिए।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के सुयोग्य सञ्चालक मित्र पुरुषोत्तमदास जी मोदी भी अपने सहयोगात्मक कृत्यों के लिए धन्यवादार्ह हैं।

नागपञ्चमी
वि० सं० २०३०
३-८-१९७३ ई०

—रमाशङ्कर त्रिपाठी

विषयानुक्रमः

भूमिका

१. संस्कृत नाटकों को उत्पत्ति एवं विकास

नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत के अनुसार नाटक (रूपक) की उत्पत्ति त्रेता-युग में ब्रह्मा के द्वारा की गयी थी। सतयुग में चारों ओर सुख तथा वैभव का ही साम्राज्य था। सभी व्यक्ति सत्त्वगुणप्रधान होते थे। अतः उन्हें किसी बाह्य मनोरञ्जन की आवश्यकता न थी। त्रेतायुग के प्राणी सर्वाङ्गीण सुखी न थे। उन्हें आधिभौतिक बातें यदा-कदा उद्वेलित करती रहती थीं। फलतः उन्हें अन्य सुखद वस्तु का अवलम्बन आवश्यक था। नाट्यशास्त्र के अनुसार यह नेत्रायुग था, जब कि देवता लोग महर्षियों के साथ ब्रह्माजी के पास गये। उन लोगों ने देव-पिता ब्रह्मा से एक ऐसे पञ्चम वेद की रचना की प्रार्थना की जो सबके मनोरञ्जन के साथ ही साथ शूद्रों के लिये भी पढ़ने योग्य हो। शूद्र परम्परा के अनुसार वेदाध्ययन के अधिकारी न थे। अतः निःश्रेयस् की कल्पना से वे वञ्चित थे। अतः उनके उद्धार के लिये भी एक वेद की आवश्यकता थी। देव-विनय को सुनकर ब्रह्माजी ने चारों वेदों के आधार पर ही पञ्चम वेद नाट्यवेद की रचना की। इस पञ्चम वेद में चार अङ्ग पाये जाते हैं— पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इन चारों तत्त्वों को ब्रह्माजी ने क्रमशः ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से संगृहीत किया—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि" ॥ (भरत नाट्य० १)

नाट्यवेद की रचना पूरी हो जाने पर ब्रह्मा ने इन्द्र से देवमण्डल में इसका प्रचार करने के लिये कहा। ब्रह्मा के आदेश को सुनकर इन्द्र ने उनसे निवेदन किया—'देवमण्डल नाट्यकर्म में प्रवीण नहीं है। वेदों के मर्मज्ञ मुनिजन ही इसके ग्रहण और प्रयोग में सफल हो सकते हैं।' इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इस नवीन एवं गुरुतर कार्य के सम्पादन का भार भरत मुनि के कन्धों पर डाला। उन्होंने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का आदेश भी दिया। ब्रह्माजी के आदेशानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। प्रयोग का विषय था इन्द्रविजय। इसमें दैत्यों के ऊपर देवों की विजय का वर्णन था।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में वर्णित इस कथानक से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम बात तो यह है कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की रचना के बहुत पहले ही भारतीय नाट्यकला तथा भारतीय रङ्गमञ्च पूर्ण विकसित हो चुके थे। दूसरी बात यह है कि नाटकीय तत्त्वों की उपलब्धि या प्रेरणा हमें वेदों से ही मिली है। इनके अतिरिक्त तीसरी बात यह भी है कि इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही

नाट्य का प्रयोग होता रहा है। भारतीय मनीषा की यह विशेषता रही है कि जब कभी परम्परा से चली आती हुई अत्यन्त पुरातन प्रथा का निश्चित उद्गम नहीं दे पाती थी तो वह उसे देवों के साथ सम्बद्ध कर देती थी। इससे उस प्रथा की पुरातनता और महत्त्व दोनों ही सिद्ध किये जाते थे।

भारत के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता हैं। ऐसे सूक्तों को संवाद-सूक्त कहा जाता है। संवाद के तत्त्वों से पूर्ण इस प्रकार के लगभग १५ सूक्त हैं। इनमें इन्द्र-मरुत्-संवाद (१।१६५; १।१७०); विश्वामित्र-नदी-संवाद (३।३३); पुरुरवा-उर्वशी-संवाद (१०।८५); यम-यमी-संवाद (१०।१०); इन्द्र-इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद (१०।८६); तथा अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (१।१७९) आदि प्रमुख हैं। इनमें पुरुरवा-उर्वशी-संवाद महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का मूलाधार है।

निश्चय ही ऋग्वेद के ये संवाद-सूक्त नाट्य-कला के आदिम बीज हैं। धीरे-धीरे अङ्कुरित होकर ये ही तत्त्व नाट्यकला के विकास में सहायक हुए हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी इसी मत की पुष्टि करते हुए विभिन्न धारणाओं को व्यक्त करते हैं—

(क) जर्मन विद्वान् प्रो० श्रोदर यह मानते हैं कि संवाद-सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। यज्ञ के कुछ विशिष्ट अवसरों पर नृत्य-गीत आदि के साथ याज्ञिकों द्वारा इनका अभिनय किया जाता था। सम्प्रति बङ्गाल में जिन धार्मिक यात्राओं का प्रचलन है उन्हें इन नाटकों का विकसित रूप माना जा सकता है।

(ख) डॉ० हर्टल का मत है कि वस्तुतः इन संवाद-सूक्तों का गायन होता था। इसमें एक से अधिक व्यक्ति सम्मिलित होते थे; क्योंकि संवाद का कार्य एक व्यक्ति से संभव नहीं है। ये यह मानते हैं कि इन्हीं संवाद-सूक्तों में नाटक के बीज निहित हैं।

(ग) डॉ० कीथ को इन दोनों ही मतों में आस्था नहीं है। इनका कहना है कि ये संवाद-सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध तो अवश्य हैं, पर इनका गायन न होकर 'शंसन' मात्र होता था। गायन के लिये तो सामवेद था ही। यही कारण है कि सामगान करने वाले ऋत्विज् को उद्गाता कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण-कर्ता को होता कहा जाता है। ये संवाद-सूक्त कई प्रकार के हैं। कहीं तत्त्वों का विचार किया गया है, तो कहीं किसी पुरातन घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक (अर्थात् कर्मकाण्ड) है। परन्तु नाटकों के बीज इन सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ विद्वान्—जिनमें डॉ० विण्डिश, ओल्डेनबर्ग और पिशेल प्रधान हैं—इन संवाद सूक्तों के विषय में अपनी सम्मति कुछ दूसरे ही ढंग से व्यक्त करते हैं। ये यह मानते हैं कि ऋग्वेद के उक्त संवाद-सूक्त गद्य-पद्यात्मक

थे। गद्यभाग की अपेक्षा पद्यभाग अधिक रोचक होता है। अतः क्रमशः गद्यभाग लुप्त होता गया और बाद में पद्यभाग ही अवशिष्ट रहा। इसे वे लोग 'आख्यान' कहते हैं। नाटक में जो गद्य-पद्य का सम्मिश्रण है वह डॉ० पिशेल की राय में इन्हीं संवाद-सूक्तों के अनुकरण पर है। डॉ० ओल्डेन बर्ग का कथन है कि ऐतरेय ब्राह्मण का 'शुनः शेप' उपाख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण का 'पुरुरवा-उर्वशी' कथानक इन्हीं उपाख्यानों का अवशिष्ट रूप है।

जो भी कुछ हो, किन्तु इन सारे विद्वानों के मत इसी बात की पुष्टि करते हैं कि रूपकों का मूल उद्‌गम-स्थल वेद ही है। आखिर नाट्याचार्य भरत भी तो स्पष्टतः यही मत व्यक्त करते हैं। अतः इतना निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नाट्य के बीज वेद ही हैं जो अङ्कुरित, पल्लवित तथा पुष्पित होकर हमारे सामने प्रतिफलित हैं। यह बात दूसरी है कि नाट्य को पूर्णता प्रदान करने में अन्य कई बातों ने भी सहयोग प्रदान किया होगा।

२. संस्कृत-नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ

रूपकों की श्रीवृद्धि के बाद ही उनके सहारे नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों के प्रणयन का सूत्रपात हुआ होगा। यह कहना कठिन है कि भारतीय रूपक-परम्परा में प्राचीनतम रूपक कौन-कौन से थे और उनके आधार पर सर्वप्रथम कौन-सा नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ रचा गया। किन्तु इतना तो सत्य और निर्विवाद है कि प्राप्य नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में भरतमुनि-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थरत्न है। उपलब्ध नाट्य सम्बन्धी साहित्य के आचार्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि और उनके व्याख्याकार।

(२) नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयनकर्ता धनञ्जय आदि।

१. भरतमुनि और उनका नाट्यशास्त्र—भरत का 'नाट्यशास्त्र' संस्कृत-काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कह सकते हैं। इसमें प्रधानतया नाट्य का विवेचन होने पर भी तदुपकारक रस, अलङ्कार, सङ्गीत तथा छन्द आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इसमें ३७ अध्याय हैं। विद्वानों का मत है कि इसके ३६ अध्याय प्राचीन हैं और ३७वाँ बाद में जोड़ा गया है। इसका प्रथम अध्याय नाटक तथा नाट्यवेद की उत्पत्ति का वर्णन प्रस्तुत करता है। द्वितीय अध्याय में नाट्य-गृह के निर्माण आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय में महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति तथा गुरु की पूजा की चर्चा है। चतुर्थ अध्याय में देवताओं के समक्ष अमृत-मन्थन तथा महादेव के सामने त्रिपुरदाह नामक रूपकों के अभिनय की कथा है एवं ताण्डव नृत्य के प्रादुर्भाव और इसके शिक्षण का निरूपण है। पञ्चम अध्याय पूर्वरङ्ग, नान्दी तथा प्रस्तावना का विवरण प्रस्तुत करता है। षष्ठ अध्याय में स्थायी भावों तथा रस

आदि का विस्तृत विवरण है। सप्तम अध्याय में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों का निरूपण किया गया है। अष्टम अध्याय में सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य इन चारों प्रकार के अभिनयों का स्वरूप निरूपित किया गया है। नवम अध्याय से द्वादश अध्याय तक आङ्गिक अभिनय का पर्याप्त विवेचन है। त्रयोदश अध्याय में भारती आदि वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का निरूपण है। चतुर्दश-पञ्चदश में वाचिक अभिनय का विश्लेषण है। शोडष में छन्द, नाट्यलक्षण, अलङ्कार, काव्य के दोष तथा गुण आदि की चर्चा है। सप्तदश में भाषाओं के लक्षण हैं। अष्टादश में रूपकों के लक्षण हैं। उन्नीस एवं बीस में वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग तथा भारती आदि वृत्तियों के अङ्गों पर विचार किया गया है। इक्कीस में आहार्य अभिनय, बाईस में युवतियों के अलङ्कार तथा नायिका की अवस्थाएँ हैं। तेईस में नारी की प्रकृति तथा चौबीस में नायक-नायिका के प्रकार हैं। पचीस में अभिनय सम्बन्धी निर्देश एवं नाट्योक्ति है। छब्बीस-सत्ताईस में नाट्य-प्रयोग है। अट्ठाईस में आतोद्य-प्रयोग तथा उन्तीस में आतोद्य-विधान है। तीस में सुषिर आतोद्य का विधान है। इकतीस-बत्तीस में ताल-लय का विश्लेषण किया गया है। तैंतीस गायक-वादक के गुण-दोष का विवेचन करता है। चौंतीस में मृदङ्गों का वर्णन तथा पैंतीस में पात्रों की भूमिका की व्यवस्था है। छत्तीस में पूर्वरङ्ग के विधान की कथा एवं सैंतीस में नाट्यावतार तथा नाट्य-माहात्म्य है।

यह विषय-सूची मुख्यतया बड़ौदा के संस्करण के आधार पर दी गयी है। अन्य संस्करणों में अध्याय, अध्यायों की श्लोक-संख्या तथा विषय-प्रतिपादन में भेद है।

भरत का नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत् यह अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुमधुर फल है। नाट्य-शास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—(१) सूत्र-भाष्य = यह गद्यात्मक अंश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमें विकास होने पर अन्य अंश भी मिला लिये गये। (२) कारिका; मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को समझाने के लिये इन कारिकाओं की रचना की गयी। (३) अनुवंश्य श्लोक = गुरु-शिष्य-परम्परा से आनेवाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् छन्द में हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीन आचार्यों के द्वारा रचित हैं—

"ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥
(अभिनवभारती, अध्याय ६)

अपने सूत्रों को प्रमाणित करने के लिये भरत ने इन्हें इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

विद्वानों ने नाट्यशास्त्र के काल के विषय में विभिन्न मत व्यक्त किया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसका समय ई० पू० दूसरी शताब्दी माना है। प्रो० लेवी के मत से इसकी रचना क्षत्रपों के शासन-काल में हुई है। पी० वी० काणे ने लेवी के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है। कीथ का विचार है कि इसका

रचना-काल तीसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता है। डॉ० डी० सी० सरकार ने वर्तमान नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्र और नेपाल के उल्लेख के आधार पर इसका समय दूसरी शताब्दी के बाद माना है। उनका कहना है कि नेपाल का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ है तथा महाराष्ट्र का प्रथम उल्लेख 'महावंश' (पञ्चम शताब्दी) एवं ऐहोल के अभिलेख (६३४ ई०) में हुआ है। मनमोहन घोष ने भरत के भाषावैज्ञानिक तथा छन्दः सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलङ्कारों के वर्णन, उपाख्यान तथा भौगोलिक विवरण के आधार पर नाट्य-शास्त्र का समय १०० ई० पू० तथा २०० ई० के मध्य निर्धारित किया है। पी० वी० काणे महाशय ने हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स में इन सभी मतों की समीक्षा करके युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र का समय तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। उनके विचार के अनुसार वर्तमान नाट्य-शास्त्र के षष्ठ-सप्तम अध्याय, अभिनय-विषयक अष्टम से चतुर्दश अध्याय तथा सप्त-दश से पैंतीस तक के अध्याय किसी एक समय लिखे गये होंगे। षष्ठ और सप्तम अध्याय के गद्यांश और आर्याएँ, जो अभिनवगुप्त के अनुसार प्राचीन आचार्यों से ली गयी हैं, लगभग २०० ई० पू० में लिखी गयी होंगी तथा जब अन्य अध्याय लिखे गये तब उनमें जोड़ी गयी होंगी।

२. **नाट्यशास्त्र के व्याख्याता आचार्य**—समय-समय पर कई आचार्यों ने 'नाट्य-शास्त्र' पर व्याख्यायें लिखी थीं, किन्तु उनमें आज कई अनुपलब्ध हैं। भरतटीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकायें, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिधरकृत टीका आदि टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। इनमें कुछ के उद्धरण तथा मत अभिनवभारती में मिलते हैं। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या करने वाले आचार्यों में लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त—ये चार आचार्य प्रसिद्ध हैं। अभिनवगुप्त ने अपनी भारती में लोल्लट आदि के मतों का पर्याप्त विश्लेषण किया है। भारती के ही आधार पर आचार्यप्रवर मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में इन तीन आचार्यों के मतों का उद्धरण दिया है।

लोल्लट—अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका भारती में भट्ट लोल्लट के मतों का, मनमोहन घोष के अनुसार, ग्यारह बार उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि लोल्लट ने नाट्यशास्त्र पर कोई टीका अवश्य लिखी थी, जो आज अनुपलब्ध है। भरत के रसपरक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करनेवालों में संभवतः लोल्लट ही प्रथम आचार्य थे। भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा-द्रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या में उन्होंने 'संयोगात्' से 'कार्य-कारण भावरूप सम्बन्ध' तथा 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' अर्थ लिया है। उनके अनुसार रस की स्थिति राम आदि अनुकार्य में रहती है, न कि नटों अथवा सहृदयों में। लोल्लट मीमांसक आचार्य तथा अभिधावादी थे। वे अभिधाशक्ति को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते हैं। उनके अनुसार शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतीति अभिधा से ठीक उसी प्रकार हो जाती

है, जैसे बाण अकेला ही कवच को भेद कर, शरीर में प्रविष्ट होकर, प्राणों का अपहरण कर लेता है। आचार्य मम्मट ने इसी मत को इस प्रकार उद्धृत किया है—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'। लोल्लट के मत का प्रभाव दशरूपककार धनञ्जय तथा अवलोककार धनिक पर भी देखा जा सकता है। विद्वानों का मत है कि भट्ट लोल्लट का समय अष्टम-नवम शताब्दी है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, भट्ट लोल्लट काश्मीरी विद्वान् थे।

शङ्कुक—मदनमोहन घोष के अनुसार अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' की टीका में शङ्कुक को पन्द्रह बार उद्धृत किया है। आचार्य शङ्कुक ने भी 'नाट्यशास्त्र' पर कोई व्याख्या लिखी होगी। शङ्कुक के द्वारा की गयी भरत के रस-सूत्र की व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से है। शङ्कुक नैयायिक थे। उन्होंने विभाव आदि साधनों तथा रसरूप साध्य में 'अनुमाप्य-अनुमापक-भाव' को माना है। इस प्रकार वे रस को अनुमेय मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक और कल्पना करते हैं—'चित्रतुरगादिन्याय' की कल्पना। इस न्याय के सहारे वे यह बतलाते हैं कि अनुकर्ता नट सच्चे राम आदि नहीं हैं। वे वैसे ही राम हैं, जैसे कि चित्र में बना घोड़ा घोड़ा है। इस कल्पना का उपयोग दशरूपककार ने भी किया है। शङ्कुक ने रस की स्थिति सामाजिकों में मानी है। शङ्कुक ने ही सबसे पहले लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयों में रसानुभूति न माननेवाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। शङ्कुक भी काश्मीरी थे। इनका समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है।

भट्टनायक—भट्टनायक दशम शताब्दी के एक प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। भट्टनायक का अभिनव भारती में, मदनमोहन घोष के अनुसार, छः बार उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त ने इनकी चर्चा विशेषरूप से रस के प्रसङ्ग में की है। दुर्भाग्यवश इस समय उनका एक मात्र ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' उपलब्ध नहीं हो रहा है; परन्तु साहित्य के क्षेत्र में उनकी जो नई देन थी उसके कारण उत्तरवर्ती साहित्य में उनके मत की चर्चा बहुत अधिक पायी जाती है। सामान्यतः वे ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। उनके 'हृदयदर्पण' में 'ध्वन्यालोक' के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। अतः उनका काल ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य के बाद का है। फिर उनके ध्वनिविरोधी विचारों का खण्डन ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने किया है। अतः वे अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती होंगे। इस प्रकार उनका समय आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के बीच में पड़ने के कारण दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

रसनिष्पत्ति के विषय में भी भट्टनायक का अपना अलग सिद्धान्त है। उनके सिद्धान्त का उल्लेख काव्यप्रकाश में किया गया है। उन्होंने शब्द में अभिधा-व्यापार, भावकत्व-व्यापार तथा भोजकत्व-व्यापार तीन प्रकार का व्यापार माना है। अभिधा-व्यापार के द्वारा काव्य का सामान्य अर्थ उपस्थित होता है। भावकत्व-व्यापार सीता-राम आदि के विशेष स्वरूप का अपहरण कर उनका साधारणीकरण करता है और

भोजकत्व-व्यापार सामाजिक को रस की अनुभूति कराता है। दशरूपककार पर भट्ट-नायक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

अभिनवगुप्त—अभिनवगुप्त जहाँ एक ओर ध्वनि के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, वहीं दूसरी ओर वे नाट्यशास्त्र के भी पारङ्गत विधाता हैं। इसके अतिरिक्त वे शैवदर्शन के भी परमाचार्य माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र या ध्वनिवाद पर कोई अलग ग्रन्थ न लिख कर टीकाएँ लिखी हैं। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन' टीका तथा भरत के 'नाटयशास्त्र' पर 'अभिनव भारती' (वस्तुतः 'भारती') उनके ही नहीं; अपितु साहित्य-जगत् के अमूल्य ग्रन्थ हैं। यद्यपि ये दोनों ही टीका-ग्रन्थ हैं, तथापि आकर ग्रन्थ से इनका किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं है। अभिनवगुप्त भी काश्मीरी आचार्य हैं। इनके ग्रन्थों की संख्या ४०-४१ के लगभग है।

अभिनवगुप्त शैवदार्शनिक हैं। इनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जना-वाद की आधारभित्ति पर खड़ा है। इनके अनुसार रस व्यङ्ग्य है। ये भरत के रससूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्तिः' का क्रमशः 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्', तथा 'अभिव्यक्ति' अर्थ करते हैं। वे रस की स्थिति सहृदय में मानते हैं। इनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा एकादश शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र तथा नाटयशास्त्र के अध्ययन में वस्तुतः अभिनवगुप्त के ग्रन्थों का अद्वितीय महत्त्व है।

२. नाट्यशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयनकर्ता आचार्य—यहाँ हम समय एवं ग्रन्थ के साथ उन आचार्यों का एक संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं, जिन्होंने नाटयशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखा है—

(क) आचार्य नन्दिकेश्वर—अब तक इनके दो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं—'अभि-नयदर्पण' और 'भरतार्णव'। इनके समय के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं। डॉ० मदनमोहन घोष ने 'अभिनयदर्पण' के समय की परीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान था; किन्तु पञ्चम शताब्दी से पूर्व इसकी विद्यमानता में सन्देह है।

(ख) आचार्य सागरनन्दी—धनञ्जय ने ९७४-९९४ ई० के बीच अपने नाटय-शास्त्र-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक' की रचना की थी। इनके लगभग १०० वर्ष बाद सागरनन्दी ने अपने 'नाटयलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इनका असली नाम 'सागर' था, किन्तु नन्दी वंश में उत्पन्न होने के कारण इन्हें 'सागरनन्दी' कहा जाता था। सन् १९२२ में स्व० सिलवाँ लेवी ने नेपाल में 'नाटक-लक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्राप्त कर उसका परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक' में (१९२२, पृष्ठ २१० पर) प्रकाशित कराया। उसके बाद सन् १९३७ ई० में एम० डिलन ने इस ग्रन्थ का सुसम्पादन करके लन्दन से प्रकाशित करवाया है।

(ग) **रामचन्द्र-गुणचन्द्र**—रामचन्द्र और गुणचन्द्र ये दोनों ही जैनधर्म के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् थे। इनके गुरु थे आचार्य हेमचन्द्र। इन दोनों आचार्यों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्यविषयक ग्रन्थ की रचना की है। यही कारण है कि इन दोनों का नाम प्रायः साथ-साथ प्रयुक्त होता है। गुणचन्द्र का अलग से अपना कोई ग्रन्थ नहीं पाया जाता है; किन्तु रामचन्द्र के अलग से भी कतिपय ग्रन्थ पाये जाते हैं, जो प्रायः नाटक हैं। 'नाट्यदर्पण' में प्रधानतया नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय के आधार पर रूपकों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह भी कहा जाता है कि धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में इन जैनाचार्यों ने नाट्यदर्पण की रचना की थी। इन्होंने रस को केवल सुखात्मक न मानकर दुःखात्मक भी माना है। इनका समय १२वीं शताब्दी में निश्चित होता है।

(घ) **शारदातनय**—पी० वी० काणे के अनुसार शारदातनय का समय ११७५ तथा १२५० के मध्य का है। शारदातनय के द्वारा विरचित ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लेते हुए भी अपने मौलिक विचारों का उपस्थापन किया है। भावप्रकाशन में दस अधिकार अथवा अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १. भाव, २. रसस्वरूप, ३. रसभेद, ४. नायक-नायिका, ५. नायिकाभेद, ६. शब्दार्थसम्बन्ध, ७. नाट्येतिहास, ८. दशरूपक, ९. नृत्यभेद तथा १०. नाट्यप्रयोग का वर्णन किया गया है।

(ङ) **शिङ्गभूपाल**—शारदातनय की भाँति शिङ्गभूपाल भी नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। इनका 'रसार्णवसुधाकर' नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है। इसमें तीन उल्लास हैं। ग्रन्थ की लेखनशैली सरल तथा सुन्दर है। इनका समय चतुर्दश शताब्दी का प्रारम्भ है।

(च) **रूपगोस्वामी**—रूपगोस्वामी का समय सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। ये चैतन्यमहाप्रभु के अनन्य अनुयायी थे। इनके सत्रह ग्रन्थों में 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' काव्यशास्त्र-सम्बन्धी और 'नाटकचन्द्रिका' नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'नाटकचन्द्रिका' में नाट्य-सम्बन्धी प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

(छ) **सुन्दरमिश्र**—सुन्दरमिश्र का समय सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ है। इनके नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम है—'नाट्यप्रदीप'। यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है।

इनके अतिरिक्त काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कतिपय ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें नाट्य-सम्बन्धी विवेचन किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में भोजराज के ग्रन्थ प्राचीन हैं। भोजराज ने अपने शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में रूपकसम्बन्धी तत्त्वों का निरूपण किया है। इनका समय एकादश शताब्दी है। सरस्वतीकण्ठाभरण में धनिक की वृत्ति से कतिपय पद्य लिये गये हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' भी अपने कुछ अध्यायों में नाट्य-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करता है। हेमचन्द्र द्वादश

शताब्दी के आचार्य हैं। विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (१४वीं शताब्दी) तथा विश्वनाथ कविराज (चौदहवीं शताब्दी) का साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' भी नाट्य-सम्बन्धी विवेचन पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत करता है।

(ज) धनञ्जय—प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय के पिता का नाम था 'विष्णु'। धनञ्जय मालवा के परमारवंशीय राजा मुञ्ज (वाक्पतिराज द्वितीय) की राजसभा के दमकते हुए हीरक थे। वहाँ इनकी तेजस्विता चतुर्दिक् व्याप्त थी[१]। मुञ्ज का काल ९७४-९९५ ई० माना जाता है। अतः धनञ्जय का भी यही काल निश्चित होता है।

वाक्पतिराज मुञ्ज अपने जमाने के जाने-माने योद्धा थे। युद्ध-क्षेत्र में उनका अदम्य उत्साह उनकी तलवार से भी अधिक तेज चमकता था। वीरलक्ष्मी के साथ अपनी स्वाभाविक शत्रुता का परित्याग कर सरस्वती ने भी उस योद्धा का वरण कर रक्खा था। वे आदरणीय योद्धा होने के साथ ही साथ सम्माननीय कवि भी थे। यद्यपि उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि कतिपय प्रमाणों से उनके कवि होने का प्रमाण मिलता है। धनिक ने उनका पद्य दो बार दो नामों से उद्धृत किया है[२]। मुञ्ज का उल्लेख वाक्पति, वाक्पतिराज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ आदि नामों से किया गया है। क्षेमेन्द्र ने (१०३७-१०६६) तीन पद्य उत्पलराज के नाम से उद्धृत किया है। धनञ्जय एवं धनिक के अतिरिक्त अन्य कतिपय कवि-जन भी उनकी सभा को अलङ्कृत करते थे। तिलकमञ्जरी के लेखक धनपाल उनकी विद्वत्परिषद् के सम्मानित सदस्य थे। प्रसिद्ध कोषकार हलायुध ने भी अपना अन्तिम समय उन्हीं की सभा में बिताया था। 'नवसाहसाङ्क चरित' के रचयिता पद्मगुप्त ने भी कविप्रिय मुञ्जराज का अनुग्रह प्राप्त किया था। यही कारण है कि कई विद्वानों ने उनकी काव्यरुचि एवं गुणग्राहिता की प्रशंसा की है। पद्मगुप्त ने उन्हें सरस्वतीरूपी कल्पलता का कन्द, कविबान्धव (१।७.८) तथा कवि मित्र (११।९३) कहा है। हलायुध ने पिङ्गल की टीका में उनकी अत्यन्त स्पृहणीय प्रशंसा की है। बल्लाल के भोजप्रबन्ध तथा मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि से भी उनके स्वयं कवि होने तथा कवियों को प्रोत्साहित करने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

ऐसे विद्यानुरागी महाराज मुञ्ज की सभा को सुशोभित करनेवाले धनञ्जय वस्तुतः अपने वैदग्ध्य के प्रदर्शक रहे होंगे। तभी तो उन्होंने इस बात को ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर बड़े गौरव के साथ उल्लिखित किया है।

दशरूपक का आधार—दशरूपक का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र एक विशालकाय ग्रन्थ है। नाट्य (रूप = रूपक) सम्बन्धी सामग्री उसमें

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्ध हेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥ ४।८६॥

२. धनिक ने एक स्थल पर 'प्रणयकुपिताम्' (४।५८) इत्यादि पद्य को वाक्पतिराज के नाम से तथा दूसरे स्थल पर (४।६०) मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है।

बिखरी पड़ी हुई है। उसे खोज कर सबका एक साथ तारतम्य बैठा कर, एक सूत्र में पिरोकर अर्थ निकालना सबके लिये सरल कार्य नहीं है। विद्वान् जन भले ही उसे समझ लें; किन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिये तो वह दुरूह ही है। बस, इसी दुरूहता को हटाने के लिये धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र की रूपकविषयक सारी सामग्री एकत्रित कर दशरूपक की रचना की है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धनञ्जय ने आँख मूँद कर नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया है। नाटयशास्त्र की सामग्री को प्रस्तुत करते हुए भी ग्रन्थकार ने नवीन कल्पनाएँ की हैं[१]।

ग्रन्थ के नामकरण का कारण—दशरूपक नाटयशास्त्र का एक प्रमुख ग्रन्थ है। नाट्य, रूप एवं रूपक समान अर्थ के वाचक हैं। इस ग्रन्थ में दस मुख्य रूपों य रूपकों का वर्णन है। यही कारण है कि इसे दशरूपक कहते हैं। हॉस (Haas) का कहना है कि इस ग्रन्थ का नाम ग्रन्थकार ने 'दशरूप' रक्खा था[२]। यही कारण भी है कि धनिक ने अपनी टीका का नाम 'दशरूपावलोक' रखा है। जो भी हो आज इस ग्रन्थ को 'दशरूपक' इसी नाम से सर्वत्र लिखा और कहा जाता है।

दशरूपक का वैशिष्ट्य—धनञ्जय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के नाटयशास्त्रों का भली-भाँति आलोडन कर के यथासम्भव उनकी सामग्री का उपयोग किया है, उनके मन्तव्यों का परिष्कार किया है और यथावसर आलोचना भी की है। उदाहरणार्थ दशरूपक में उद्भट के वृत्तिविषयक मत को तथा रुद्रट एवं ध्वनिकार के रसविषयक मत की आलोचना की गयी है। अनेक स्थानों पर नाटयशास्त्र में प्रयुक्त नाम, लक्षण तथा विभाजन को परिष्कृत किया गया है। नाटयशास्त्र में चार प्रकार की नायिकाएँ बतलाई गयी हैं—(१) दिव्या, (२) नृपपत्नी, (३) कुल-स्त्री तथा, (४) गणिका। किन्तु धनञ्जय के अनुसार नायिका के तीन ही भेद होते हैं—(१) स्वकीया, (२) अन्या (परकीया), तथा (३) साधारणी (वेश्या)। इसी प्रकार भरत ने शृङ्गार रस के दो भेद किये हैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ। किन्तु धनञ्जय ने शृङ्गार का अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग नाम से तीन भेद किया है। धनञ्जय ने कहीं पारिभाषिक शब्दों का परिवर्तन किया है तो कहीं लक्षण का परिष्कार प्रस्तुत किया है। अतः दशरूपक को सावधानी से देखने के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अपने पूर्वजों का ऋणी होते हुए भी अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व तथा महत्त्व रखता है। इसकी विचार-सरणि अपनी है। यही कारण है कि इतनी लम्बी यात्रा करने पर भी यह आज भी बड़ी शान के साथ अपना अस्तित्व नाटयशास्त्र की श्रेणी में ही बनाए हुए है।

---

१. व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥१–५॥
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥१–४॥

२. आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥४।८६॥

दशरूपक की अन्य टीकाएँ और धनिक का अवलोक—नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में भरत की कृति नाट्यशास्त्र के बाद दशरूपक का ही नम्बर आता है। यह ग्रन्थ आकार-प्रकार में बहुत विशाल तथा अनावश्यक बोझिल भी नहीं है। अतः ऐसी संभावना की जाती है कि इस पर निश्चय ही कतिपय टीकाएँ लिखी गयी होंगी। किन्तु आज तो नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम तथा बहुरूप मिश्र की ही टीकाएँ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर क्षोणीधर मिश्र की टीका भी थी। इनमें नृसिंह की टीका धनिक की अवलोक टीका पर है। सम्प्रति केवल धनिक की ही टीका प्रकाशित एवं उपलब्ध है। वस्तुतः अवलोक टीका के बिना दशरूपक के मर्म को समझना कठिन है। दशरूपक को साहित्य-जगत् में जो आज महत्त्व प्राप्त है, उसका बहुत कुछ श्रेय धनिक की टीका अवलोक को ही है।

धनिक का काल तथा उनकी कृतियाँ—धनिक दशरूपक की कारिकाओं के रचयिता धनञ्जय के ही लघु-बन्धु थे। प्रकाश के अन्त में दी गयी अवलोक की पुष्पिका से यह स्पष्ट है कि वे विष्णु के ही पुत्र थे[1]। किन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि कारिका-भाग तथा वृत्तिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं तथा धनञ्जय एवं धनिक एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा विद्यानाथ आदि आचार्यों ने दशरूपक की कारिकाओं को धनिक के ही नाम से उद्धृत किया है:— यदुक्तं धनिकेन 'न च्चातिरसतो·····लक्षणैः' (दश ३.३२-३३ तथा सा० द० ६.६४)। कतिपय आचार्यों के द्वारा धनिक एवं धनञ्जय की अभिन्नता मानने के निम्न कारण हैं—(१) ग्रन्थ के आरम्भ में मूल कारिकाओं के ही साथ मङ्गलाचरण किया गया है, वृत्ति के साथ नहीं। ऐसा तभी होता है जब कि मूल तथा वृत्ति—दोनों—के कर्ता एक ही हों। अन्यथा मूल की भाँति वृत्ति के आरम्भ में भी कोई न कोई मङ्गल श्लोक अवश्य होता। (२) बाद के आचार्यों ने दशरूपक की कारिकाओं को उद्धृत कर उन्हें धनिक की कृति कहा है, जैसा कि अभी विश्वनाथ और विद्यानाथ के विषय में निर्दिष्ट किया गया है। (३) अवलोक वृत्ति के बिना दशरूपक अधूरा-अधूरा-सा प्रतीत होता है। अतः वृत्ति को कारिकाओं का ही अभिन्न अङ्ग मानना चाहिए, और यह तभी हो सकता है जब कि वृत्ति एवं कारिका भाग—दोनों—का कर्ता एक ही हो।

कुछ विद्वानों के द्वारा धनिक एवं धनञ्जय की अभिन्नता की वकालत करने के बावजूद अधिकांश विद्वान् इन दोनों को पूर्णतया भिन्न व्यक्ति मानते हैं। अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए उनका कहना है कि—(१) कारिका तथा वृत्ति में कई स्थलों पर मत-भेद दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ २.२२ में 'सुखार्थ' शब्द के अर्थ

---

१. "इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः"॥

के विषय में धनिक ने दो सम्भावनाएँ प्रदर्शित की हैं—'अप्रयासावाप्तधनः' अथवा 'सुखप्रयोजनः'। किन्तु वहाँ कोई एक निर्णीत अर्थ नहीं दिया है। इससे प्रतीत होता है कि कारिका तथा वृत्ति के कर्ता भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार ३.३६ में 'त्याज्यम् आवश्यकं न च' ग्रन्थकार का आशय यह प्रतीत होता है कि 'जो कथावस्तु के विकास में आवश्यक हो उसका परित्याग न होने पाये'; किन्तु वृत्तिकार धनिक ने इसका अर्थ किया है कि—'आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्यात्'। यहाँ यह अर्थ कुछ खींच-तान कर लिया गया-सा प्रतीत होता है। (२) तमाम हस्तलिखित प्रतियों के मूल कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग में क्रमशः यह लिखा हुआ मिलता है—'धनञ्जयेन' 'आविष्कृतम्' 'दशरूपमेतत्'। तथा 'धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके'। इससे प्रतीत होता है कि दशरूपककार धनञ्जय तथा अवलोकवृत्ति के रचयिता धनिक सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। हाँ, यह बात अवश्य दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि धनिक ने स्वयं अपने बड़े भाई धनञ्जय की इन कारिकाओं के निर्माण में योगदान किया होगा अथवा स्वयं ग्रन्थकार के मुख से ही उनकी आद्योपान्त व्याख्या सुनी होगी, तभी तो उन्होने इन पर साधिकार वृत्ति लिखा है।

धनिक की जीवनी के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। हॉल ने दशरूपक की भूमिका में लिखा है कि अवलोक की एक हस्तलिपि से यह प्रतीत होता है कि वृत्तिकार धनिक उत्पलराज के यहाँ एक आफिसर थे। बुहूलर (उदयपुर, प्रशस्ति) का कथन है कि धनिक उत्पलराज के 'महासाध्यपाल' थे। मुञ्जराज को ही उत्पलराज कहा जाता था। जैसा पीछे बतलाया जा चुका है कि मुञ्जराज का शासन ९९४ तक रहा। दूसरी ओर धनिक ने पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित का एक पद्य (उदा० १६५) उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्कचरित की रचना सिन्धुराज के समय में हुई थी। सिन्धुराज मुञ्ज के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ था। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर यह बात निश्चित की जा सकती है कि यद्यपि धनिक अपने बड़े भाई धनञ्जय के साथ ही मुञ्ज की सभा को आलोकित करते थे; किन्तु उन्होंने अवलोक की रचना सिन्धुराज के समय में की थी। जिस समय अवलोक वृत्ति की रचना समाप्त हुई उसके कुछ ही वर्षों पूर्व महाराज मुञ्ज इस धराधाम से उठ चुके थे। अतः धनिक का काल दशम शताब्दी के उत्तरार्ध का अन्तिम चरण तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ मानने में किसी को आपत्ति न होगी।

धनिक की विद्वत्ता स्पृहणीय है। अवलोक में सर्वत्र उनका वैदुष्य समानरूप से प्रस्फुटित होता चलता है। साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा मीमांसा के तो वे अगाध पण्डित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः अवलोक के अपूर्व पाण्डित्य-मण्डन के बिना दशरूपक अधूरा ग्रन्थ प्रतीत होता है, जिसकी पूर्ति वर्तमानरूप में किसी अन्य आचार्य से नहीं की जा सकती थी। धनिक का पाण्डित्य विशेषतः चतुर्थ प्रकाश में शान्तरस की योजना, रसों के विरोध तथा अविरोध एवं काव्य के रस-भाव आदि के साथ सम्बन्ध के विषय में प्रकट होता है। अपनी टीका में धनिक के ३०० से अधिक उद्धरणों में

से २४ उद्धरण स्वयं धनिक के स्वरचित हैं, जिनमें चार प्राकृत के हैं। इससे ज्ञात होता है धनिक संस्कृत तथा प्राकृत के बहुत ही अच्छे कवि थे। इन्होंने एक 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जिसके सात पद्य अवलोक टीका में उद्धृत किये गये हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश आज यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

३. दशरूपक के प्रतिपाद्य-विषय का संक्षिप्त अवलोकन

प्रथम प्रकाश—इसमें चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में अपने अभीष्ट देवों तथा आचार्य भरतमुनि की वन्दना कर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ-रचना में प्रवृत्ति, रचना का उद्देश्य तथा नाट्य एवं काव्य का उद्देश्य बतलाया है। यहीं पर भामह के रूपकविषयक मन्तव्य की हँसी लेते हुए मुख्यतः आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया है। फिर नाट्य (रूप-रूपक) का लक्षण कर उसका नृत्य तथा नृत्त से भेद बतलाया गया है। इसके साथ ही रूपक के नाटक, प्रकरण आदि दस भेदों का उल्लेख करके रूपकों के भेदक तत्त्वों—वस्तु, नेता तथा रस—का निर्देश किया गया है। यहाँ तक के अंश को ग्रन्थ की प्रस्तावना कहा जा सकता है।

प्रथम प्रकाश का मुख्यतया वर्णनीय विषय है रूपक की कथा-वस्तु। कथा-वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक कथा-वस्तु तथा (२) प्रासङ्गिक कथा-वस्तु। रूपक में आदि से लेकर अन्त तक चलने वाली कथा-वस्तु को आधिकारिक तथा उस (मुख्य कथा-वस्तु) की पूर्ति के लिये आई सहायक कथा-वस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं। प्रासङ्गिक कथा-वस्तु दो प्रकार की होती है—(क) पताका और (ख) प्रकरी। (क) प्रधान या आधिकारिक कथा-वस्तु का दूर तक साथ देने वाली प्रासङ्गिक कथा पताका कहलाती है; जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव की कथा है। (ख) प्रधान कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलनेवाली कथा प्रकरी कहलाती है; जैसे रामायण की कथा में शबरी या जटायु की कथा। पताका के सदृश ही नाम को धारण करनेवाले पताकास्थानक की भी धनञ्जय ने परिभाषा दे दी है। जहाँ समान विशेषणों के माध्यम से आगे आनेवाले प्रस्तुत अर्थ की सूचना दी जाती है वहाँ पताकास्थानक होता है। ये आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दोनों कथाएँ भी त्रिधा होती हैं—(१) प्रख्यात, उत्पाद्य (कविकल्पित), तथा मिश्रित। प्रासङ्गिक कथाएँ मुख्यकथा के विकास में सहायक हुआ करती हैं।

कथा-वस्तु और अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ तथा सन्धियाँ

नाटक आदि में प्रधान कथावस्तु के नायक का कोई-न-कोई लक्ष्य होता है, उसे ही फल कहते हैं। उस फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ हैं। ये अर्थ-प्रकृतियाँ संख्या में पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी, तथा (५) कार्य।

फल-प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया जो नायक का व्यापार (= कार्य) है, उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ कहलाती हैं। ये अवस्थाएँ भी संख्या में पाँच ही हैं—(क) आरम्भ, (ख) यत्न, (ग) प्राप्त्याशा, (घ) नियताप्ति, तथा (ङ) फलागम।

दशरूपक तथा साहित्यदर्पण आदि के अनुसार अर्थप्रकृतियों का कार्यावस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सन्धियों का उद्भव होता है। ये सन्धियाँ भी संख्या में पाँच ही हैं—(अ) मुख, (आ) प्रतिमुख, (इ) गर्भ, (उ) अवमर्श, तथा (ऊ) उपसंहार। संधि का अर्थ है—मुख्यकथावस्तु के विभाग, जो अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के आधार पर किये जाते हैं। नाट्यशास्त्र (१९.५) के अनुसार समूची कथावस्तु का विभाजन पाँच सन्धियों के आधार पर किया जाता है। इस विभाजन के अनुसार कथावस्तु को लेकर आगे बढ़ने पर सुसम्बद्धता तथा सुव्यस्थितता आती है। सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित वस्तु ही रोचक हुआ करती है। पर इतना सब होते हुए भी धनञ्जय का सन्धि-लक्षण कुछ दूषित-सा प्रतीत होता है। सन्धि की परिभाषा का भाव कुछ उलझा हुआ-सा है।

द्वितीय प्रकाश—द्वितीय प्रकाश में रूपकों के दूसरे भेदक तत्त्व नायक (नेता) का विवेचन किया गया है। आरम्भ में नायक के सामान्य गुणों का वर्णन करके फिर उसके चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत—और उनके लक्षण बतलाये गये हैं। इसके बाद पताकानायक—पीठमर्द तथा नायक के अन्य सहचरों का वर्णन है। यहाँ कञ्चुकी का उल्लेख नहीं किया गया है। रूपक में नायक के चरित्र को चमकाने के लिए प्रतिनायक की योजना की जाती है, अतः उसके स्वरूप का भी निरूपण किया गया है।

नायक के साथ ही, उसकी सहचरी होने के कारण, इसी प्रकाश में नायिकाओं का भी वर्णन किया गया है। नायिका सामान्यतया नायक के ही गुणों से विभूषित हुआ करती है। नायिका के तीन भेद होते हैं—स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री (अर्थात् वेश्या)। पुनः स्वकीया के तीन भेद बतलाये गये हैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा। नायिका की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएँ भी होती हैं। नायक के समान ही नायिका की भी सहायिकायें हुआ करती हैं। नायिका के प्रसङ्ग में युवतियों के बीस सात्त्विक अलङ्कारों का भी वर्णन किया गया है। इसके बाद सात्त्वती, भारती, कैशिकी तथा आरभटी आदि चार नाट्य-वृत्तियों का वर्णन है।

तृतीय प्रकाश—इसी प्रकाश में नाटक, प्रकरण आदि दशरूपकों का वर्णन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में नाटक और प्रकरण के सङ्कीर्णरूप नाटिका का भी निरूपण किया गया है। दशरूपक के अनुसार प्रकरणिका को नाटिका से भिन्न नहीं माना जाता है (३.४३-४५)। तृतीय प्रकाश में ही प्रस्तावना के तीन प्रकारों—कथोद्घात, प्रवृत्तक तथा अवगलित का भी विवेचन है। इसके बाद तेरह वीथ्यङ्गों का विवेचन है।

चतुर्थ प्रकाश—यदि प्रथम तीन प्रकाशों में रूपक के बाह्यस्वरूप का निरूपण है तो चतुर्थ प्रकाश में उसके आत्म-तत्त्व की सयुक्तिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। रस के विषय में दशरूपककार की कुछ निजी कल्पनाएँ हैं। चतुर्थ प्रकाश की प्रथम कारिका में ही यह बतलाया गया है कि विभाव, अनुभाव-सात्त्विक भाव तथा व्यभि-

चारी भावों के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है (४।१)। रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक को होता है, अनुकार्य राम आदि को नहीं। हाँ, अनुकर्ता को भी रसानुभूति हो सकती है यदि उसका अन्तःकरण रसास्वादन की क्षमता रखता हो तो। (४.३८-४२)। इसी प्रकाश में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के स्वरूप तथा प्रकार का भी विवेचन किया गया है (४.२-३३)। पुनः स्थायी-भाव के लक्षण के प्रसंग में अवलोककार धनिक ने रसों के परस्पर विरोध-अविरोध का निरूपण किया है। किन्तु यह निरूपण बाद के आलङ्कारिकों के निरूपण की भाँति साफ-सुथरा नहीं है।

शान्तरस—दशरूपक में आठ स्थायी भाव माने गये हैं। शम नामक स्थायी भाव की पुष्टि रूपक में सम्भव नहीं है। अतः रूपकों में शान्तरस होता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि शान्तरस अभिनय के अनुकूल होता ही नहीं है। शान्तरस निवृत्तिप्रधान है। शान्तरस धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्तिधर्मों से विपरीत निवृत्तिधर्म-प्रधान और मोक्ष फलवाला माना गया है। अभिनय में प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। निवृत्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता है। अतः अभिनय के उपयोगी न होने के कारण अभिनयप्रधान नाट्य में शान्तरस को स्थान नहीं दिया जाता है। इसकी चर्चा करते हुए अवलोककार धनिक ने कुछ विस्तार के साथ इस प्रकार विवेचन किया है—

'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥'

इसके आगे भी शान्तरस के विषय में ऊहापोह किया गया है। इन सबका अभिप्राय यह है कि शान्तरस को रस अथवा उसके स्थायीभाव शम को स्थायिभाव मानने में कई प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनि ने उसके अनुभाव आदि का वर्णन नहीं किया है तथा उसका लक्षण भी नहीं किया है, अतः शान्तरस नहीं है। दूसरा मत यह है कि वस्तुतः शान्तरस बन ही नहीं सकता है। क्योंकि अनादिकाल से चले आये राग-द्वेष के संस्कारों का सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्वेदरूप स्थायिभाव तथा शान्तरस का उपपादन नहीं किया जा सकता है। तीसरे प्रकार के विचारकों का मत है कि वीर, बीभत्स आदि रसों में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन तीन मतों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि इनमें कोई भी मत ठीक हो, हमें उसका विचार नहीं करना है। हमारा कहना तो यह है कि नाट्य में शम को स्थायीभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि समस्त व्यापारों के निवृत्तिरूप शम का अभिनय नहीं किया जा सकता है; अतः अभिनय-प्रधान नाट्य में शान्तरस को स्थान नहीं दिया जा सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि रूपक में शान्तरस का अभिनय नहीं हो सकता है, तो शान्तरसप्रधान 'नागानन्द' आदि नाटकों की रचना कैसे हुई ? इसका उत्तर धनिक ने यह दिया है कि 'नागानन्द' में शान्तरस मानना समीचीन नहीं है। क्योंकि उसमें मलयवती के प्रति नायक का अनुराग वर्णन सारे नाटक में पाया जाता है और अन्त में उसके विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने का अवसर प्राप्त होता है। अतः 'नागानन्द' का प्रधान रस शान्तरस नहीं है। अपितु दयावीर का उत्साह उसका स्थायीभाव है। और वीररस की उसमें प्रधानता है। वीररस केवल युद्धप्रधान ही नहीं है, उसका स्थायी भाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्ध के लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्म के प्रति भी हो सकता है। इसलिए 'नागानन्द' में दया-वीर प्रधान रस है, शान्तरस नहीं। किन्तु 'दशरूपक' के इस सारे विवेचन से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि नाट्य में शान्तरस की उपयोगिता नहीं है। उसमें शान्त-रस का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता है।

नाट्य में शान्तरस का निषेध कर लेने पर दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश की वृत्ति में पर्याप्त विस्तार के साथ यह दिखलाया गया है कि रस भाव आदि और काव्य का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु भाव्य-भावक सम्बन्ध है। रस आदि भाव्य हैं तथा काव्य भावक (४-३७ पर अवलोक टीका)।

यहीं पर रस-प्रक्रिया भी प्रदर्शित की गयी है (४।४०-४२)। धनञ्जय एवं धनिक यह मानते हैं कि काव्यार्थ से होने वाली आत्मानन्द की अनुभूति ही रस है। आनन्द की यह अनुभूति सभी रसों में एक समान हुआ करती है। धनिक ने स्पष्टतः यह बत-लाया है कि सभी रस आनन्दात्मक होते हैं। करुण आदि रसों में भी सुख-दुःखात्मक एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। वे यह मानते हैं कि काव्यार्थ से भावित करुण आदि रस लौकिक रस से भिन्न हुआ करते हैं। (४।४३-४५)। अन्त में श्रृङ्गार आदि आठ रसों के लक्षण, भेद तथा उदाहरण दिखलाकर ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर धनञ्जय ने अपना संक्षिप्त परिचय देकर लेखनी को विश्राम दिया है।

४. रस-सिद्धान्त पर अन्य आचार्यों के विचार तथा दशरूपक का मन्तव्य

आचार्य भरत—रस की निष्पत्ति का सबसे प्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। वही सभी रस-सिद्धान्तों की आधार-शिला है। भरतमुनि के रस-सूत्र की व्याख्या में ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी है। इसके परिणाम-स्वरूप—१. उत्पत्तिवाद, २. अनुमितिवाद, ३. भुक्तिवाद और ४. अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् 'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है' इस भरत-सूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके भी चार अर्थ होते हैं।

भट्टलोल्लट के मत में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति', शङ्कुक के मत में 'अनुमिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' और अभिनव गुप्त के मत में अभिव्यक्ति होता है।

आचार्य भरत के उक्त रस-सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्या उनके टीकाकारों ने की है, जिनमें १. भट्टलोल्लट, २. शङ्कुक, ३. भट्टनायक तथा ४. अभिनव गुप्त प्रधान व्याख्याकार हैं। इन चारों आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उद्धृत की है। इन चारों आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या अभिनव गुप्त-रचित भरतनाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका से ली गयी है। अभिनव भारती में यह सब प्रकरण बड़ा लम्बा और कठिन है। काव्यप्रकाशकार ने उसका तत्त्व अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया है। यहाँ इन आचार्यों के मतों का विवरण काव्यप्रकाश के आधार पर दिया जा रहा है।

१. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—भरत-सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के माननेवाले हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्यरूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करानेवाले होते हैं और व्यभिचारी भाव उत्पन्न हुए उस रस के पोषक हुआ करते हैं। अतः स्थायिभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक-भाव, अनुभावों का गम्य-गमक-भाव और व्यभिचारियों का पोष्य-पोषक-भाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरतसूत्र में जो 'संयोग' शब्द आया है भट्टलोल्लट के मत में उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकसम्बन्ध अनुभावों के साथ गम्य-गमक-भावसम्बन्ध तथा व्यभिचारि भावों के साथ पोष्य-पोषकभावरूप सम्बन्ध 'संयोग' शब्द का अर्थ होता है। इसी प्रकार सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ समझना चाहिए। विभाव के साथ स्थायिभाव का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भावसम्बन्ध होनेपर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् उत्पत्ति होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति होता है। अनुभावों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् प्रतीति होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'प्रतीति' होता है। व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् पुष्टि होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ पुष्टि होता है।

इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा (अर्थात् वेदान्त) के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। वेदान्त में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति आध्यासिक या आरोपित होती है। इसी प्रकार अभिनय के समय रामादि में रहनेवाली सीता आदि विषयक अनुराग आदि रूपा रति के विद्यमान न रहने पर भी नट में विद्यमानरूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तरमीमांसा' या वेदान्त का अनुसर्ता सिद्धान्त कहा जाता है। इस व्याख्या के कर्ता भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्टलोल्लट के मत की न्यूनता—भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें प्रधानरूप से अनुकार्य तथा गौड़ रूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है, किन्तु सामाजिक (अर्थात् सहृदय द्रष्टा) को रसानुभूति क्यों होती है, इस समस्या पर एकदम ध्यान दिया ही नहीं गया है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता-राम तथा दुष्यन्त-शकुन्तला आदि तो अब इस भूतल पर हैं नहीं। अतः सम्प्रति किये जानेवाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति की बात कैसे बन सकती है? अतः उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। मुख्यतया इस व्याख्या के ये दो दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या आगे आने वाले आचार्यों का मनस्तोष न कर सकी।

शङ्कुक का अनुमितिवाद

इसलिए न्याय-सिद्धान्त के अनुयायी भरतसूत्र के दूसरे व्याख्याकार शङ्कुक ने इस सूत्र की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से की है। अपनी व्याख्या में शङ्कुक ने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिमरूप से अनुभाव आदि का प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता-सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक, नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी, उसमें रस का अनुमान कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है।

शङ्कुक के मत की न्यूनता—श्री शङ्कुक ने सामाजिक में रसप्रतीति का उपपादन करने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु वह पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक नहीं हुआ है। उनकी प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ कृत्रिम स्थायिभाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम राम-सीतादि-विषयक रति का अनुमान होता है। परन्तु उससे सामाजिक की रसानुभूति की समस्या का समाधान होता नहीं है। सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है, इसका उपपादन करना चाहिए। रसानुभव में इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का उपपादन अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अनुमान से होनेवाला ज्ञान परोक्ष है, साक्षात्कारात्मक नहीं। फिर वह अनुमिति भी कैसी, जिसमें सब कुछ कृत्रिम है। इसलिए अनुमितिवाद के आधार पर रसास्वादन का ठीक तरह से उपपादन नहीं किया जा सकता है। यही अनुमिति का सबसे बड़ा दोष है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—भरतमुनि-सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक ने सामाजिक को होनेवाली साक्षात्कारात्मक रसानुभूति के उपपादन के लिए एक नये ही मार्ग का अवलम्बन किया है। उसे साहित्यशास्त्र में 'भुक्तिवाद' नाम से कहा जाता है। उसका आशय यह है कि रस की 'निष्पत्ति' न अनुकार्य राम आदि में होती है और न अनुकर्ता नट आदि में। अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों ही तटस्थ हैं, उदासीन हैं।

उनको रसानुभूति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभूति सामाजिक को होती है। इसका उपपादन अन्य किसी व्याख्याकार ने नहीं किया है। भट्टलोल्लट ने मुख्यरूप से 'तटस्थ' राम आदि में और गौणरूप से 'तटस्थ' नट में रस की 'उत्पत्ति' मानी है। पर इसमें सामाजिक का स्थान कहीं नहीं आया है। अतः यह मत समीचीन नहीं है। श्री शङ्कुक ने रस की अनुमिति मानी है। परन्तु अनुमिति परोक्ष ज्ञानरूप होती है। अतः यह मत भी ठीक नहीं है। इन्हीं कमियों के कारण अपने पूर्वाचार्यों के मतों का खण्डन कर भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' की स्थापना की है और उसी को रसानुभूति की समस्या का सर्वाधिक सुन्दर समाधान माना है।

भट्टनायक ने अपने 'भुक्तिवाद' की स्थापना करने के लिए शब्द में स्वीकृत अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणा से काव्य का जो अर्थ उपस्थित होता है, उसको शब्द का 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है। काव्य से जो अर्थ अभिधा के द्वारा उपस्थित होता है वह एक विशेष नायक और विशेष नायिका की प्रेमकथा आदि के रूप में व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध होता है। इस रूप में सामाजिक के लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है। शब्द का 'भावकत्व' व्यापार इस कथा में परिष्कार कर उसमें से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध को हटा कर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। उस 'साधारणीकरण' के बाद सामाजिक का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि या संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का स्वयं एक पात्र बन जाता है। इस प्रकार असली नायक-नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा सामाजिक को लगभग वही स्थान मिल जाता है। यह शब्द के 'भावकत्व' नामक दूसरे व्यापार का प्रभाव है।

भट्टनायक के अनुसार इस 'भावकत्व' व्यापार से काव्यार्थ का 'साधारणीकरण' हो जाता है तब शब्द का 'भोजकत्व' नामक तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है। यही भट्टनायक का 'भोजकत्व' सिद्धान्त है, जो भुक्तिवाद कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायक ने शब्द में अभिधा, लक्षणा आदि के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारों की कल्पना कर सामाजिक की रसानुभूति का उपपादन करने का प्रयत्न किया है।

भट्टनायक के मत की न्यूनता—भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया के द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन का अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है, वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं। जिस स्थायी भाव का भोग बतलाया है वह राम-सीतादिगत स्थायी भाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्यरूप से अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापार पर आश्रित होने से भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' विद्वानों के बीच आदर न प्राप्त कर सका।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—इसलिए भरतनाट्यशास्त्र के चतुर्थ किन्तु सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तरमीमांसा के, श्रीशङ्कुक ने न्याय के और भट्टनायक ने सांख्य के आधार पर अपने-अपने मतों की स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है। अतः उनका मत आलङ्कारिक मत कहा जाता है। उन्होंने स्पष्टरूप से सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है। उसमें पहली बात तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है। मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्काररूप में रति आदि स्थायिभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है। वह साधारणीकृतरूप से उपस्थित विभावादि सामग्री से अभिव्यक्त या उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्दरूप में अनुभूत होता है। इस मत में भट्टनायक के समान शब्द में भावकत्व तथा 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारों की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु 'भावकत्व' व्यापार के स्थान पर 'साधारणीकरण' व्यापार, अभिधा तथा लक्षणा के साथ शब्द की 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति अवश्य मानी गयी है।[1]

दशरूपक का रसविषयक विचार—दशरूपक के अनुसार रस की अनुभूति सामाजिक को होती है। सामाजिक के चित्त में रस आदि भाव पहले से ही विद्यमान रहते हैं। जब काव्य के द्वारा विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों की उपस्थिति करायी जाती है तब उनके द्वारा रसिक के चित्त में स्थित रति आदि भाव पुष्ट (अर्थात् आस्वादन योग्य) हो जाता है। आस्वाद्यमान यही रति आदि भाव रस है, जो कि विशेष प्रकार की आत्मानन्द की अनुभूति ही है।

काव्य-नाट्य से रस की अनुभूति के विषय में दशरूपक का मन्तव्य है कि काव्य के शब्दों के वाच्य जो नायक आदि हैं उनका शब्दों के द्वारा विशेषरूप उपस्थित न होकर एक सामान्य रूप उपस्थित होता है। कहने का भाव यह है कि वे राम और सीता के रूप में न प्रतीत होकर एक नायक तथा एक नायिका के रूप में प्रतीत होते हैं। शब्दों के माध्यम से उपस्थित किया गया उनका यह रूप रसिकों (सामाजिकों) के चित्त में प्रत्यक्ष-सा स्फुरित होने लगता है। इस प्रकार काव्य के अतिशयोक्ति रूप व्यापार द्वारा विशिष्ट रूप धारण कर लौकिक प्रमदा आदि काव्य-नाट्य में विभाव आदि कहलाने लगते हैं। वस्तुतः सहृदयों के हृदय में स्फुरित यह प्रमदा आदि का रूप ही आलम्बन विभाव आदि हुआ करता है, न कि कोई बाह्य प्रमदा आदि। बाह्य

१. इन चारों आचार्यों के मत का संक्षेप काव्यप्रकाश की, आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। यदि विस्तार देखना चाहें तो वहीं देखें।

सीता आदि की आलम्बन विभाव आदि के रूप में अपेक्षा नहीं हुआ करती (४।२ अवलोक)।

सामाजिक (सहृदय) यह जानता है कि विशेष प्रकार के भाव तथा चेष्टाएँ रति आदि भाव के बिना नहीं हुआ करतीं। इसीलिए विभाव आदि के बोध से लक्षणा द्वारा रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति हो जाया करती है। रति आदि भाव या शृङ्गारादि रस व्यञ्जना के विषय नहीं हुआ करते हैं।

धनञ्जय ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में—'वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया। वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः॥' यह कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्य में कहीं वाच्या अर्थात् श्रूयमाण और कहीं 'द्वारं द्वारं' आदि अश्रूयमाण क्रिया वाले वाक्यों में प्रकरणादिवश बुद्धिस्थ क्रिया ही अन्य कारकों से सम्बद्ध होकर वाक्यार्थरूप में प्रतीत होती है। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि के साथ मिल कर रत्यादि स्थायी भाव ही वाक्यार्थरूप से प्रतीत होता है। विभाव आदि पदार्थ स्थानीय और तत्संसृष्ट रत्यादि वाक्यार्थ स्थानीय हैं। अर्थात् पदार्थ-संसर्ग-बोध के समान तात्पर्यशक्ति से ही उनका बोध हो जाया करता है। इसी कारिका की व्याख्या में वृत्तिकार धनिक ने लिखा है—

"तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि॥ १॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते॥ २॥
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्॥ ३॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥ ४॥

इन कारिकाओं का भाव यह है कि तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह कोई नपा-तुला पदार्थ नहीं है कि इससे अधिक नहीं हो सकता। वह तो यावत्कार्यप्रसारी है। जहाँ जैसी और जितनी आवश्यकता है। वहाँ तक तात्पर्य का व्यापार हो सकता है। ध्वनिवादी ने प्रथम कक्षा में वाच्यार्थ, द्वितीय कक्षा में तात्पर्यार्थ, तृतीय कक्षा में लक्ष्यार्थ और चतुर्थ कक्षा में व्यङ्ग्यार्थ को रक्खा है। परन्तु इस कक्षा-विभाग से तात्पर्य-शक्ति कुण्ठित नहीं होती। उस चतुर्थ कक्षानिविष्ट अर्थ तक तात्पर्य की पहुँच हो सकती है। इसलिये चतुर्थ कक्षानिविष्ट व्यंग्य अर्थ भी तात्पर्य की सीमा में ही है, उससे बाहर नहीं। धनञ्जय और धनिक के व्यञ्जना-विरोधी मत का यही सारांश है।

५. उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्र पर दशरूपक का प्रभाव

दशरूपक भारत के नाट्यशास्त्र का आश्रय लेकर लिखा गया स्वतन्त्र ग्रन्थ है। स्वतन्त्र इसलिये कि यह भरत का अन्धानुकरण नहीं है। ग्रन्थ में ऐसे बहुत-से स्थल हैं

जहाँ दशरूपककार की मौलिक उद्भावनाएँ स्वतः परिलक्षित होती हैं। नाट्य में शान्त-रस का निषेध, व्यञ्जना का बहिष्कार तथा रसानुभूति का प्रकार—यह सब दशरूपक के अपने स्वविचारित सर्वजनविदित सिद्धान्त हैं। दशरूपक के तर्कों एवं तथ्यों से कोई सहमत हो या न हो किन्तु वह उ के महत्त्व को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता है। उत्तरकालभावी कतिपय आचार्यों ने यत्र-तत्र दशरूपक के विचारों की आलोचना अवश्य की है। पर उनके ग्रन्थों को जरा सूक्ष्मता के साथ झाँकने से विदित होता है कि उनका ग्रन्थ, उनके जाने या अनजाने, दशरूपक से पर्याप्त प्रभावित हुआ है। भावप्रकाशन में दशरूपक का बहुल प्रभाव परिलक्षित होता है। नाट्य-दर्पण तो यद्यपि दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में लिखा गया ग्रन्थ है, अतः दशरूपक की आलोचना में ग्रन्थकार ने कोई कसर उठा नहीं रक्खी है। किन्तु सत्य तो यह है कि नाट्यदर्पण का अधिकांश दशरूपक से प्रभावित है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में दशरूपक का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है। साहित्यदर्पण का षष्ठ परिच्छेद तो दशरूपक के ऋण से खचाखच भरा है। भानुदत्त की रसतरङ्गिणी भी दशरूपक से प्रभावित प्रतीत होती है। लौकिक रस और अलौकिक रसविषयक विचार भानुदत्त ने संभवतः दशरूपक से उधार लिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती आचार्यों ने, जाने या अनजाने, दश-रूपक के सिद्धान्तों की जहाँ एक ओर आलोचना की है, वहीं दूसरी ओर इसके सिद्धान्तों को आत्मसात् भी कम नहीं किया है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र पर भरत के ग्रन्थ 'नाट्य-शास्त्र' के बाद यदि कोई ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वशाली तथा सर्वजनप्रिय है तो वह है धनञ्जय तथा धनिक का अपूर्व ग्रन्थरत्न 'दशरूपक'।

॥ शम् ॥

धनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोक टीकया समेतं
भावसंवलितया भूमिकया
संस्कृतटिप्पण्या राष्ट्रभाषाव्याख्यया
च सनाथीकृतम्

अथ

* श्रीधनञ्जयविरचितं *

दशरूपकम्

धनिककृतावलोकसहितं संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासमन्वितं च

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमत-देवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १ ॥

---

* श्रीगणेशाय नमः *

प्राचीन भारतीय परिपाटी के अनुसार विघ्नों के विनाश तथा उससे होने वाली ग्रन्थ की समाप्ति के लिए ग्रन्थकार धनञ्जय ने दो श्लोकों से अपने इष्ट देव गणेश एवं विष्णु को नमस्कार करते हुए मङ्गलाचरण किया है। वृत्तिकार धनिक ने अपना अलग से मङ्गलाचरण नहीं किया है। कदाचित् वे दशरूपककार के मङ्गल की व्याख्या में ही अपना मङ्गल समझ लेते हैं।

दशरूपक के इस प्रथम प्रकाश में मङ्गल से आरम्भ करके ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक का लक्षण तथा रूपकों के परस्पर भेदक-तत्त्वों (कथा-वस्तु, नेता एवं रस) का विवेचन किया गया है।

(परम्परा से चले आते हुए) शिष्टों के आचार को प्रमाण मानते हुए (इस) प्रकरण-ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए यहाँ (ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थ-कार के द्वारा) दो श्लोकों से इष्ट एवं प्रकृत (ग्रन्थ) के अनुरूप दो देवताओं को नमस्कार किया जा रहा है—

उन गणेश को नमस्कार है, जिनका मद की परिपूर्णता (आभोग) के कारण गम्भीर ध्वनिवाला कण्ठ शङ्कर के उद्धत नृत्य में मृदङ्ग का काम करता है ॥ १ ॥

टिप्पणी—प्रमाणयद्भिः = मानयद्भिः, **प्रकृताभिमतयोः**—प्रकृतस्य = प्रकृतग्रन्थस्येत्यर्थः, प्रकृते = प्रकृतग्रन्थसन्दर्भे नाट्यप्रसङ्गे वेति यावत्, अभिमते = अभिप्रेते, देवते = देवौ तयोः, नमस्कारः = प्रणतिः ॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते = मृदङ्गवदाचरति; मदाभोगेन घनध्वानः = निविड-ध्वनिः, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नमः। अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः—नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघ-ध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीतेः।

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ २ ॥

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य

विशेष—'नीलकण्ठ' शब्द का अर्थ 'मयूर' भी होता है। मयूरपक्ष के अर्थ करने पर 'मदाभोगघनध्वानः' पद में प्रयुक्त 'घनध्वानः' इस खण्ड का अर्थ 'मेघ की ध्वनि' किया जा सकता है। यहाँ पद के एक अंश का दो अर्थ निकलने के कारण खण्ड-श्लेष अलङ्कार के द्वारा शिव-गणेश तथा मयूर एवं मेघ में परस्पर उपमेय तथा उपमान भाव की झलक देखी जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मयूर के नृत्य के समय मेघ की गड़गड़ाहट मृदङ्ग के समान प्रतीत होती है, उसी तरह शिव के उद्धत नृत्य के समय गणेश की गम्भीर कण्ठ-ध्वनि भी प्रतीत होती है। इसी भाव को वृत्तिकार अपनी वृत्ति में आगे समझा रहे हैं—

जिस (गणेश) का कण्ठ पुष्कर (= मृदङ्ग) के समान आचरण करता है (अर्थात् मृदङ्ग के समान प्रतीत होता है), क्योंकि वह मद की अभिवृद्धि (परि-पूर्णता, आभोग) से गम्भीर अर्थात् निविड ध्वनि करनेवाला है। (कब और कहाँ ?—इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—) नीलकण्ठ अर्थात् शिव के ताण्डव (उद्धत नृत्य) में, उन गणेश को नमस्कार है। यहाँ खण्डश्लेष के द्वारा आक्षिप्त उपमालङ्कार की झलक प्रतीत होती है, (क्योंकि) नीलकण्ठ अर्थात् (नीले कण्ठवाले) मयूर के ताण्डव-नृत्य में हाथी के सूँड़ के मुखवाले गणेश की कण्ठध्वनि मृदङ्ग का आचरण कर रही है—यह प्रतीति हो रही है ॥ १ ॥

(१) जिसके (मत्स्य, कूर्म आदि) दश रूपों की प्रतिमाओं से अथवा (रामलीला तथा रासलीला आदि में) दशरूपों के अनुकरण से भक्त-जन (ध्यान करने वाले व्यक्ति) प्रसन्नता से गद्गद हो उठते हैं, उन सर्वज्ञ विष्णु को तथा (२) जिसके (द्वारा विभक्त,) दश (प्रकार के) नाटकों के अभिनय के द्वारा रसिक-जन प्रसन्न होते हैं उन (दश प्रकार के रूपकों के) सर्वज्ञ (आचार्य) भरत को भी, नमस्कार है ॥ २ ॥

एक पक्ष में (अर्थात् विष्णु के पक्ष में) मत्स्य, कूर्म आदि (अवतारों

टिप्पणी—मदाभोगघनध्वानः—मदस्य = इभदानस्य, अत्र गजमुखत्वादिभदानत्वं ज्ञेयम्, हर्षस्य वा, अत्र पितुस्ताण्डवदर्शनेन हर्षत्वं ज्ञेयम्, ('मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः' इति मेदिनी), आभोगः = परिपूर्णता ('आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः) तेन घनम् = निविडं, ध्वानम् = ध्वनिः यस्य सः, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, पक्षे मयूरस्यापि ॥ १ ॥

भावकाः = ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति = हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥ ३ ॥

तं कञ्चिद्विषयं = प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति येन = प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।

की) मूर्तियों अथवा निर्मित आकृतियों को लक्ष्य करके, दूसरे पक्ष में (अर्थात् भरत के पक्ष में) अनुकरण रूप नाटक आदि (रूपकों) के द्वारा जिसके भावक (ध्यान-कर्ता भक्त तथा रसिक) मत्त हो उठते हैं (अर्थात् आनन्दविभोर हो जाते हैं) उन विष्णु को तथा प्रकरण-प्राप्त भरत को नमस्कार है ॥ २ ॥

(इस ग्रन्थ को पढ़ने के लिए) श्रोता (पाठक) की प्रवृत्ति का प्रयोजन दिखलाया जा रहा है—

सरस्वती कृपा करके कभी-कभी ही किसी विद्वान् को किसी (ऐसे) विषय से संयुक्त करती है, (अर्थात् सरस्वती की कृपा से कभी कोई विद्वान् या कवि ऐसे नाटक आदि ग्रन्थ का निर्माण करता है), जिससे (पढ़नेवाला) दूसरा व्यक्ति निपुणता (व्यवहार-निपुणता) को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

उस प्रकरण आदिरूप (नाटकादि रूप) विषय से कभी-कभी किसी-किसी ही कवि को सरस्वती संयुक्त करती है, जिस प्रकरण आदि विषय से (उसे पढ़ने-वाला) दूसरा व्यक्ति पटु बनता है।

(अब ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की रचना में) अपनी प्रवृत्ति का कारण दिखलाते हैं—

ब्रह्मा ने समस्त वेदों से तत्त्व निकाल-निकाल कर जिस नाट्यवेद की रचना की, मुनि (होकर) भी भरत ने जिसका प्रयोग (अभिनय) किया, (जिसकी अभिनय की कला का प्रतिपादन भरत ने अपने ग्रन्थ में किया), शङ्कर ने जिसका ताण्डव (उद्धत

दशरूपानुकारेण—दशानाम् = दशसंख्याकानाम् मत्स्य-कूर्म-वराह-नरसिंह-वामन-राम-परशुराम-कृष्ण-बुद्ध-कल्कीनामित्यर्थः; रूपस्य = आकृतेः स्वभावस्य वा अनुकारेण = प्रतिमया अभिनये विहितेन रूपेण वा आचार्यपक्षे—दशरूपस्य = दशानां रूपकाणामित्यर्थः अनुकारेण = अभिनयेन, प्रथमं भरतेनैव रूपकाणां दशविधो विभागः कृत इति प्रसिद्धिः। **भावकाः**— भाव एषामस्तीति भावका रसिका भक्ताश्च, "अत इनिठनौ" इति—भावशब्दात् ठन् प्रत्ययः। **सर्वविदे**—विष्णुपक्षे—सर्वज्ञाय भरतपक्षे—दशरूपकानुकारे सर्वज्ञाय ॥ २ ॥

शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥ ४ ॥

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं नृत्तं कृतवान्, लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती, तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः, तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

नृत्य) तथा पार्वती ने जिसका लास्य (कोमल नृत्य) किया, उस (नाट्यवेद) का प्रतिपद (अर्थात् उसके प्रत्येक अङ्ग का) लक्षण कौन कर सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं), तो भी (मैं) सरल रचना के द्वारा नाट्य के कुछ लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ ॥ ४ ॥

ब्रह्मा ने वेदों से सार लेकर जिस नाट्य (नामक) वेद की रचना की, जिसका अभिनय भरत (मुनि) ने किया, (उन्होंने ही) करणों तथा अङ्गहारों को सम्पन्न किया (अर्थात् जिसके अभिनय के नियमों से युक्त नाट्यशास्त्र को भरत ने बनाया), शिव ने ताण्डव अर्थात् उद्धत नृत्य को किया तथा पार्वती ने लास्य अर्थात् सुकुमार नृत्य को सम्पन्न किया—(भला) उस (नाट्यवेद) का पूर्णरूप से लक्षण करने में कौन समर्थ है ? अतः उस (नाट्यवेद) के एक भाग दशरूपक का संक्षेप (में वर्णन) किया जा रहा है।

विशेष—करणाङ्गहारान्—भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में 'करण' तथा 'अङ्गहार' का लक्षण इस प्रकार लिखा है—नृत्य के समय हाथों एवं पैरों के सन्तुलन (अर्थात् सन्तुलित सञ्चालन) को **'करण'** कहते हैं। अङ्गों का (कलात्मक ढंग से) इधर-उधर सञ्चालन ही **'अङ्गविक्षेप'** है। भरत के अनुसार करणों की संख्या १०८ तथा अङ्गहारों की ३२ है।

(**पूर्वपक्षी**—यदि आप भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित दशरूपकों का ही वर्णन करना चाहते हैं तो उससे क्या लाभ ? यह तो केवल पिष्ट-पेषण मात्र हुआ। इसके उत्तर में **सिद्धान्ती** कहता है—नाट्यशास्त्र तथा इस प्रकृत ग्रन्थ दशरूपक के)

प्रवृत्तिनिमित्तमिति। न हि कस्यचित् क्वचिन्निर्निमित्ता प्रवृत्तिरित्यत आह प्रवृत्तिनिमित्तम् = पठनकर्मणि प्रवेशे प्रयोजनम्। **वैदग्धीम्** = पाटवम्। अनेन ग्रन्थकृता स्वग्रन्थप्रशंसा कृता। **प्रकरणादिरूपम्** = नाटकादिरूपम्। **विदग्धः** = निपुणः। अनेनाचार्यमम्मटस्य काव्यप्रयोजने 'व्यवहारविदे' इति कथनस्य समर्थनं भवतीति। श्लोकेनानेन काव्यहेतुषु सरस्वतीकृपैव केवलं हेतुरिति दर्शितम्॥

वेदेभ्यः सारमादाय—'नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥ १६ ॥ वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना। एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकः ॥ १८ ॥ 'इति मुनिना भरतेन नाट्यशास्त्रस्य प्रथमाध्याये कथितम्। **अभिनयं भरतश्चकार**—अभिनयशिक्षणपरं नाट्यशास्त्रं

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५॥

व्याकीर्णे = विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपं किं फलमित्याह—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ ६॥

विषय की अभिन्नता के कारण होनेवाली पुनरुक्ति का (ग्रन्थकार) निवारण करते हैं—

विस्तृत (नाट्यशास्त्र) में अल्प बुद्धिवाले (व्यक्तियों) को बुद्धि-भ्रम (Confusion) हो जाता है। अतः उस (नाट्यशास्त्र) का ही अर्थ उसीके शब्दों के माध्यम से सरल रीति द्वारा संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया जा रहा है ॥ ५॥

व्याकीर्ण अर्थात् बिखरे हुए एवं विशाल रसशास्त्र (नाट्यशास्त्र) में अल्पमति व्यक्तियों को बुद्धि-भ्रम हो जाता है। अतः उस नाट्यवेद का ही अर्थ उसके ही शब्दों के माध्यम से संक्षिप्त करके सरल रीति से प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रकरण (ग्रन्थ) का फल है—दशरूपकों का ज्ञान। दशरूपकों (रूपक के नाटकादि दश भेदों) का क्या फल है ? इसका उत्तर देते हैं—

जो अल्प बुद्धि वाले सज्जन (व्यक्ति) आनन्द को प्रवाहित करनेवाले रूपकों के (अध्ययन या उनके अभिनय के दर्शन) का फल भी, इतिहास आदि (ग्रन्थों के अध्ययन) के समान, एकमात्र (धर्म आदि का) ज्ञान ही बतलाते हैं, रसास्वाद से विमुख उन जन को नमस्कार है (अर्थात् ऐसे लोग प्रणाम करने के लायक हैं) ॥ ६॥

चकारेत्यर्थः। **करणाङ्गहारान्**—करणानि = हस्तपादसञ्चालनानि च अङ्गहाराश्च = अङ्गसञ्चालनानि चेति तान्। तदुक्तं नाट्यशास्त्रे—'हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्।' 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो।' सामस्त्येन = सामग्र्येण ॥

विषयैक्यप्रसक्तम्—'लक्षणं संक्षिपामि' इति यद्ग्रन्थकृतोक्तस्तेन नाट्यशास्त्रस्य प्रकृतग्रन्थस्य च विषयाभेदः प्राप्नोतीति परिहरति विषयेति—विषयस्य = वर्णनीयवस्तुनः, ऐक्येन = अभेदेन प्रसक्तम् = उपस्थितम् ॥ **दशरूपज्ञानफलम्**—दशानां रूपाणाम् = नाटकादीनाम् ज्ञानम् = परिचयः एव फलम् = परिणामः। नाटकादिरूपविषये ज्ञानमेवास्य प्रकरणस्य फलमिति ॥ **आनन्दनिस्यन्दिषु**—आनन्दस्य = रसचर्वणाप्रोद्भूतरसस्य निस्यन्दः = प्रवाहः अस्ति येषु ते तादृशेषु, व्युत्पत्तिमात्रम्—व्युत्पत्तिः = ज्ञानम् एव व्युत्पत्तिमात्रम् = केवलं व्यवहारवेदनमित्यर्थः, साधुरिति शब्दोऽत्र विपरीतलक्षणयाऽसाधुपरः, अविवेचक इति यावत् ॥

तत्र केचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

'नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

इस विषय में कुछ लोग—"उत्तम काव्य का सेवन (निर्माण, दर्शन तथा श्रवण) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं (Practical arts) के विषय में विदग्धता प्रदान करता है, (कवि एवं सेवनकर्ता—दोनों को) यश तथा हार्दिक प्रीति देता है।" (भामह काव्यालङ्कार १.२) इत्यादि वचनों के द्वारा काव्य का प्रयोजन त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) का भलीभाँति ज्ञान बतलाते हैं। उनका खण्डन करके (ग्रन्थकार धनञ्जय ने) यह दिखलाया है कि—(सहृदय व्यक्तियों के द्वारा) स्वयं अनुभव किया जानेवाला, परमानन्द स्वरूप, रसास्वादन दशरूपकों का फल है न कि इतिहास आदि की तरह केवल त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) आदि का ज्ञान (उसका फल है)। ("रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है"—इस कथन में) 'नमः' यह कथन उपहासपूर्वक (कहा गया) है।

विशेष—काव्य के प्रयोजन के विषय में विभिन्न आचार्यों का अपना-अपना मत है। इन मतों में कुछ अंशों में साम्य है तथा कुछ अंशों में वैभिन्न्य है। पीछे 'धर्मार्थकाममोक्षेषु' इत्यादि उद्धृत करके जिस मत का खण्डन किया गया है वह भामह का है। ग्रन्थकार धनञ्जय रसास्वाद को सत्काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं। किन्तु कारिका का जरा सूक्ष्म अनुशीलन करने पर यह अपने-आप प्रतीत हो जाता है कि 'धर्म, अर्थ तथा काम आदि' भी उनके मत से काव्य के प्रयोजन हैं, किन्तु ये प्रयोजन मुख्य न होकर गौण हैं।

"नाट्य के लक्षणों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर रहा हूँ" (कारिका ४)—यह कहा गया है। अब वह नाट्य (जिसका लक्षण संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने जा रहे हैं) क्या है? इस (जिज्ञासा) का उत्तर बतलाते हैं—

(राम आदि मूल पात्रों की) अवस्था का अनुकरण ही नाट्य है।

साधुकाव्यनिषेवणम्—इत्यत्र निषेवणान्निर्माणं श्रवणं प्रयोगदर्शनञ्च ज्ञेयम् । **कलासु**-कलाशब्देनात्र शिल्पादीनां ग्रहणम् । **कीर्तिं प्रीतिं** चेत्यत्र कर्तुः कीर्तिं सेवनकर्तुश्च प्रीतिमित्यर्थकरणादुभयोः कीर्तिं प्रीतिञ्च करोतीत्यर्थकरणमेव वरं, सेवनात् काव्ये प्राप्तनैपुण्यस्य कीर्तिस्तु दृश्यत एवेति लोके । **रसास्वादः**—अनेन 'रसास्वादः काव्यफलम्' इति ग्रन्थकर्तुरभिमतं सिद्ध्यतीति ॥

सोल्लुण्ठम्—उल्लुण्ठम् = उपहासः तेन सहितं सोल्लुण्ठम् = सोपहासम् ॥

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

—रूपं दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत्।

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।

काव्य (नाटक) में वर्णित धीरोदात्त (नायक) आदि की अवस्थाओं का अनुकरण अर्थात् चार प्रकार के अभिनय के द्वारा (अनुकार्य = मूल पात्र के साथ) एकरूपता की प्राप्ति ही नाट्य है।

विशेष—धीरोदात्त०—नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त।

चतुर्विधाभिनयेन—अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक। इन सबका वर्णन आगे किया जाएगा।

यही नाट्य दृश्य होने के कारण रूप (भी) कहा जाता है।

(चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण) नील आदि रूप की तरह, दृश्य (अर्थात् आँख का विषय) होने के कारण वही नाट्य रूप भी कहलाता है।

(नट में राम आदि का) आरोप किया जाने के कारण वह नाट्य रूपक (भी कहा जाता) है।

मुख में चन्द्र का आरोप होने से जैसे 'मुखचन्द्रः' में रूपक (अलङ्कार) है, उसी तरह नट में राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण (नाट्य) रूपक भी कहलाता है (अर्थात् नट में राम आदि का आरोप होने के कारण नाट्य को रूपक भी कहते हैं)।

इस प्रकार, जैसे एक ही व्यक्ति को ऐश्वर्य-सम्पन्न होने के कारण 'इन्द्र', शत्रुओं के पुरों का विदारण करने के कारण 'पुरन्दर', समर्थ होने के कारण 'शक्र' कहा जाता है, उसी तरह एक ही अर्थ में वर्तमान (नाट्य, रूप तथा रूपक) तीनों शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त (व्यवहार में लाने के कारण) का भेद दिखलाया गया है। (वस्तुतः एक ही अर्थ के लिए इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया गया है)।

विशेष—प्रवृत्तिनिमित्त०—प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं शब्द के प्रयोग के कारण को। जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है, वह है शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त। शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त होता है—अर्थ। एक ही वस्तु के दस नाम होते

अवस्थानुकृतिः—अवस्थायाः = रामादीनां दशायाः अनुकृतिः = अनुकरणम्, **नाट्यम्**-नटस्य कर्म नाट्यम् अभिनये याथातथ्येनानुकरणमेव नटकर्म।

काव्योपनिबद्धेत्यादिः—काव्ये = दृश्यकाव्ये उपनिबद्धाः = वर्णिताः ये धीरोदात्तादयः = धीरोदात्तादिभेदप्रभेदलक्षिताः नायकादयः तेषाम् अवस्थायाः = दशायाः अनुकारः = अनुकृतिः,

—दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण । नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

हैं । दसों नामों से एक ही वस्तु का बोध होता है । किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न दस नाम पड़ने के अलग-अलग कारण हैं । इसी प्रकार 'दृश्यकाव्य' अवस्थाओं का अनुकरण होने के कारण नाट्य है, दृश्य होने के कारण रूप तथा नट में राम आदि का आरोप होने से रूपक है ।

रसों पर आश्रित (यह नाट्य) केवल दस तरह का होता है ॥ ७ ॥

रसों का आश्रयण करके रहनेवाले रूपक दस प्रकार के ही हैं । 'दशधैव' (दशधा + एव) में वर्तमान अवधारणार्थक एव = ही पद (नाट्य के दश) शुद्ध भेदों के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । नाटिका (शुद्ध रूपक न होने के कारण) संकीर्ण रूपक होने से आगे वर्णित की जायगी (जब कि संकीर्ण रूपकों का वर्णन किया जायगा) ।

विशेष—ग्रन्थकार के अनुसार रूपक के प्रथमतः दो भेद होते हैं--(१) शुद्ध, एवं (२) संकीर्ण । वस्तु, नेता एवं रस के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न स्वरूपवाले रूपक शुद्ध रूपक कहे जाते हैं और ये संख्या में केवल दश ही हैं । जिन रूपकों में शुद्ध रूपकों के भेदक एकाधिक तत्त्व मिल जाते हैं वे 'संकीर्ण' रूपक कहे जाते हैं । यह आगे (३.४३) में कहा जायगा । नाटिका रूपक का शुद्ध भेद न होकर संकीर्ण भेद है । इसका वर्णन संकीर्ण रूपकों में आगे किया जायगा ।

(सम्प्रति रूपक के) उन्हीं दश भेदों का नाम लेकर निर्देश मात्र करते हैं—

(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) प्रहसन, (५) डिम, (६) व्यायोग, (७) समवकार, (८) वीथी, (९) अङ्क, (१०) ईहामृग ॥ ८ ॥

तादात्म्यापत्तिः—नटे नायकबुद्धिः ॥ **रूपम्**—रोपयति दर्शकान् विमोहयति नटे रामादिभ्रान्तिं कारयति इति रूपकम् ॥ **इन्द्रः**—इन्दतीति इन्द्रः, इदि ऐश्वर्ये; **पुरन्दरः**—पुरः = अरीणां नगराणि दारयति = विदारयतीति पुरन्दरः; **शक्रः**—शक्नोति = समर्थो भवतीति शक्रः ॥

रसाश्रयम्—रसस्य आश्रयं, रस आश्रयो यस्य तद्वा रसाय = आनन्दाय आश्रयः = सेवनं यस्य तद्वा । अनेन रूपकाणां रसेन शाश्वतिकः सम्बन्धो निर्दिष्टः ॥

उद्दिशतीति—उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम् ॥

ननु—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥'

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम् । तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः ।

नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु

अच्छा,

(१) डोम्बी, (२) श्रीगदित, (३) भाण, (४) भाणी, (५) प्रस्थान, (६) रासक तथा (७) काव्य—ये सात नृत्य के भेद हैं । ये भी भाण की तरह हैं ।"

इस कथन से अन्य प्रकार के रूपकों की भी सिद्धि होने से (दश प्रकार के ही रूपक हैं—ऐसी) अवधारणा (Limitation) की बात ठीक नहीं बैठती है । इस आशङ्का का उत्तर देते हुए कहते हैं—

भाव पर आश्रित रहनेवाला नृत्य (नाट्य से) भिन्न होता है ।

(१) रस पर आश्रित रहनेवाले नाट्य से भाव पर आश्रित रहनेवाला नृत्य भिन्न ही है (अर्थात् नाट्य का आश्रय है रस तथा नृत्य का आश्रय है भाव । अतः नाट्य एवं नृत्य परस्पर भिन्न हैं) । नृत्य में भाव आश्रय होता है—अतः विषय के भेद की दृष्टि से, (२) नृत्य इस शब्द की निष्पत्ति 'नृति' धातु से होती है, 'नृति' धातु का अर्थ है—गात्र-विक्षेप अर्थात् अङ्गों को इधर-उधर चलाना, इस तरह इस (नृत्य) में आङ्गिक (अभिनय) की अधिकता की दृष्टि से; और (३) नृत्य करनेवाले के लिए 'नर्तक' शब्द का प्रयोग होने से; (४) लोक में भी—'इस (नृत्य) में दर्शनीयता है'—ऐसा व्यवहार होने से; नृत्य नाटक आदि से (अर्थात् नाट्य से) भिन्न ही है । 'श्रीगदित' आदि से उसका (अर्थात् नृत्य का) भेद होने के कारण अवधारण (अर्थात् नाट्य के दश भेदों का निर्धारण) युक्ति-युक्त ठहरता है ।

नाटक आदि (रूपक) तो रस-विषयक होते हैं (अर्थात् रूपक रसाश्रित होते हैं) । (पीछे कारिका सात में—'नाट्य रसाश्रय तथा दश प्रकार का होता है'—

भावात् = सत्त्वात्, **अवधारणानुपपत्तिः**—अवधारणे = निर्धारणे अनुपपत्तिः = असिद्धिरित्यर्थः ॥ **भावाश्रयं नृत्यमिति**— रसानपेता नायकावस्थानुकृतिर्नाट्यमित्यभिधीयते । नृत्ये च केवलं भावा एव भवन्ति । अतस्तयोर्भेदं दर्शयति । तत्रेति ।

नटव्यपदेशः। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

इस वाक्य में) 'रसाश्रयम्' इस अंश से यह दिखलाया गया है कि—रस वाक्यार्थ का अभिनयात्मक होता है (अर्थात् रस की निष्पत्ति समस्त वाक्यार्थ के अभिनय से हुआ करती है), क्योंकि विभाव आदि पदों के अर्थ (अर्थात् पदार्थ) हैं तथा उन पदार्थों के (परस्पर) संसर्ग से निष्पन्न वाक्यार्थ ही रस (—निष्पत्ति) का हेतु होता है। (अर्थात् नाट्य में वाक्यार्थरूप अभिनय का पाया जाना—अर्थात् वाचिक अभिनय की स्थिति—ही रसाश्रयता है—इस बात का संकेत किया गया है)। (२)—'नाट्य' शब्द की सिद्धि 'नट अवस्पन्दने' धातु से हुई है। इस तरह 'नट्' धातु का अर्थ है कुछ-कुछ चलना। अतः नाट्य में सात्त्विक अभिनय की अधिकता रहती है (अर्थात् नाट्य में आङ्गिक क्रिया कम किन्तु सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता रहती है)। (३)—यही कारण है कि नाट्य (अभिनय) करने वाले को 'नट' कहा जाता है (न कि नर्तक)। तथा जिस प्रकार (नृत्य एवं नृत्त में) अङ्गों के सञ्चालन रूप कार्य (अर्थ) की समानता रहने पर भी अनुकरणात्मक होने के कारण नृत्य नृत्त से भिन्न होता है (अर्थात् नृत्त से नृत्य की भिन्नता इसलिए होती है कि नृत्य में अनुकरण = नकल होता है नृत्त में नहीं), उसी प्रकार वाक्यार्थ के अभिनय वाले नाट्य से पदार्थ के अभिनय से युक्त नृत्य भिन्न है (अर्थात् नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है और नृत्य में पदार्थ का—यही दोनों की भिन्नता है। नाट्य वाचिक होता है और नृत्य सात्विक भावादि से संवलित)।

विशेष—नाट्य-नृत्ययोर्भेदः—ग्रन्थकार धनञ्जय तथा वृत्तिकार धनिक के अनुसार नाट्य = रूपक तथा नृत्य में निम्नलिखित भेद है—

(१) दोनों में अनुकरण की समानता रहने पर भी नाट्य में अवस्था का अनुकरण होता है तथा नृत्य में भावों का। (२) नाट्य रसाश्रयी होता है और नृत्य भावाश्रयी। (३) नाट्य में सात्विकाभिनय की प्रचुरता रहती है जब कि नृत्य में आङ्गिक अभिनय की बहुलता होती है। (४) नाट्य के अभिनेता को नट तथा नृत्य के कर्ता को नर्तक कहते हैं। (५) नाट्य रसाश्रयी होता है। ग्रन्थकार के अनुसार रस की निष्पत्ति वाक्यार्थ से होती है (द्र० आगे ४।३७)। अतः नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय किया जाता है जब कि नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है। (६) नाट्य दृश्य के अतिरिक्त श्रव्य

रसस्य वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वमित्यन्वयः। नृत्यनाट्ययोस्तु भेदो यथा—नृत्यं भावाश्रयं नाट्यं तु रसाश्रयम्, नृत्ये आङ्गिकबाहुल्यं नाट्ये तु सात्त्विकाधिक्यम्, नृत्ये तत्कर्तुर्नर्तक इति संज्ञा नाट्ये तु तत्कर्तुर्नट इति व्यपदेशः, नृत्ये पदार्थाभिनयो नाट्ये तु वाक्यार्थाभिनयः, नृत्ये भावानुकृतिर्नाट्ये तु अवस्थानुकृतिरिति॥

—नृत्तंताललयाश्रयम् ।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति । अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति । द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

भी होता है, जब कि नृत्य केवल दृश्य ही हुआ करता है, उसमें सुनने के लिए कुछ भी नहीं रहता ।

प्रसङ्गवश (उपस्थित हुए) नृत्त का स्वरूप बतला रहे हैं—

नृत्त ताल एवं लय पर आश्रित होता है ।

हाथ की ताली आदि ताल हैं । द्रुत इत्यादि (अर्थात् द्रुत, मध्य एवं विलम्बित) लय है । एकमात्र ताल तथा लय पर आश्रित, अभिनय से शून्य, (केवल) अङ्गों का इधर-उधर सञ्चालन ही नृत्त है ।

विशेष—नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है तथा लय के आधार पर गति (द्रुत, मध्य तथा मध्यम गति) का आश्रय लेता है ।

अभी-अभी कहे गये दोनों (नृत्त तथा नृत्य) की व्याख्या करते हैं—

पहला (अर्थात् नृत्य) पदार्थाभिनयरूप होता है तथा इसे मार्ग भी कहते हैं । दूसरा (अर्थात् नृत्त) देशी भी कहा जाता है ॥ ९ ॥

नृत्य पदार्थाभिनयात्मक होता है (अर्थात् नृत्य में पदार्थों का अभिनय होता है) और वह 'मार्ग' इस नाम से भी प्रसिद्ध है । नृत्त को 'देशी' भी कहा जाता है । इन दोनों के भी दो-दो प्रकार होते हैं—यह दिखलाते हैं—

विशेष—शास्त्रीय पद्धति के अनुरूप पदार्थाभिनयरूप अङ्ग-सञ्चालन नृत्य कहलाता है । शास्त्र का अनुसरण करने के कारण इसे 'मार्ग' भी कहते हैं । नृत्त में केवल अङ्ग-सञ्चालन भर होता है । इसमें भी ताल-लय का आश्रय लिया जाता है पर यह आश्रय शास्त्रीय नहीं होता है । यही कारण है कि इसे 'देशी' भी कहते हैं । 'मार्ग' का उदाहरण दक्षिण का 'भरतनाट्यम्' तथा 'देशी' का उदाहरण जंगली जातियों की नाच है ।

वे दोनों (नृत्य तथा नृत्त) मधुर और उद्धत भेद से फिर दो-दो प्रकार के होते हैं । मधुर को लास्य तथा उद्धत को ताण्डव कहते हैं । (ये दोनों ही) नाटक आदि (रूपकों) के उपकारक होते हैं ॥ १० ॥

ताललयाश्रयम्—तालश्च = मात्रानियामको वाद्यध्वनिश्च लयश्च = गतिनियामकः क्रम-विशेषश्चेति तौ आश्रयौ यस्य तत् ।

मार्ग इति—शास्त्रीयमार्गानुसारित्वान्नृत्यस्य मार्ग इति संज्ञा । **देशीति**—केवलं लोकनियम्य-

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद् रूपाणामन्योन्यं भेद इति।

दोनों (अर्थात् नृत्य तथा नृत्त) ही सुकुमार होने पर लास्य और दोनों ही उद्धत होने पर ताण्डव कहलाते हैं (अर्थात् सुकुमार नृत्य एवं नृत्त को लास्य तथा उद्धत नृत्य एवं नृत्त को ताण्डव कहते हैं)। प्रसङ्गवश कहे गये (नृत्य एवं नृत्त) का—'वे नाटकादि के उपकारक होते हैं'—इस कथन के द्वारा उपयोग दिखलाया है। कहीं-कहीं (जिनका प्रयोग अभिनय में नहीं हुआ है—ऐसे) अवान्तर पदार्थों के अभिनय के रूप में नृत्य का तथा शोभा बढ़ाने के लिए नृत्त का नाटक आदि रूपकों में उपयोग किया जाता है (यही नृत्य तथा नृत्त की नाटकादि की उपकारकता है)।

विशेष—नृत्त और नृत्य—(१) दोनों शब्द—'नृती' गात्रविक्षेपे—अर्थात् अङ्गसञ्चालनार्थक 'नृत्' धातु से बने हैं। (२) दोनों के दो-दो भेद हैं—सुकुमार जिसे लास्य भी कहा जाता है और उद्धत जिसे ताण्डव भी कहते हैं। (३) दोनों ही नाटक के उपकारक होते हैं। नृत्य अवान्तर पदार्थों का अभिनय कर नाटक को पूर्णता प्रदान करता है, तो नृत्त उसकी शोभा बढ़ाता है। (४) नृत्य शास्त्रीय पद्धति के अनुसार किया जाता है, किन्तु नृत्त शास्त्र की अपेक्षा न कर एकमात्र लोक पर अवलम्बित रहता है। संगीत महाविद्यालयों में सिखलाया जाने वाला नर्तन नृत्य है और विवाह आदि के अवसर पर जङ्गली जातियों के द्वारा किया जाने वाला नर्तन नृत्त है। (५) नृत्य भाव पर आश्रित रहता है और नृत्त ताल, लय पर।

रूपकों को परस्पर एक-दूसरे से अलग करने वाले तत्त्व—

सभी रूपकों में अनुकरण पाया जाता है। अतः सभी में अभेद प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में उन (दशों रूपकों) में किस निमित्त से भेद किया जाता है?—ऐसी आशङ्का करके उत्तर देते हैं—

वस्तु (कथावस्तु), नायक और रस उन (दशों रूपकों) के भेदकतत्त्व हैं।

त्वाद् देशीति संज्ञा नृत्तस्य। मधुरोद्धतरूपेण नृत्यं द्विविधं तथैव नृत्तञ्चापि। **अवान्तरपदार्थाभिनयेन**—अवान्तरस्य=अनभिनीतस्य मुख्यवस्तुन उपकारकस्य प्रसङ्गस्य प्राप्तस्य पदार्थस्य=वस्तुनः अभिनयेन=नृत्योपस्थापनेन नृत्यस्योपकारकत्वं ज्ञेयम्। शोभाहेतुत्वञ्चात्र रसोत्तेजकत्वेन ज्ञेयमिति॥

अनुकारात्मकत्वेन—अनुकारात्मकत्वमेव रूपकत्वमिति रूपकेष्वभेदः। **वस्तु**=कथावस्त्वित्यर्थः, **नेता**=नायकः, भेदकः=विभाजकः, तेषाम्=दशरूपकाणाम्॥

वस्तुभेदमाह—

—वस्तु च द्विधा।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः॥ ११॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥ १२॥

फलेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम्=फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

(कथा—) वस्तु के भेद से, नायक के भेद से और रस के भेद से रूपकों में परस्पर भेद है।

कथा-वस्तु के भेद—

वस्तु (कथावस्तु) के भेद को बतलाते हैं—

वस्तु (कथा-वस्तु) दो प्रकार की होती है।

किस प्रकार से?

उनमें मुख्य (कथावस्तु) को आधिकारिक और अङ्गरूप वस्तु को प्रासङ्गिक (कथावस्तु) कहते हैं॥ ११॥

प्रधानभूत कथा को आधिकारिक (कथावस्तु) कहते हैं, जैसे रामायण में राम-सीता की कथा। प्रधानभूत कथा की अङ्गरूप (अर्थात् सहायक) कथा प्रासङ्गिक कथावस्तु कहलाती है,—जैसे वहीं (रामायण में ही) विभीषण तथा सुग्रीव आदि की कथा है। (अङ्गरूप कथा प्रधान कथा की गत्यात्मकता में सहायक होती है)।

व्युत्पत्ति दिखलाते हुए आधिकारिक (कथावस्तु) का लक्षण कहते हैं—

फल का स्वामी होना ही अधिकार है, और उस फल का स्वामी ही अधिकारी है। उस फल की सिद्धि तक अभिव्याप्त या उस अधिकारी के द्वारा निष्पन्न वृत्त या कथा आधिकारिक (वस्तु) कहलाती है॥ १२॥

अधिकार कहते हैं—फल के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध को। फल का स्वामी ही अधिकारी कहलाता है। उस अधिकार अथवा अधिकारी के द्वारा निर्वृत्त अर्थात् फल-प्राप्ति तक ले जाया गया इतिवृत्त (अर्थात् कथानक) आधिकारिक कहा गया है (अर्थात् वही आधिकारिक वस्तु है)॥

फलस्वाम्यम्—फले=परिणामे स्वाम्यम्=आधिपत्यम्, **तत्प्रभुः**—तस्य=फलस्य प्रभुः=स्वामी, **तन्निर्वृत्तम्**—तस्य=फलस्येत्यर्थः, निर्वृत्तम्=निष्पत्तिमिति यावत्, **अभिव्यापि**=व्यापकम्, **वृत्तम्**=कथावस्तु॥

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

(अव) प्रासङ्गिक (वस्तु) की व्याख्या करते हैं—

(जो कथा या वृत्त) दूसरे (अर्थात् आधिकारिक कथा) के लिए होता है, किन्तु प्रसङ्गवश जिसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है; वह प्रासङ्गिक (वृत्त) है ।

दूसरे (अर्थात् आधिकारिक कथा या वृत्त) के प्रयोजन की सिद्धि के लिए आये हुए (भी) जिस इतिवृत्त (अर्थात् कथानक) का प्रसङ्गवश अपने प्रयोजन की सिद्धि भी हो जाती है वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहलाता है, क्योंकि उसकी प्रसङ्ग से ही सिद्धि होती है ।

विशेष— प्रासङ्गिकम् = प्रसङ्गवश निष्पन्न होने वाली । उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि रामायण की मुख्य कथा है—राम-कथा । उसका फल है राक्षसों का वध आदि । किन्तु इस मुख्य कथा को गति प्रदान करने के लिए बीच में सुग्रीव की कथा भी आती है । यह कथा भी अपने आप में पूरी है । यद्यपि यह मुख्य कथा की अभिवृद्धि के लिए ही आयी है । फिर भी यह सफल है, क्योंकि बालि-वध तथा सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति भी सिद्ध हो जाती है । यही इस कथा की स्वार्थ-सिद्धि है ।

प्रासङ्गिक कथा के भेद—

प्रासङ्गिक कथा भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार की होती है (अर्थात् प्रासङ्गिक के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी)—इसी बात को आगे कहा है—

अनुबन्ध सहित (अर्थात् मुख्य कथा के साथ गौण रूप से दूर तक चलने वाले) प्रासङ्गिक वृत्त को पताका तथा एक प्रदेश में रहनेवाले (अर्थात् थोड़ी दूर तक चलनेवाले) प्रासङ्गिक वृत्त को प्रकरी कहते हैं ॥ १३ ॥

प्रसङ्गान्निर्वृत्तं प्रासङ्गिकम् = आनुषङ्गिकमिति भरतः, **परार्थस्य** = आधिकारिकस्य कथानकस्येत्यर्थः, परप्रयोजनस्य—परस्य = परार्थम्, आधिकारिकार्थमित्यर्थः, प्रयोजनम् = उपयोगहेतुः यस्य तादृशस्य, **प्रसङ्गनिर्वृत्तेः**—प्रसङ्गेन = अनुषङ्गेण निर्वृत्तिः = फलपूर्णता तस्याः ॥ **सानुबन्धः**—अनुबन्धेन = मुख्यानुयायितया सुदूरमनुगमनेन सहितं सानुबन्धम् ।

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्, पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्। यदल्पं सा प्रकरी श्रमणादिवृत्तान्तवत्।
पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥ १४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम्। तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात्। यथा रत्नावल्याम्—

जो प्रासङ्गिक वृत्त (प्रधान इतिवृत्त का) दूर तक अनुवर्तन करता है उसे 'पताका' कहते हैं; जैसे सुग्रीव आदि का वृत्तान्त (पताका है; क्योंकि वह मुख्य इतिवृत्त रामकथा के साथ काफी दूर तक चलता है)। जैसे पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और वह उस नायक का उपकार करती है (क्योंकि युद्ध में पताका को ही दूर से देखकर सैनिक नायक के पास पहुँचते हैं) उसी तरह दूर तक चलनेवाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी प्रधान इतिवृत्त अथवा नायक का उपकारक होने से पताका कहा जाता है। जो (प्रासङ्गिक इतिवृत्त) थोड़ा होता है, उसे प्रकरी कहते हैं, जैसे (रामायण में) श्रमणा (शबरी) का वृत्तान्त।

विशेष—पताकाख्यं प्रकरी च—आचार्य भरत पताका एवं प्रकरी की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—जो वृत्त दूसरे (अर्थात् प्रधान) के लिए होता है तथा प्रधान (इतिवृत्त) का उपकारक होता है एवं प्रधान की तरह ही जिसकी सत्ता होती है (अर्थात् प्रधान की तरह ही जो अपने आपमें पूर्ण होता है) उसे पताका कहते हैं। सज्जनों के द्वारा जिसका फल एकमात्र दूसरे (अर्थात् प्रधान कथानक) के लिए होता है तथा जो थोड़ी दूर तक ही चलने वाला है वह इतिवृत्त प्रकरी कहा गया है॥ (भरत २१)

पताकास्थानक—

पताका के प्रसङ्ग से (उससे मिलते-जुलते) 'पताकास्थानक' की व्युत्पत्ति करते हैं—

जो अन्योक्ति के द्वारा (अर्थात् किसी अन्यवस्तु के कथन के द्वारा) प्रस्तुत (अर्थात् प्रसङ्गप्राप्त) भावी कथानक (वस्तु) का सूचक होता है, उसे 'पताका-स्थानक' कहते हैं। वह समान इतिवृत्त तथा समान विशेषण (के भेद से दो तरह का) होता है॥ १४॥

प्राकरणिक (अर्थात् अवसर-प्राप्त) किन्तु आगे घटित होनेवाले अर्थ (घटना) को सूचित करनेवाला इतिवृत्त (रूप) 'पताका-स्थानक' कहा जाता है,

---

असाधारणनायकचिह्नवत्—असाधारणः = मुख्य इति यावत् यो नायकः = नेता तस्य चिह्नवत् = लक्ष्मवत्॥ **तदुपकारित्वात्**—तस्य = प्रधानस्येतिवृत्तस्येत्यर्थः उपकारित्वात् = पोषकत्वात्, गत्याधायकत्वादित्यर्थः। **अल्पम्** = अल्पदेशवर्तीत्यर्थः॥

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥ १ ॥'

यथा च तुल्यविशेषणतया—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥ २ ॥

क्योंकि (यह) पताका (ध्वजा) के समान होता है (अर्थात् जैसे सेना के आगे चलनेवाली पताका से पीछे आ रही सेना की सूचना मिलती है, उसी तरह यह 'पताकास्थानक' भी आगे की घटना का सङ्केत देता है)। वह (पताका-स्थानक) अन्योक्ति तथा समासोक्ति के भेद से दो तरह का होता है। (१) अन्योक्ति-भेद में समान घटना के द्वारा (प्रस्तुत भावी अर्थ की सूचना दी जाती है) और (२) समासोक्ति भेद में समान विशेषणों के द्वारा (प्रस्तुत भावी अर्थ का निर्देश किया जाता है अर्थात् 'पताकास्थानक' के प्रथम भेद में घटना समान होती है और इसमें अन्योक्ति अलङ्कार होता है, तथा द्वितीय भेद में समान विशेषण होते हैं तथा समासोक्ति अलङ्कार होता है।) (समान इतिवृत्त के कारण अन्योक्ति भेदवाला 'पताका-स्थानक') जैसे रत्नावली में—

(१) 'हे कमललोचने, (मैं अब) जा रहा हूँ, यह मेरा (जाने का) समय है। सोयी हुई आप (प्रातःकाल) मेरे द्वारा ही जगाई जावेंगी।' अस्ताचल की चोटी पर करों (किरणों) को रक्खे हुए यह सूर्य कमलिनी को इस तरह मानो सान्त्वना दे रहा है ॥ (३।६) ॥

(२) 'हे कमललोचने, (मैं अब) जा रहा हूँ। यह मेरा वादा है कि (प्रातः-काल) सोयी हुई आप को मैं ही (आकर) जगाऊँगा।' (प्रेमिका) के झुके हुए मस्तक पर हाथ रक्खे हुए यह सूर्य (सूर्य नामक नायक) लीलापूर्वक हाथ में कमल धारण करनेवाली (नायिका) को इस तरह मानो विश्वास दिला रहा है ॥ (३।६) ॥

विशेष—इस श्लोक को महाराज उदयन ने विदूषक से कहा है। इसमें सूर्य तथा कमलिनी के वृत्तान्त के द्वारा उदयन एवं रत्नावली के भावी मिलन की सूचना दी गई है। यहाँ सूर्य तथा कमलिनी का एवं उदयन और रत्नावली का मिलन समान घटना है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि उदयन एवं रत्नावली का मिलन प्रस्तुत घटना है और उसकी अपेक्षा सूर्य तथा कमलिनी का वृत्तान्त अप्रस्तुत है। अतः यह समान घटना के द्वारा अन्योक्तिरूप पताकास्थानक है।

प्राकरणिकस्य=प्रसङ्गेन प्राप्तस्य, **रूपम्**=इतिवृत्तम्, **तुल्येतिवृत्ततया**—तुल्यम्=समानम् इतिवृत्तम्=घटना यस्य तस्य भावः तुल्येतिवृत्तता तया। पताकास्थानकस्य प्रथमभेदे इतिवृत्तस्य

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥ १५ ॥

समान विशेषणों के द्वारा (समासोक्ति भेदवाला पताकास्थानक) जैसे—

क्षण भर में ही पर्याप्त कलियों से आच्छादित, विकसित होनेवाली (अर्थात् विकसित होते हुए पुष्पों से युक्त), श्वेत कान्तिवाली, निरन्तर बहनेवाली हवा के झकोरों से (हिलने के कारण) अपनी दुर्बलता को प्रकट करती हुई, मदन नामक वृक्ष से युक्त (अर्थात् मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई), उद्यान की इस लता को, (कामावेग के कारण रोमाञ्चित, जभाँई लेनेवाली, सफेद शरीर की कान्तिवाली, निरन्तर उसाँसों से अपनी व्यथा को व्यक्त करती हुई, कामातुर) किसी अन्य स्त्री के समान, देखता हुआ मैं आज निश्चय ही महारानी के मुख को कोप के कारण किञ्चित् लाल वर्ण का कर दूँगा ॥ (रत्नावली २।४) ॥

विशेष—यह उदयन की अपने आपके प्रति कही गयी उक्ति है। इसमें समान विशेषणों के माध्यम से रत्नावली से सम्बद्ध भावी घटना की सूचना दी गयी है। आगे रत्नावली (सागरिका) तथा उदयन का मिलन वर्णित है। उनके इस मिलन को देखकर महारानी वासवदत्ता कुपित होती हैं। उसी घटना की ओर यहाँ सङ्केत किया गया है। यहाँ समान विशेषणों के द्वारा समासोक्तिरूप दूसरा 'पताकास्थानक' है।

इस प्रकार (एक प्रकार के) आधिकारिक तथा दो प्रकार के प्रासङ्गिक (कुल मिलाकर) इन तीन प्रकार के फिर तीन-तीन प्रकार बतलाते हैं (अर्थात् इनमें से प्रत्येक तीन प्रकार का होता है)—

वह तीन प्रकार का (इतिवृत्त) भी (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य तथा (३) मिश्र भेद से तीन-तीन प्रकार का होता है। इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि के द्वारा कल्पित इतिवृत्त उत्पाद्य कहा गया है। तथा उन दोनों (प्रख्यात तथा उत्पाद्य) के मिश्रण से मिश्र की रचना होती है। (ये सभी इतिवृत्त) दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य भेद से (भिन्न होते हैं) ॥ १५ ॥

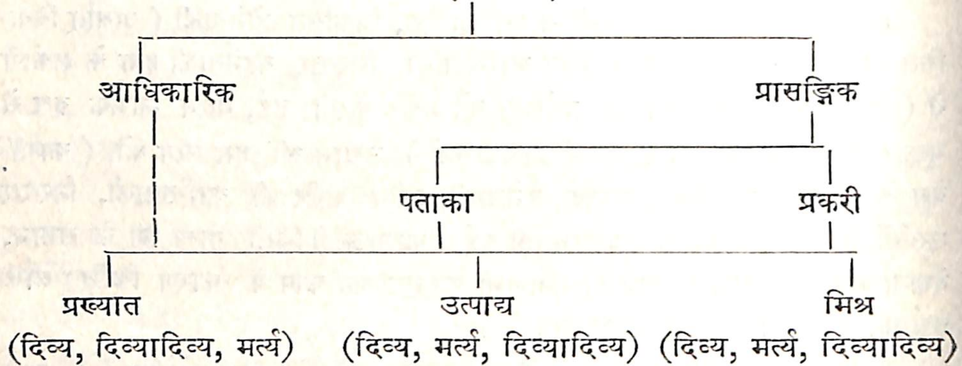
विशेष—दिव्यमर्त्यादिभेदतः—कहने का भाव यह है कि किसी इतिवृत्त में कोई देव नायक होता है तो किसी में देवावतारी मनुष्य नायक होता है और किसी में मनुष्य नायक होता है। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है—(१) दिव्यनायक—जैसे 'पार्वतीपरिणय' में भगवान् शिव नायक हैं। (२) दिव्यादिव्य नायक—जैसे 'रुक्मिणीपरिणय' में विष्णु के अवतार मानवरूपधारी श्रीकृष्ण नायक हैं। (३) मर्त्य या अदिव्य नायक—जैसे 'वेणीसंहार' में भीम नायक हैं।

साम्यं तथाऽन्योक्तिरलङ्कारश्च भवति द्वितीये तु विशेषणसाम्यं तथा समासोक्तिरलङ्कारश्चेति सिद्धान्तः ॥

मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

इसकी मूल में ही व्याख्या हो गई है (अतः वृत्ति लिखने की आवश्यकता नहीं है)।



(दिव्य, दिव्यादिव्य, मर्त्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य)

वस्तु-भेद का विस्तृत विवरण—

(आधिकारिक वस्तु)

क—(१) दिव्य, प्रख्यात आधिकारिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, प्रख्यात आधिकारिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, प्रख्यात आधिकारिक वस्तु ।

ख—(१) दिव्य, उत्पाद्य आधिकारिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, उत्पाद्य आधिकारिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, उत्पाद्य आधिकारिक वस्तु ।

ग—(१) दिव्य, मिश्र आधिकारिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, मिश्र आधिकारिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, मिश्र आधिकारिक वस्तु ।

(प्रासङ्गिक वस्तु—पताका)

घ—(१) दिव्य, प्रख्यात, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, प्रख्यात, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, प्रख्यात, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।

ङ—(१) दिव्य, उत्पाद्य, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, उत्पाद्य, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, उत्पाद्य पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।

च—(१) दिव्य, मिश्र, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, मिश्र, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, मिश्र, पताका प्रासङ्गिक वस्तु ।

निगदव्याख्यातम्—निगदे = उल्लेखे, मूले इति यावत्, व्याख्यातम् = स्पष्टीकृतम् ।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

(प्रासङ्गिक वस्तु—प्रकरी)

छ—(१) दिव्य, प्रख्यात, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, प्रख्यात, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, प्रख्यात, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।

ज—(१) दिव्य, उत्पाद्य, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, उत्पाद्य, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, उत्पाद्य, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।

झ—(१) दिव्य, मिश्र, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(२) मर्त्य, मिश्र, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।
(३) दिव्यादिव्य, मिश्र, प्रकरी प्रासङ्गिक वस्तु ।

इतिवृत्त का फल—

उस इतिवृत्त का क्या फल होता है—

यह बतलाते हैं—

(उस इतिवृत्त के अभिनय, अभिनय के अवलोकन तथा अध्ययन का) फल है त्रिवर्ग । यह फल कभी तो शुद्ध (अर्थात् त्रिवर्गरूप धर्म, अर्थ तथा काम में से कोई एक ही) और कभी (अन्य) एक से अनुगत तथा कभी अनेक (अर्थात् दो) से अनुगत (एक होता है) ॥ १६ ॥

इतिवृत्त (के अभिनय, अभिनय के अवलोकन तथा अध्ययन) का फल होता है—धर्म, अर्थ तथा काम । वह फल कभी तो शुद्ध अर्थात् तीनों में से कोई एक अकेला ही होता है अथवा कभी एक से अनुगत एक (जैसे धर्म से अनुगत अर्थ) होता है अथवा कभी दो से अन्वित एक (जैसे धर्म एवं अर्थ से अन्वित काम) अथवा कभी तीन से अनुगत एक (जैसे धर्म, अर्थ एवं काम से अनुगत धर्म) होता है ।

विशेष—द्वित्र्यनुबन्धं वा—पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष । मोक्षरूप चौथा पुरुषार्थ कभी भी रूपक का फल नहीं हो सकता अतः ग्रन्थकार धनञ्जय ने त्रिवर्ग को ही रूपक का फल माना है । यही कारण है कि शान्तरस रूपक में स्वीकार्य नहीं है । भामह तथा विश्वनाथ आदि ने चतुर्वर्ग अर्थात् त्रिवर्ग के साथ ही मोक्ष को

कार्यम् = फलम् , **त्रिवर्गः** = धर्मार्थकामाः, **शुद्धम्** = एकम् , **एकानेकानुबन्धि**—एकानेकानुगतमित्यर्थः । **द्वित्र्यनुबन्धम्**—इत्यत्र = त्र्यनुबन्धमेकस्यापि गौडप्राधान्यभेदाभिप्रायेणेति बोध्यम् ।

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः । यौगन्धरायणः—कः सन्देहः ('द्वीपादन्यस्मात्–' इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

भी रूपक का फल माना है । यही कारण है कि कुछ लोग धनिक की वृत्ति में 'द्वित्र्यनुबन्धं' को देख कर 'त्र्यनुबन्धं' की व्याख्या 'तीन से अनुगत चौथा पुरुषार्थ'—ऐसा करते हैं । किन्तु वृत्ति को जरा ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार तथा वृत्तिकार दोनों का ही अभिप्राय यह है कि—इतिवृत्त के फलरूप में कभी एक ही अर्थ होता है और वह प्रधान रहता है और कभी एक प्रधान तथा एक या दो गाणरूप में रहते हैं और कभी तो एक अर्थप्रधान और वह स्वयं (अर्थात् प्रधानरूप अर्थ) तथा अन्य दो गौण होते हैं । एक ही अर्थ इतिवृत्त का प्रधान तथा गौण—दोनों तरह का—फल हो सकता है । यही है वृत्तिकार का आशय ।

फल की प्राप्ति के साधन (अर्थप्रकृतियाँ)

(सम्प्रति) उसके (अर्थात् इतिवृत्त के फल के) साधन को बतलाते हैं—

उस (फल) का कारण ही बीज है । आरम्भ में इसका स्वल्प संकेत किया जाता है, किन्तु आगे चल कर यह अनेक प्रकार से पल्लवित होता है ।

(नाटक के आरम्भ में) स्वल्परूप से निर्दिष्ट, (इतिवृत्त = कथानक के) फल को सिद्ध करनेवाला, आगे चलकर अनेक प्रकार से पल्लवित होनेवाला, (इतिवृत्त का) विशिष्ट कारण बीज कहा जाता है, क्योंकि यह (विशाल वृक्ष के कारण) बीज के समान होता है । जैसे कि 'रत्नावली' (१।६-७) में (यह बीज) वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति (जो कि इतिवृत्त का फल है) का कारण, अनुकूल भाग्य से सहकृत, (मन्त्री) यौगन्धरायण का उद्योग विष्कम्भक में उपस्थित किया गया है । यौगन्धरायण कहता है—'इसमें क्या सन्देह ?' ('द्विपादन्यस्मात्' इत्यादि पढ़ता है) इस उक्ति से आरम्भ कर 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' अर्थात् 'स्वामी के अभ्युदय के हेतु इस कार्य के आरम्भ कर देने पर'—इस कथन तक (बीज का निर्देश किया गया है) ।

तत्साधनम्—तस्य = फलरूपस्य कार्यस्य साधनम् = हेतुम् । **तद्धेतुः**—तस्य = कार्यस्येत्यर्थः, हेतुः = कारणम् , **बीजम्**—विस्तारिणो वृक्षस्य कारणं बीजमिव विस्तारिण इतिवृत्तस्य कारणं बीजं निगद्यते ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति। तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।

अवान्तरबीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्य-नन्तरकार्यहेतुः—'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका—(श्रुत्वा) 'कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि। बिन्दुः—जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात्।

इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में द्रौपदी के केश-संयमन (रूप फल) का हेतु, भीम के कोप से वृद्धिङ्गत युधिष्ठिर का उत्साह बीज है (इसे नाटक के आरम्भ में 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' १।८ से लेकर 'मन्थायस्त०' १।२२ तक सूचित किया गया है)।

यह (बीज) महाकार्य (अन्तिम फल) तथा अवान्तर कार्य (गौण फल) का हेतु होने से अनेक प्रकार का (दो प्रकार का) होता है।

(रत्नावली तथा वेणीसंहार के सन्दर्भ में अभी-अभी महाकार्य के बीज का संकेत हो चुका है) अब अवान्तर बीज का दूसरा नाम बतलाते हैं—

अवान्तर अर्थ से (अर्थात् अवान्तर कथा के कारण) मुख्य कथा-वस्तु के विच्छिन्न हो जाने पर, जो उसे जोड़ने तथा आगे बढ़ाने का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है ॥ १७ ॥

जैसे—रत्नावली में कामदेव की पूजा एक अवान्तर कार्य है। उसकी समाप्ति पर (मुख्य) कथा के अर्थ के (अर्थात् मुख्य कथा के) विशृंखलित हो जाने पर (मुख्य कथा को जोड़ने और उसके) आगे के कार्य (को बढ़ाने) का हेतु—**वैतालिक**—'राज-समूह चन्द्रमा के समान नेत्रों की प्रीति को बढ़ानेवाले आप (महाराज) उदयन के चरणों की सेवा करने के लिए ऊपर की ओर निगाह उठाये हुए देख रहा है (१.२३)' **सागरिका**—(सुनकर) 'क्या यह वही राजा उदयन हैं, जिनके लिए (अर्थात् जिनसे विवाह करने के लिए) मैं पिताजी के द्वारा (यौगन्ध-रायण को) समर्पित की गयी थी।' इत्यादि—कथन (बिन्दु) है।

जल में तेल की बूँद की तरह (मुख्य कथानक को जोड़नेवाले इस फलोपाय के पूरे नाट्य में) फैला हुआ होने के कारण इसे 'बिन्दु' कहते हैं।

विशेष—बिन्दु—'बिन्दु' शब्द नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। फिर भी यहाँ—'तैलबिन्दु की तरह प्रसारी होने से इसे भी बिन्दु कहते हैं'—यह साहित्यिक भाव बतलाया गया है।

महाकार्यस्य बीजे निर्दिष्टे सम्प्रति अवान्तरकार्यस्य बीजं निर्दिशन् कथयति-**अवान्तरबीजस्येति।**

अवान्तरार्थविच्छेदे—अवान्तरेण = अप्रधानेन कथानकेन अर्थस्य = इतिवृत्तस्य विच्छेदे = विश्रृङ्खलिते, **अच्छेदकारणम्**—अच्छेदस्य = अनन्तरकार्यस्य कारणम् = हेतुः।

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥

अर्थप्रकृतयः = प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

भावप्रकाशन में भी प्रायः इसी प्रकार की परिभाषा 'बिन्दु' शब्द की की गयी है—

फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरैः फलैः ।
तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः ॥

अर्थात्—"बीज के प्रधान फल के, अवान्तर फलों के द्वारा, विच्छिन्न कर दिये जाने पर उस (बीज के प्रधान फल) को जोड़ने वाला हेतु ही बिन्दु है—यह कोहल का मत है ॥"

(पहले) प्रसङ्गवश बिना क्रम के ही पताका आदि का वर्णन कर दिया गया है, सम्प्रति उन्हें यथाक्रम उपस्थित करने के लिए उपसंहार करते हुए कहते हैं—

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य नामक ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ कही गयी हैं ॥ १८ ॥

अर्थप्रकृतियों का अर्थ है—(रूपक के) प्रयोजन को सिद्ध करनेवाले कारण (अर्थात् अर्थप्रकृतियाँ फल की सिद्धि के उपाय हैं)।

विशेष—अर्थप्रकृतयः—(१) यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बीज, बिन्दु तथा कार्य—ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ मानी गयी हैं। किसी भी रूपक में इनका होना आवश्यक है। पताका एवं प्रकरी का सभी रूपकों में रहना आवश्यक नहीं है। जहाँ रूपक के नायक को सहायक की आवश्यकता नहीं होती वहाँ पताका तथा प्रकरी भी नहीं रहती हैं। (२) इस कारिका में 'कार्य' शब्द की गणना अर्थप्रकृतियों में देख कर कुछ लोगों की धारणा है कि—'कार्य' स्वयं प्रयोजन या फल है। अतः यहाँ फल को सिद्ध करनेवाली अर्थप्रकृतियों में उसकी गणना अनुचित है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि पीछे सोलहवीं कारिका की भाँति यहाँ भी कार्य का अर्थ प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो—क्रियते = सम्पाद्यते फलसिद्धिरनेनेति कार्यम्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्य का अर्थ है—अधिकारी का वह व्यापार जो फल-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है। नाटक का यही मुख्य व्यापार कहा गया है। 'नाट्यशास्त्र', 'भावप्रकाशन' तथा 'साहित्यदर्पण' का भी इस विषय में 'दशरूपक' जैसा ही विचार है।

व्युत्क्रमोक्तम्—क्रमं विनैव कथितमित्यर्थः, **क्रमार्थम्**—क्रमेणोपस्थापयितुम् ।
अर्थप्रकृतयः—अर्थः = फलम्, प्रधानेतिवृत्तफलमित्यर्थः, तस्य प्रकृतयः = उपायाः फलहेतव इत्यर्थः ।

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः॥ १९॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्— 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः।

अथ प्रयत्नः—

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः॥ २०॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः। यथा रत्नावल्या-

---

कार्य की पाँच अवस्थाएँ—

(ग्रन्थकार नाटक की) अन्य पाँच अवस्थाओं को बतलाते हैं—

फल की इच्छावाले व्यक्तियों के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ (Stages) होती हैं—१. आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम॥ १९॥

क्रमानुसार (इनका) लक्षण बतलाते हैं—

१. महान् फल की प्राप्ति के लिए केवल उत्सुकता का होना ही 'आरम्भ' कहा गया है।

'इसको मैं करूँगा'—इस तरह का निश्चय करना मात्र ही 'आरम्भ' कहा गया है, जैसे कि 'रत्नावली' में—'(यौगन्धरायण)—स्वामी के (चक्रवर्तीपद-रूप) अभ्युदय के कारणभूत इस कार्य में भाग्य के द्वारा इस तरह हाथ का सहारा देने पर (अर्थात् भाग्य के द्वारा भी सहायता करने पर)' इत्यादि कथन के द्वारा सचिव के अधीन सिद्धिवाले (अर्थात् मन्त्री के ऊपर राज्य का भार सौंप कर स्वयं आनन्द लेनेवाले नायक) वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ (मन्त्री) यौगन्धरायण के मुख से दिखलाया गया है।

२. अब प्रयत्न बतलाते हैं—

उस (फल) के प्राप्त न होने पर (उसके लिए) अत्यन्त वेग के साथ कार्य प्रारम्भ कर देना ही 'प्रयत्न' है॥ २०॥

उस फल की प्राप्ति न होने पर (उसकी प्राप्ति के लिए) उपायों को जुटाना

अर्थप्रकृतयः—अर्थप्रकृतिषु कार्यस्योल्लेखात्तस्य फलं नार्थोऽपितु क्रियते=सम्पाद्यते फलसिद्धिरनेनेति कार्यम्=फलसिद्धिहेतुर्नायकव्यापारः। कार्यते फलमिति वा व्युत्पत्तिः।

मालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः—'तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि।) इत्यादिना प्रतिपादितः।

प्राप्त्याशामाह—

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कायाः—'एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता।' (एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता।) इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।

आदि-रूप विशेष प्रकार की चेष्टा ही प्रयत्न है। जैसे कि रत्नावली (अङ्क २) में चित्र बनाना आदि ही वत्सराज उदयन से (सागरिका के) मिलने का उपाय है—'फिर भी उस (उदयन) जन को देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः जिस किसी तरह इन्हें चित्रित करके अभिलाषा को पूरी करूँगी।'—इत्यादि (कथन) के द्वारा (प्रयत्न) प्रतिपादित किया गया है।

३. अब प्राप्त्याशा को बतलाते हैं—

(फल-प्राप्ति के) उपाय तथा (फल-प्राप्ति के) विध्वंसक विघ्न की शङ्का—(दोनों की उपस्थिति)—से जो फल-प्राप्ति की सम्भावनामात्र होती है, वह 'प्राप्त्याशा' कही जाती है (अर्थात् जहाँ फल-प्राप्ति के लिए तो उपाय चलता रहता है, किन्तु उसी बीच किसी विघ्न की सम्भावना के आ जाने से जब दर्शकों के मन में फल-प्राप्ति के प्रति द्विविधा की भावना आ जाती है तब प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है)।

(फल-प्राप्ति के) उपाय तथा (फल-प्राप्ति के विनाशक) विघ्न की शङ्का के रहने पर जब कि फल-प्राप्ति का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता तब प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका के तीसरे अङ्क में (सागरिका के द्वारा) वेश बदल कर अभिसार करने रूप (उदयन से) मिलने के उपाय के होने पर भी वासवदत्तारूप विघ्न की शङ्का की सत्ता (विदूषक के कथन के द्वारा इस प्रकार) दिखलायी गयी है—

'ऐसा ही है, यदि असमय की आँधी की तरह आकर महारानी वासवदत्ता दूसरी ओर न ले जायँ (अर्थात् दूसरे रूप में न परिणत कर दें)।'—इस कथन में अनिश्चित परिणामवाली समागम की प्राप्ति कही गयी है (अर्थात् समागम होगा कि नहीं, इस विषय में कोई निश्चय नहीं प्रतिपादित किया गया है)।

नियताप्तिमाह—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्— विदूषकः—'सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' (सागरिका दुष्करं जीविष्यति।) इत्युपक्रम्य 'किं ण उपायं चिन्तेसि।' (किं नोपायं चिन्तयसि?) इत्यनन्तरम् 'राजा— वयस्य! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

---

४. नियताप्ति को बतलाते हैं—

विघ्नों के अभाव के कारण (जब कि फल की) प्राप्ति पूर्ण निश्चित हो जाती है, तब नियताप्ति (नामक अवस्था) होती है ॥ २१ ॥

विघ्नों के समाप्त हो जाने के कारण जब कि यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि फल-प्राप्ति अवश्य होगी तब नियताप्ति (नामक अवस्था) होती है। जैसे रत्नावली में— **विदूषक**—'(महारानी की जेल में) सागरिका का जीना दूभर हो जायगा।'—इस प्रकार आरम्भ करके 'क्यों नहीं (उसे छुड़ाने का कोई) उपाय सोचते हो?' इसके पश्चात् राजा कहता है—'मित्र, महारानी की प्रसन्नता के अतिरिक्त इस विषय में कोई दूसरा उपाय नहीं देख रहा हूँ।' (तृतीय अङ्क, पृष्ठ १६९-१७०)। यहाँ अग्रिम (चतुर्थ) अङ्क की घटना के बिन्दु, महारानी के प्रसादन के द्वारा (उन्हीं) वासवदत्तारूप विघ्न के निवारण हो जाने से निश्चित फल-प्राप्ति की सूचना दी गयी है।

विशेष—ऊपर नियताप्ति का जो उदाहरण रत्नावली से उद्धृत किया गया है, वह मोटे-तौर से देखने पर अनुपयुक्त-सा प्रतीत होता है। वासवदत्ता अधीरा, प्रौढा तथा मानिनी नायिका है। इस प्रकार की स्त्रियाँ अपने पति नायक के किसी अन्य स्त्री के साथ सम्पन्न होनेवाले मिलन में सहायक होंगी या उसके लिए अनुमति देंगी—यह असम्भव-सा है। ऊपर के उदाहरण में स्वयं उदयन ने महारानी के मान जाने के विषय में अपनी निराशा व्यक्त की है। किन्तु वासवदत्ता के समग्र चरित को, जो कि रत्नावली में चित्रित हुआ है, देखने से उपर्युक्त उदाहरण संगत ही है। ऊपर के उदाहरण में उदयन के कहने का वस्तुतः भाव यही है कि—'इस विषय में महारानी को मनाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। किन्तु महारानी का मानना कुछ कठिन-सा (न कि असम्भव) अवश्य है।' अतः यह उदाहरण पूर्ण प्रसङ्गानुसारी है।

अपायाभावतः—अपायस्य = विघ्नस्य अभावतः = अपसरणात्, सुनिश्चिता = निःसन्दिग्धा। **अवधारितैकान्ता**—अवधारितः = निश्चयत्वेन चिन्तितः एकान्तः = अवश्यप्राप्तिः यस्याः सा, **देवीलक्षणापायस्य** = देवीरूपविघ्नस्य। नियताप्तेरुदाहरणमेतच्चिन्त्यं तत्र स्थले सागरिका प्राप्तेरनिश्चितत्वादिति तत्स्थलमेव विवेचयन्तु मनीषिणः।

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

सन्धिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

---

५. फलागम को बतला रहे हैं—

जैसा कि पहले कहा गया है, समस्त फल की प्राप्ति ही 'फलागम' है ।

जैसे कि रत्नावली में (महाराज उदयन को) रत्नावली की प्राप्ति से चक्रवर्ती-पद का लाभ—'फलागम' है ।

विशेष—यथोदितः—जैसा कि कहा गया है । यद्यपि ऊपर कहीं भी फलागम का स्वरूप इस प्रकार नहीं बतलाया गया है, फिर भी पीछे कारिका २० में **'फललाभाय भूयसे'** कह कर इसका स्पष्ट निर्देश अवश्य किया गया है । उसी की ओर यहाँ सङ्केत है ।

सन्धियों का लक्षण बतला रहे हैं—

विशेष—सन्धिलक्षणमाह—वस्तुतः यहाँ सन्धियों की संख्या या व्युत्पत्ति बतला रहे हैं । इनका लक्षण तो आगे बतलायेंगे ।

पाँच अवस्थाओं से मिलकर पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही क्रमशः मुख आदि पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं ।

(बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन) पाँच अर्थप्रकृतियों का क्रमशः (अवस्था, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम इन) पाँच अवस्थाओं के साथ संयोग होने से क्रम से ही आगे कही जानेवाली मुख आदि पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं ।

सन्धि का सामान्य लक्षण बतला रहे हैं—

(कथांशों का) एक प्रयोजन से अन्वय (अर्थात् सम्बन्ध) होने पर (उनका) किसी एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्धित होना ही सन्धि है ॥ २३ ॥

समग्रफलसम्पत्तिः—समग्रम् = अखण्डम् यत् फलम् = अभिप्रेतः परिणामः तेन सम्पत्तिः = सम्पन्नता ।

एकान्वये—एकेन = एकेन प्रयोजनेन अन्वयः = सम्बन्धस्तस्मिन् , **अन्तरैकार्थसम्बन्धः**—अन्तरः = अवान्तरः य एकार्थः = एकप्रयोजनम् तेन सम्बन्धः = अन्वयः, **सन्धिः**—सन्धीयते इति सन्धिः = संयोगः ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।
के पुनस्ते सन्धयः—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयं तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

किसी एक प्रयोजन से सम्बद्ध कथांशों का जब किसी दूसरे प्रयोजन से सम्बन्ध होता है तो वह (सम्बन्ध) ही सन्धि कहलाता है ।

ये सन्धियाँ कौन हैं ?

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और उपसंहृति ।

विशेष—सन्धिः—ग्रन्थकार के अनुसार सन्धि का लक्षण इस प्रकार है—किसी भी एक रूपक में मुख्य कथा के अतिरिक्त कई एक प्रासङ्गिक या गौण कथाएँ होती हैं । इन कथाओं के भी अपने-अपने प्रयोजन होते हैं । किन्तु ये प्रयोजन मुख्य कथा के प्रयोजन के पूरक होते हैं तथा इनका किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी सम्बन्ध हो सकता है । यही सम्बन्ध सन्धि कहा जाता है । मुख्य प्रयोजन से अन्वित कथांशों का किसी एक अवान्तर प्रयोजन से अन्वित होना ही सन्धि है । सन्धियों का शारीरिक ढाँचा इस प्रकार का है—

१. बीज + प्रारम्भ = मुखसन्धि,

२. बिन्दु + प्रयत्न = प्रतिमुखसन्धि,

३. पताका + प्राप्त्याशा = गर्भसन्धि,

४. प्रकरी + नियताप्ति = अवमर्शसन्धि,

५. कार्य + फलागम = उपसंहृति (उपसंहार या निर्वहण) सन्धि ।

जिस क्रम से सन्धियों का नामोल्लेख हुआ है, उसी क्रम से अब उनका लक्षण बतलाते हैं—

जहाँ अनेक प्रयोजनों तथा (शृङ्गारादि) रसों को उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है, वहाँ मुखसन्धि होती है । बीज (नामक अर्थप्रकृति) तथा आरम्भ (नामक कार्यावस्था) के सम्मिलन से इस (मुखसन्धि) के बारह भेद हो जाते हैं ।

जहाँ बीजों की उत्पत्ति होती है तथा जो अनेक प्रकार के प्रयोजनों एवं रसों की

नानार्थरससम्भवा—नाना = अनेकैः अर्थैः = वृत्तान्तैः रसैः = शृङ्गारादिभिश्च संभवः = उत्पत्तिः यस्याः सा तादृशी वा नाना = अनेकेषाम् अर्थानाम् = वृत्तान्तानाम् रसानाञ्च संभवः = उत्पत्ति यस्यां सा तादृशी ।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

बीजन्यास उपक्षेपः—

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ ३ ॥

निष्पत्ति का हेतु होती है वह मुखसन्धि है—इस तरह (इस कारिका की) यह व्याख्या है। ऐसी व्याख्या करने पर जिन प्रहसन आदि का फल त्रिवर्ग (अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम) नहीं है, उन (रूपकों) में भी रस की उत्पत्ति का हेतु (रस का आलम्बन, समाज का उपहास्य पक्ष) ही बीज माना जायगा।

विशेष—नानार्थरससम्भवा—इस पद में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द का अर्थ है 'प्रयोजन।' किन्तु इसका अर्थ त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) भी हो सकता है। लेकिन त्रिवर्ग अर्थ करने पर एक गड़बड़ी होगी। बीज में त्रिवर्ग के हेतु का संकेत किया जाता है। प्रहसन आदि में रसनिष्पत्ति अवश्य होती है, किन्तु उसमें त्रिवर्ग का अभाव पाया जाता है। ऐसी अवस्था में 'मुखसन्धि' की परिभाषा गड़बड़ा उठेगी। बस, इसी गड़बड़ी को रोकने के लिए 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' किया गया है। प्रहसनादि में भी तो बीज रहता ही है। किन्तु वहाँ पर बीज त्रिवर्ग का संकेतक नहीं अपितु प्रयोजन तथा रस का संकेतक होता है।

इस (मुखसन्धि) के बीज, आरम्भ तथा प्रयोजन से युक्त बारह अङ्ग होते हैं। उनको बतला रहे हैं—

(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) विलोभन, (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान, (८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) भेद तथा (१२) करण—(ये मुखसन्धि के द्वादश भेद हैं)। इनके नाम सार्थक हैं। अब इनका लक्षण बतला रहे हैं ॥ २६ ॥

यद्यपि इनकी व्याख्या इनके नामों से ही हो गयी है, तथापि सरलता के लिए (इनका) लक्षण बतला रहे हैं—

(१) उपक्षेप—

बीज का न्यास उपक्षेप कहा जाता है (अर्थात् रूपक के आरम्भ में जब कवि प्रत्यक्षरूप से या अप्रत्यक्षरूप से बीज का न्यास करता है, तो उसे उपक्षेप कहते हैं)।

अनेकप्रकारप्रयोजनस्य—अनेकप्रकाराणि = विविधानि प्रयोजनानि यस्य तादृशस्य रसस्य। **अत्रिवर्गफले**—प्रहसनादौ केवलं हास्यादीनां सत्तायाः सत्त्वात्तत्र धर्मार्थकामानामभावो ज्ञेयः।

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः।

परिकरमाह—

—तद्बाहुल्यं परिक्रिया।

यथा तत्रैव—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम्।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः।

परिन्यासमाह—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः॥ ४॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः।

जैसे रत्नावली नाटिका में—

[1](पर्दे के पीछे) 'अनुकूल भाग्य दूसरे द्वीप से भी, सागर के बीच से भी, दिशा के छोर से भी, चाहे गये (व्यक्ति अथवा पदार्थ) को शीघ्र लाकर मिला देता है।' (१–६)। इत्यादि कथन के द्वारा यौगन्धरायण ने वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति के कारणभूत भाग्य के सहित अपने व्यापार को बीज के रूप में रक्खा है—अतः यह उपक्षेप है।

(२) परिक्रिया (या परिकर)—

उपक्षेप (अर्थात् बीजन्यास) की वृद्धि ही परिकर है।

जैसे वहीं (रत्नावली, पृष्ठ १४) में—

'नहीं तो, कहाँ सिद्धि प्राप्त किये हुए महात्मा के वचन के विश्वास से माँगी गयी, (तथा वहाँ आने के समय) समुद्र में जहाज के टूट जाने से डूबती हुई, सिंहल देश के राजा की पुत्री का काष्ठ के चौड़े तख्ते की प्राप्ति'—यहाँ से आरम्भ कर 'सब तरह से स्वामी को अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं।' यहाँ तक बीज की उत्पत्ति की ही प्रचुरता प्रदर्शित करने के कारण यहाँ परिकर है।

(३) परिन्यास—

उस (बीजन्यास) की सफलता (सिद्धि) परिन्यास कहलाती है।

जैसे वहीं (रत्नावली में ही)—'स्वामी के (चक्रवर्तीपद-रूप) अभ्युदय के कारणभूत इस कार्य में भाग्य के द्वारा इस तरह हाथ का सहारा देने पर (अर्थात्

---

१. मुद्रितपुस्तकेषु नायं पाठो नेपथ्ये पठितः। विवृते मञ्चे सूत्रधारस्य नटीं प्रतीदं कथनमास्ते। **तद्बाहुल्यम्**—तस्य = उपक्षेपस्य बाहुल्यम् = प्राचुर्यम् सुस्पष्टमुद्भेद इति यावत्। **तन्निष्पत्तिः**—तस्य बीजन्यासस्य निष्पत्तिः = सफलता, सिद्धिरिति यावत्।

विलोभनमाह—

गुणाख्यानं विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन् ।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥ ५ ॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहे-

---

भाग्य के द्वारा भी सहायता करने पर) सफलता के विषय में सन्देह नहीं है, (यह तो) सत्य है । तो भी अपनी इच्छा से ही कार्य करनेवाला (मैं) स्वामी से डर ही रहा हूँ ।' (१–७) ।—इस कथन के द्वारा यौगन्धरायण ने अपने उद्योग तथा भाग्य की फल-सम्पन्नता बतलायी है । अतः यहाँ 'परिन्यास' है ।

विशेष—उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास—ये बीज की तीन अवस्थाएँ हैं । इनमें तात्विक भेद न होकर अवस्थाकृत भेद है । जैसे एक सुयोग्य कृषक समय आने पर खेत में बीज डालता है (अर्थात् बीज का उपक्षेप करता है) । तदनन्तर उस बीज में अंकुर आदि निकलते हैं (अर्थात् बीज का बाहुल्य होता है) और फिर बाद में कृषक के सुन्दर खाद आदि प्रदान करने रूप उद्योग तथा दैव के द्वारा समयानुसारी वृष्टिरूप सहायता करने पर यह निश्चय हो जाता है कि अब कृषक का उद्योग और दैव की अनुकूलता सफल होगी अर्थात् बीज अनुकूल परिणाम प्रदान करेगा । ठीक इसी प्रकार रूपक की मुखसन्धि में सर्वप्रथम बीज नामक नाटकीय तत्त्व का न्यास होता है । यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है । फिर उसको पुष्कल बनाया जाता है और अन्त में उसकी सफलता का निश्चय होता है । कहने का भाव यह है कि मुखसन्धि में सम्पूर्ण कथानक का एक लघुकाय ढाँचा उपस्थित कर दिया जाता है ।

(४) विलोभन को बतला रहे हैं—

(नायक आदि के) गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है ॥ २७ ॥

जैसा कि रत्नावली में है—

'सम्प्रति सन्ध्याकाल की बेला में आकाश के पार पहुँचे हुए सूर्य के (अपनी) समस्त किरणों के अस्ताचल के ऊपर बिखेर देने पर, एक ही साथ सभामण्डप में आता हुआ यह राज-मण्डल चन्द्रमा के समान नेत्रों की प्रीति को बढ़ानेवाले आप (महाराज) उदयन के, कमलों की कान्ति को छीन (कर अपने में ले) लेनेवाले चरणों की सेवा करने के लिए ऊपर की ओर निगाह उठाए हुए देख रहा है ।' (१–२३) ।

इस तरह वैतालिक (भाट, चारण) के मुख से चन्द्रमा के सदृश (सुन्दर)

गुणाख्यानम्—गुणानाम् = नायकनायिकादिसत्प्रकृतीनाम् आख्यानम् = कथनम् ।

त्वनुराग-बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥ ६ ॥

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

अथ युक्तिः—

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

वत्सराज उदयन के गुणों (अर्थात् सौन्दर्य आदि) का वर्णन करके (नायिका) सागरिका का विलोभन (आकर्षण) किया गया है, जो (नायक उदयन तथा नायिका सागरिका के) समागम के हेतुभूत (सागरिका के) अनुरागरूपी बीज का जनक है, अतः यहाँ विलोभन (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है ।

अथवा जैसा कि वेणीसंहार में है—

'मन्थन से क्षुब्ध सागर के जल से व्याप्त गुफाओंवाले घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, लाखों डमरुओं तथा दश हजार नगाड़ों पर एक साथ प्रहार होने पर गरजती हुई प्रलयकालीन मेघ-घटाओं की परस्पर टकराहट की तरह भयङ्कर, द्रौपदी के क्रोध का सूचक, कुरुवंश के विनाश के अपशकुनस्वरूप प्रचण्ड वायु के समान, हमारे सिंह-गर्जन की प्रतिध्वनि के सदृश, यह भेरी किसके द्वारा बजायी जा रही है ?' (१–२२) ।

यहाँ से प्रारम्भ करके 'यशोदुन्दुभिः' (१–२५) तक (का अंश) 'विलोभन' है, क्योंकि इसमें द्रौपदी का विलोभन (नायक भीम के प्रति आकर्षण) किया गया है ।

(५) युक्ति—

अब युक्ति को बतला रहे हैं—

कर्तव्य विषयों का उद्देश्य अर्थ को सम्पन्न करनेवाली युक्ति के अनुरूप अवधारण या समर्थन ही युक्ति है । (अर्थात् जहाँ युक्तियों के द्वारा अपने कृत या प्रस्तावित कार्यों का औचित्य सिद्ध किया जाता है, वहाँ युक्ति नामक मुख-सन्धि का अङ्ग होता है) ।

चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया—चन्द्रतुल्यः = चन्द्रसदृशः यो वत्सराजः = नायक उदयनः तस्य गुणस्य = सौन्दर्यस्य वर्णनया = कथनेन, सागरिकायाः विलोभनादिति सम्बन्धः, **समागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येन**—समागमः = रहसि मिलनं तस्य हेतुः = कारणम् योऽनुरागः स एव बीजं तस्य आनुगुण्येन = आनुकूल्येन, जनकतयेति यावत्, **विलोभनम्**—विलोभ्यते इति विलोभनम् । **सम्प्रधारणमिति**—अर्थानाम् = कर्तव्यविषयाणाम् सम्प्रधारणम = उद्देश्यार्थोपपादकयुक्तिप्रदर्शनम् , **युक्तिः**—योगो युक्तिः ।

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। कथितं च मया यथा बाभ्राव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटितः।' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्य-सिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति।

अथ प्राप्तिः—

—प्राप्तिः सुखागमः।

यथा वेणीसंहारे—'चेटी—भट्टिणि, परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीअदि।' [भर्त्रि, परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।] इत्युपक्रमे भीमः—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥ ७॥

जैसे कि रत्नावली (पृ० १६) में (यौगन्धरायण कहता है)—'और इस (सिंहलेश्वर की पुत्री) को आदर के साथ महारानी के हाथ में समर्पित करनेवाले मेरे द्वारा भी ठीक ही किया गया है (अर्थात् आदर के साथ महारानी के हाथों में इसे समर्पित कर मैंने भी ठीक ही किया है)। और मैंने कहा भी है कि—बाभ्रव्य कञ्चुकी भी सिंहल के राजा के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र से निकल कर कोशल (के राजा) के विनाश के लिए गये हुए रुमण्वान् से मिल गया है।'

इस कथन से, रनिवास में स्थित सागरिका का आसानी से वत्सराज उदयन की आँखों के सामने आ जाना रूप प्रयोजन को तथा बाभ्रव्य एवं सिंहलेश्वर के मन्त्री (वसुभूति) का अपने (अर्थात् यौगन्धरायण के) नायक (उदयन) के समागम (अर्थात् रत्नावली-मिलन) में हेतु होना आदि को प्रयोजन के रूप में निश्चय करने के कारण यहाँ युक्ति (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है।

(६) प्राप्ति—

अब प्राप्ति (नामक मुखसन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं—

जहाँ (नायक अथवा नायिका को एक-दूसरे को देखकर या सुन कर) सुख का अनुभव होता है, वहाँ प्राप्ति (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) होता है।

जैसे वेणीसंहार (पृ० ३२) में—चेटी (द्रौपदी) से कहती है—'स्वामिनी, कुमार क्रुद्ध से दिखलाई पड़ रहे हैं।' इस सन्दर्भ में भीम कहते हैं—

'(मैं) संग्राम में क्रोधवश सौ कौरवों के समूह को नहीं तहस-नहस (विनष्ट) कर डालूँगा? दुःशासन के वक्षःस्थल से रक्त को नहीं पी जाऊँगा? गदा से दुर्योधन की जाँघों को नहीं चूर्ण कर डालूँगा? आपका राजा (युधिष्ठिर भले ही) शर्त से

दर्शनादिरिति—आदिशब्देनालापादयो ग्राह्याः। **स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेन**—स्वस्य=यौगन्धरायणस्येत्यर्थः यो नायकः=नेता वत्सराजः तस्य समागमः=रत्नावल्या सह संयोगः तत्र हेतुः=कारणं स एव प्रयोजनम=उद्देश्यम् तस्य भावस्तेन, अवधारणात्=निश्चयकरणात्।

द्रौपदी—[श्रुत्वा सहर्षम्] 'णाध, अस्सुदपुव्वं खु एदं वअणं ता पुणो पुणो भण ।' (नाथ, अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—सागरिका—[श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती] 'कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एतस्स दंसणेण बहुमदं संजादम् ।' ['कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्परप्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्'] इति सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरिति ।

अथ समाधानम् ।

बीजागमः समाधानम्—

सन्धि कर ले (अर्थात् मैं कौरवों के पूरे समूह को नष्ट कर डालूँगा । दुःशासन की छाती फाड़ कर उसका खून भी पी जाऊँगा । गदा से दुर्योधन की जाँघें भी तोड़ डालूँगा । अब ऐसी अवस्था में भी यदि आपका राजा सन्धि कर लेना चाहता है तो कर ले) ॥" १–१५ ।

द्रौपदी—(बड़ी प्रसन्नता के साथ, एक ओर) "स्वामिन्, आपका ऐसा वचन पहले कभी नहीं सुना गया था । अतः सम्प्रति फिर से (इसे) कहिये ।"

यहाँ भीम के क्रोधस्वरूप बीज के सम्बन्ध से ही द्रौपदी को सुख की प्राप्ति होती है । अतः यहाँ प्राप्ति (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे रत्नावली (पृ० ५४) में (वैतालिकों का कथन सुनकर)—

सागरिका—(सुन कर, हर्ष के साथ मुड़ कर, राजा को अभिलाषापूर्वक देखती हुई) "क्या यह वही राजा उदयन हैं, जिनके लिए (अर्थात् जिनसे विवाह करने के लिए) मैं पिताजी के द्वारा (यौगन्धरायण) को समर्पित की गयी थी । तो दूसरे की चाकरी (करने) से दूषित भी मेरा जीवन इनके दर्शन से सम्प्रति धन्य हो गया (सम्माननीय बन गया) ।"

यहाँ सागरिका को (नायक उदयन के दर्शन से) सुख मिलने के कारण प्राप्ति (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है ।

७—समाधान—

अब समाधान (नामक मुख-सन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं—

बीज का उपादान (अर्थात् युक्ति के द्वारा बीज का पुनः उपस्थितीकरण) समाधान कहलाता है ।

बीजागमः—बीजस्य आगमः = युक्त्या पुनरुपस्थापनम्, **समाधानम्**—सम्यगाहितत्वात् समाधानम् । अत्रेदं ध्येयं यद्बीजस्य न्यासस्तु पूर्वमेव कृत आस्ते । किन्त्वत्र न्यस्तस्य तस्य पुनरुपस्थापनं भवतीति हृदयम् ॥

यथा रत्नावल्याम्—वासवदत्ता—'तेण हि उअणेहि मे उवअरणाइं ।' [तेन ह्युपनय मे उपकरणानि ।] सागरिका—'भट्टिणि, एदं सव्वं सज्जम् ।' ['भर्त्रि, एतत्सर्वं सज्जम् ।'] वासवदत्ता—(निरूप्यात्मगतम्) 'अहो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिट्ठिगोअरं आअदा, भोदु एव्वं दाव ।' (प्रकाशम्) 'हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा । ता तहिं ज्जेव गच्छ ।' ['अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता, भवतु एवं तावत् । चेटि सागरिके, कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ ।'] इत्युपक्रमे सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कुतूहलं । ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम् ।' ['सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये ।'] इत्यनेन । वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—भीमः—'भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन-

---

जैसे रत्नावली (पृ० ४४) में—

वासवदत्ता—"तो मुझे (पूजा के लिए) सामग्रियाँ लाओ ।"

सागरिका—"स्वामिनि, यह सब तैयार है ।"

वासवदत्ता—(देख कर अपने-आप) "सेविकाओं की लापरवाही आश्चर्यजनक है । जिसकी ही आँखों से प्रयत्नपूर्वक बचायी जा रही है, उसीकी आँखों के सामने कैसे आ गयी ? अच्छा तो इस प्रकार (कहूँगी)" । "सखि सागरिके, आज सेवक-सेविकाओं के मदन-महोत्सव में व्यस्त होने पर (भी) तुम सारिका को छोड़ कर कैसे यहाँ चली आयी ? तो वहीं अतिशीघ्र जाओ ।" इस उपक्रम में (सागरिका कहती है)—

सागरिका—(अपने आप) "सारिका तो मेरे द्वारा सुसङ्गता के हाथ में सौंप दी गयी है । और मुझे (अनङ्ग-पूजा) देखने की उत्कण्ठा है । अतः छिप कर देखूँगी ।"

इस प्रसङ्ग से वासवदत्ता के द्वारा रत्नावली और वत्सराज के (परस्पर) दर्शन को रोकने से (सागरिका के द्वारा) सारिका को सुसंगता के हाथों में सौंपने तथा छिप कर देखने से (सागरिका के साथ) वत्सराज उदयन के समागम के हेतुरूप बीज का उपस्थापन करने से (यहाँ) समाधान (नामक मुख-सन्धि का अंग) है ।

और जैसा कि वेणीसंहार (पृ० ४४) में (भीम कहते हैं)—

भीम—"ठीक है, पाञ्चालराज की कुमारी (द्रौपदी), सुनिये । अत्यल्प ही समय में—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥ ८ ॥

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम् ।

अथ विधानम्—

विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधवः—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ ९ ॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥ १० ॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति ।

हे देवि, चञ्चल भुजाओं के द्वारा घुमाई गयी प्रचण्ड गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दोनों जाँघों वाले दुर्योधन के चिकने, चिपके हुए, गाढ़े रक्त से लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशों को अलंकृत करेगा ॥" १–२१ ॥

इस कथन से (द्रौपदी की) चोटी को सँवारने के हेतु (भीम के) क्रोधरूपी बीज का फिर से ग्रहण करने के कारण (यहाँ) समाधान (नामक मुख-सन्धि का अंग) है।

८—विधान—

अब विधान (नामक मुख-सन्धि के अंग को) बतला रहे हैं—

जो (प्रसङ्ग) सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला है, उसे विधान कहते हैं ॥ २८ ॥

जैसे कि 'मालतीमाधव' के प्रथम अंक में माधव (कहता है)—

माधव—"थोड़ा बगल की ओर मुड़े हुए कमल के समान बार-बार किञ्चित् मोड़ी गयी गर्दन वाले मुख को धारण करती हुई, प्रशस्त रोमावलियों से युक्त नेत्रों वाली, जाती हुई मालती ने अमृत एवं विष में मानो सना हुआ कटाक्ष मेरे हृदय में कस कर गाड़ दिया है ॥" १–३० ।

माधव (अपने आप) कहता है—"जो (मेरा हृदय) उस (मालती) के पास में रहने पर आश्चर्य से निश्चल था, जिसके सारे अन्य भाव अस्त हो गये थे, जो मानो अमृत में स्नान करने के कारण आनन्द से स्तब्ध हो गया था, वही मेरा हृदय अब (उसके विरह में) अंगारों से छुआ हुआ-सा व्यथित हो रहा है ।" (१।२०)

सुखदुःखकृत्—सुखदुःखे = हर्षशोकौ करोतीति तादृशम्, **विधानम्**—विधीयते इति विधानम् । अत्र समकालमेव सुखदुःखयोरुपस्थितिरिति ध्येयम् ॥

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—'णाध पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा।' ['नाथ, पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।'] भीमः—'ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया'।

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्॥ ११॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति।

यहाँ मालती का (माधव को) सविलास देखना तथा (माधव का मालती के प्रति) अनुराग (उन दोनों के) मिलन का हेतु है और वह बीज के अनुसार ही माधव के सुख तथा दुःख को करने वाला है। अतः यहाँ विधान (नामक मुख-सन्धि का अंग) है।

तथा जैसे वेणीसंहार (पृ० ५६–५८) में द्रौपदी कहती है—

द्रौपदी—"स्वामिन्, युद्ध से लौटकर आप फिर भी हमें सान्त्वना प्रदान करें (अर्थात् आप सकुशल युद्ध से लौट कर हमें सान्त्वना प्रदान करें)।"

भीम—"अरी पाञ्चाल की राजकुमारी, अब भी झूठे आश्वासन से क्या (प्रयोजन)?"

नहीं समाप्त कर दिया है कौरवों को जिसने ऐसे (अर्थात् कौरवों को विनष्ट न किये हुए) अतः तिरस्कारजन्य शिथिलता तथा लज्जा से दीनमुखवाले भीम को फिर नहीं देखोगी (अर्थात् कौरवों का विनाश किये विना मैं तुम्हें मुख न दिखलाऊँगा)।" (१।२६)

इस कथन में संग्राम के सुख तथा दुःख का हेतु होने के कारण यहाँ विधान (नामक मुख-सन्धि का अंग) है।

विशेष—विधानं सुखदुःखकृत्—इसका सारांश यह है कि एक समय में ही एक ही व्यक्ति में, जो रूपक का उच्च पात्र या उसके उच्च पात्रों में होता है, सुख तथा दुःख का भाव जहाँ हो वहाँ 'विधान' नामक मुख-सन्धि का अंग होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर दशरूपक के उपर्युक्त दोनों ही उदाहरण अनुपयुक्त हैं। साहित्य-दर्पण में इसका सुन्दर उदाहरण 'बालचरित' से प्रस्तुत किया गया है। वह इस प्रकार है—

'उत्साहातिशयं वत्स! तव बाल्यं च पश्यतः।
मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः॥'

"हे वत्स, (एक ओर) तुम्हारे उत्साह के सागर को देख कर तथा (दूसरी ओर) तुम्हारे बचपन को देख कर मेरा मन एक साथ ही हर्ष तथा विषाद से बोझिल हो उठा है॥"

अथ परिभावना—

परिभावोऽद्भुतावेशः—

यथा रत्नावल्याम्—सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) 'कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि। ता अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सम्।' ['कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीक्षते। तद् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि'।] इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—'किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि।' ['किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते'] इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना।

९—परिभावना—

अब परिभावना या परिभाव (नामक मुख-सन्धि के अंग) को बतला रहे हैं—

(जहाँ पात्र के कथन में) अद्भुत (भाव) का असर (हो वहाँ) परिभाव (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) होता है।

जैसे रत्नावली (पृ॰ ५०) में सागरिका कहती है—

सागरिका—(देख कर आश्चर्यपूर्वक) "क्या (यहाँ) कामदेव प्रत्यक्ष ही पूजा स्वीकार करते हैं ? तो मैं भी यहाँ खड़ी रह कर ही इनकी पूजा करूँगी।"

वत्सराज उदयन का कामदेव के रूप में निराकरण (छिपना) होने के कारण तथा कामदेव का प्रत्यक्ष पूजा ग्रहण करने के लोकोत्तर कार्य होने से यहाँ अद्भुत रस का समावेश है, अतः यह परिभावना (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० ५४) में द्रौपदी कहती है—

द्रौपदी—"स्वामिन्, प्रलयकालीन मेघ के गर्जन के समान गम्भीर यह युद्ध का नगाड़ा क्यों पीटा जा रहा है ?"

यहाँ युद्ध के नगाड़े की लोकोत्तर ध्वनि (को सुनने) से द्रौपदी के (हृदय में) विस्मय-रस का असर (आवेश) होने के कारण यहाँ परिभावना (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है।

विशेष—विस्मयरसावेशात्—यहाँ विस्मय-रस के स्थान पर अद्भुत-रस का पाठ होना चाहिए, क्योंकि विस्मय नाम का कोई रस ही नहीं है। रत्नावली वाले उदाहरण के प्रसङ्ग में ऊपर अद्भुत-रस का ही उल्लेख हुआ है।

१०—उद्भेद—

विस्मयरसावेशादिति। विस्मयरस इति यद्धनिकेनोक्तं तत्त्वसमीचीनमेव विस्मयस्यस्थायित्वेऽद्भुतस्य रसत्वात्।

अथोद्भेदः—

उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः ।

यथा च वेणीसंहारे—'आर्य, किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः ।' इत्युपक्रमे (नेपथ्ये)

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥ १२ ॥

भीमः—(सहर्षम्) 'जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेदः ।

अब उद्भेद (नामक मुख-सन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं ।

(जहाँ अब तक) प्रच्छन्न (बीज के अनुकूल किसी गूढ़ बात) को स्वल्प प्रकट कर दिया जाय (अर्थात् गूढ का भेदन हो) वहाँ उद्भेद (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग होता) है ।

जैसे रत्नावली (पृ० ५०-५२) में वत्साधिपति उदयन का, जो अब तक कामदेव के नाम से प्रच्छन्न थे, वैतालिक के "अस्तापास्त" (१।२३) इत्यादि से प्रारम्भ कर 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' (१।२३) यहाँ तक के वचन से, (अनुरागरूपी) बीज के अनुकूल ही, (उदयन को) प्रकट कर देने के कारण यहाँ उद्भेद (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है ।

अथवा जैसे वेणीसंहार (पृ० ५२) में (भीम जयन्धर से पूछते हैं—) "आर्य, अब बड़े भाई क्या निश्चय कर रहे हैं ?"—ऐसा उपक्रम करने पर (पर्दे के पीछे से कहा जाता है)—

"सत्य प्रतिज्ञा के उल्लंघन से भयभीत मनवाले (युधिष्ठिर) के द्वारा जो यत्न-पूर्वक मन्द की गयी थी, कुल की शान्ति चाहने वाले, शान्ति धारण करने वाले (उनके) द्वारा जो भुला देना भी चाही गयी (अर्थात् जिसे उन्होंने भुला देना भी चाहा ऐसी); जुआरूप अरणि से उत्पन्न वह युधिष्ठिर की क्रोधरूपी चिनगारी द्रौपदी के केश और वस्त्र के खींचने से विशाल (होकर) सम्प्रति कुरु (कुल) रूपी वन में भड़क उठी है ॥" १–२४ ।

भीम—(हर्ष पूर्वक) "बढ़े, सम्प्रति आर्य की क्रोधाग्नि बे रोक-टोक (बिना रुके) बढ़े ।"

इस कथन के द्वारा (अब तक) छिपे हुए, द्रौपदी के केश-कलाप को सजाने-सँवारने के हेतु, युधिष्ठिर के कोप का उद्भेदन (प्रकाशन) करने से यहाँ 'उद्भेद' (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है ।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भः—

यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्सम्।' ['नमस्ते कुसुमायुध, अमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद्गमिष्यामि।'] इत्यनेनानन्तराङ्कप्रकृतिनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय, सहदेवः—आर्य, गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।'

विशेष—उद्भेदो गूढभेदनम्—जैसे खेत में बीज डालने पर कुछ काल तक बीज का पोषण होता है और फिर अनुकूल परिस्थितियों को पाकर वह फूट पड़ता है। इसी प्रकार कवि के द्वारा भी बीज का सङ्केत तो पहले ही कर दिया जाता है तथा वह अभी तक प्रच्छन्न ही बना रहता है। किन्तु बीज का प्रकटीकरण इस उद्भेद के ही अन्तर्गत होता है।

भावप्रकाशन (२१।७६) तथा साहित्यदर्पण (६।८६) में अपेक्षाकृत इसका अधिक स्पष्ट लक्षण किया गया है—

'बीजार्थस्य प्ररोहो य उद्भेदस्तु प्रकीर्तितः' (भाव० २१।७६)

'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' (सा० द० ६।८६)

अर्थात् "बीज का किञ्चित् अङ्कुरित होना ही उद्भेद है।" यहाँ यह ध्यान रखना है कि उद्भेद बीज का ही होता है।

११—करण—

अब करण (नामक मुख-सन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं—

प्रकृत (अर्थात् रूपक की मुख्य कथा-वस्तु) का आरम्भ ही करण है।

जैसे रत्नावली (पृ० ५०) में सागरिका कहती है—"भगवन् कुसुमायुध (कामदेव), तुम्हें प्रणाम। मेरे लिए अमोघ दर्शनवाले होइएगा (अर्थात् मेरे लिए आपका दर्शन सफल हो)। देख लिया जो देखना था। तो जब तक कोई मुझको देख नहीं लेता तब तक (यहाँ से) चली जाऊँगी।" इस (कथन) के द्वारा आगे वाले अङ्क में सम्पन्न होने वाले (उदयन तथा सागरिका के परस्पर) निर्विघ्न दर्शन का आरम्भ (निर्देश) करने के कारण यहाँ करण (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है।

अथवा जैसे वेणीसंहार (पृ० ५६) में—

भीम—"तो द्रौपदी, सम्प्रति हम कुरुकुल के विनाश के लिए जा रहे हैं।"

सहदेव—"आर्य, बड़े लोगों से अनुमति पाये हुए (अर्थात् अनुमति प्राप्त कर) हम लोग अपने पराक्रम के लायक आचरण करने के लिए अब चलें।"

उद्भेदो गूढभेदनम्—उद्भेदः प्रकाशनमिति यावत्। गूढस्य=आदौ निक्षिप्तस्य बीजस्य भेदनम्=प्ररोहः॥ अत्र वेणीसंहारस्योदाहरणं न सुसमीचीनं तत्रादौ युधिष्ठिरकोपबीजस्यासद्भावात्॥

इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देश-वैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

अथ भेदः—

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

यथा वेणीसंहारे—'णाध, मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिद-सरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउबलाइ।' ['नाथ, मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।'] भीमः—अयि सुक्षत्रिये,

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।

इस कथन से आगे के अङ्क में घटित होने वाले युद्ध का आरम्भ (निर्देश) करने के कारण यहाँ करण (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है।

यहाँ सर्वत्र क्रिया का क्रम विवक्षित न होने के कारण उद्देश्य और प्रतिनिर्देश (अर्थात् विधेय) का क्रम-परिवर्तन हो गया है॥

विशेष—सर्वत्रेत्यादि—वाक्य में पहले उद्देश ('कुरुकुलक्षयाय' तथा 'विक्रमानुरूपमाचरितुम्') का प्रयोग होना चाहिए तथा बाद में विधेयरूप क्रिया ('गच्छामः') का। किन्तु भीम तथा सहदेव के वाक्यों में पहले 'गच्छामः' इस क्रियारूप विधेय का ही उल्लेख किया गया है और उद्देश ('कुरुकुलक्षयाय' तथा 'विक्रमानुरूपमाचरितुम्') का बाद में। यह दोष है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए धनिक कहते हैं कि—यहाँ वाक्य में क्रिया (अर्थात् विधेय) का क्रम कवि को विवक्षित नहीं है। अतः उद्देश तथा विधेय के क्रम में विषमता है॥

१२—भेद—

अब भेद (नामक मुख-सन्धि के अङ्ग को) बतला रहे हैं—

प्रोत्साहन को भेद माना गया है॥ २९॥

जैसे वेणीसंहार (पृ० ५८) में—

द्रौपदी—"नाथ! नहीं, द्रौपदी के (अर्थात् मेरे) अपमान से प्रचण्ड कोपवाले आप लोग शरीर की विना परवाह किये मत (युद्ध में) विचरण करेंगे। क्योंकि सुना जाता है कि शत्रु की सेना सावधानीपूर्वक विचरण की जाने वाली होती है (अर्थात् शत्रु की सेना में सावधान होकर विचरण करना चाहिए)।

भीम—"अयि सुक्षत्रिये,

परस्पर टकराने से क्षत-विक्षत हाथियों के रक्त, चर्बी, मांस और मस्तिष्क के कीचड़ में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रख कर पराक्रम प्रदर्शित कर रही पैदल सेनावाले (अर्थात् पराक्रम प्रदर्शित कर रही है पैदल सेना जिसमें ऐसे), विपुल रुधिर की पान-गोष्ठी में चिल्लाती हुई अमङ्गलकारी, सियारिनरूपी तुरही पर नाच रहे धड़-भाग वाले (अर्थात्

स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥१३॥

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य, किञ्चिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः—प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम्।

नाच रहे हैं धड़-भाग जिसमें ऐसे), युद्ध-रूपी अनुपम सागर के मध्य-जल में विचरण करने में पाण्डु के पुत्र (अर्थात् हम लोग) प्रवीण हैं॥" १–२७।

इस (कथन) के द्वारा क्रोध और उत्साहरूपी बीज के अनुरूप ही खिन्न द्रौपदी को प्रोत्साहन देने के कारण यहाँ 'भेद' (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) है॥

मुख-सन्धि के ये १२ अङ्ग बीज (नामक अर्थप्रकृति) तथा आरम्भ (नामक कार्यावस्था) के द्योतक हैं (अर्थात् बीज और आरम्भ के संयोग से मुख-सन्धि का निर्माण होता है। उपक्षेप, परिकर आदि इसी मुख-सन्धि के अङ्ग होते हैं। अतः जहाँ इनकी सत्ता हो वहाँ समझना चाहिए कि यहाँ बीज तथा आरम्भ के संयोग के परिणाम-स्वरूप मुख-सन्धि है)। मुख-सन्धि के इन अङ्गों को किसी रूपक में साक्षात् या परम्परया विधान किया जाना चाहिए। (किसी भी रूपक में यदि इन सबका विधान न भी किया जा सके तो) इनमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद तथा समाधान का तो अवश्य ही विधान करना चाहिए।

प्रतिमुख-सन्धि

अब अङ्गों के सहित प्रतिमुख सन्धि का वर्णन कर रहे हैं—

(जहाँ) उस (बीज) का कुछ-कुछ लक्ष्यरूप में और कुछ-कुछ अलक्ष्यरूप में प्रकाशन (उद्भेद) होता है (वहाँ) प्रतिमुख-सन्धि होती है (अर्थात् जहाँ पर बीज का प्रस्फुटित होना कुछ लोगों को ज्ञात हो तथा कुछ को पूर्णरूप से निश्चय के साथ ज्ञात न हो वहाँ प्रतिमुख-सन्धि होती है)। बिन्दु (नामक अर्थप्रकृति) तथा प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के संयोग से (इसका निर्माण होता है)। इसके तेरह अङ्ग होते हैं॥ ३० ॥

(मुख-सन्धि में स्थापित किये गये) उस (बीज) का कुछ-कुछ दिखलायी पड़ने तथा कुछ-कुछ दिखायी न पड़ने की-सी अवस्था में उद्भेद अर्थात् फूट पड़ना ही

लक्ष्यालक्ष्यतया—लक्ष्यम्=अवलोकनीयम् च अलक्ष्यम्=अनवलोकनीयम्, तिरोदधदिति यावत्, लक्ष्यालक्ष्यं तस्य भावस्तया, उद्भेदः=प्रस्फुटनम्, **बिन्दुप्रयत्नानुगमात्**—बिन्दुप्रयत्न-योर्मिश्रणात्॥

यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेद; प्रतिमुखसन्धिरिति ।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥ १४ ॥

इत्यादिभिः—

दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥ १५ ॥

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।

मुख-सन्धि है। जैसे कि रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में, वत्सराज उदयन तथा सागरिका के (भावी) समागम के हेतु, प्रथम अङ्क में स्थापित किये गये, सुसङ्गता एवं विदूषक के द्वारा जान लेने के कारण कुछ-कुछ दिखलायी देने वाले तथा चित्रफलक (अर्थात् सागरिका के द्वारा निर्मित उदयन की छवि) के वृत्तान्त से (अर्थात् चित्रफलक के पकड़े जाने से) वासवदत्ता के द्वारा कुछ-कुछ अन्दाज में लगाये गये (अतः अलक्ष्य), (उदयन तथा रत्नावली के) अनुरागरूपी बीज के कुछ-कुछ प्रकट (दृश्य) तथा कुछ-कुछ अप्रकट (अदृश्य) अवस्था से प्रकट हो जाना ही प्रतिमुख-सन्धि है।

वेणीसंहार के भी दूसरे अङ्क में, भीष्म आदि (प्रमुखतम योद्धाओं) के वध कर दिये जाने से कुछ-कुछ दिखलायी पड़ने वाले (अर्थात् लक्ष्य) तथा कर्ण आदि (महान् योद्धाओं) के वध न किये जाने से (अर्थात् जीवित रहने पर) दिखलायी न पड़ने वाले (अर्थात् अलक्ष्य) क्रोधरूपी बीज का उद्भेद (अर्थात् फलोन्मुखता) भी (प्रतिमुख-सन्धि है)।

"पाण्डु-पुत्र (अर्थात् युधिष्ठिर) संग्राम में अपने बल से (अर्थात् जबर्दस्ती) अतिशीघ्र नौकर-चाकरों, भाई-बन्धुओं, मित्रों, पुत्रों तथा छोटे भाइयों के सहित दुर्योधन को मार डालेगा।" (वेणी० २।५)

इत्यादि कथनों के द्वारा

(दुर्योधन)—"दुःशासन के वक्षःस्थल के रक्तरूपी जल के पीने के विषय में तथा गदा से दुर्योधन की जाँघें तोड़ने के विषय में तेजस्वी पाण्डवों की जैसी प्रतिज्ञा (पूर्ण हुई), वैसी ही समराङ्गण में जयद्रथ के विषय में भी समझनी चाहिए (अर्थात् जैसे पहले की कतिपय प्रतिज्ञाएँ नहीं पूरी हुईं उसी तरह यह जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा भी नहीं पूर्ण हो सकेगी) ॥" २-२८ ।

इत्यादि कथनों के द्वारा भी (बीज का) जो प्रकट होना है, वह प्रतिमुख सन्धि है।

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्—

विशेष—(क) दशरूपककार ने प्रतिमुख-सन्धि का जो लक्षण किया है, वृत्तिकार धनिक ने न तो उसकी ठीक-ठीक व्याख्या ही की है और न योग्य उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। जिन उदाहरणों को वे 'प्रतिमुख-सन्धि' के लिए दिये हैं उन पर जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धनिक ग्रन्थकार के भाव को न तो समझ सके हैं और न वे स्वयं किसी एक व्याख्या को ही दृढ़ता के साथ प्रस्तुत कर सके हैं। उदाहरणार्थ अपने प्रथम उदाहरण में धनिक ने 'लक्ष्यालक्ष्यतया' का अर्थ किया है—'ज्ञात (लक्ष्य) तथा अज्ञात (अर्थात् अनुमित) रूप से।' ठीक इसी के आगे वेणीसंहार में जो उन्होंने प्रतिमुख-सन्धि का उदाहरण दिया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे 'लक्ष्यालक्ष्यतया' का अर्थ कर रहे हैं—'निश्चित (लक्ष्य) तथा अनिश्चित (अलक्ष्य) रूप से।'

(ख) वस्तुतः 'लक्ष्यालक्ष्यतया' का यथार्थ भाव है—'कभी प्रकट होकर फिर कभी तिरोहित होने की अवस्था से' अर्थात् कभी मालूम पड़े कि अब कार्य सफल हो जायगा तो कभी उसके बाद यह भी ज्ञात हो कि अब तो बनता हुआ कार्य ही बिगड़ गया (विनष्ट हो गया)। बस, इसी तरह आँख-मिचौनी करता हुआ बीज जब एकदम स्फुटित (स्पष्ट) हो जाता है, तब प्रतिमुख-सन्धि होती है।

(ग) धनिक ने प्रतिमुख-सन्धि के उदाहरण के रूप में वेणीसंहार के जिन दो श्लोकों को यहाँ प्रस्तुत किया है, वे, वस्तुतः, अनुपयुक्त तथा अनावश्यक हैं।

पूर्व अङ्क (अर्थात् प्रथम अङ्क) में निक्षिप्त (अर्थात् बोया गया) तथा जो अग्रिम अङ्क में बिन्दुरूप में आया है, उस बीज और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के आधार पर इस (प्रतिमुख-सन्धि) के तेरह अङ्ग हैं। उन्हें (यहाँ) बतला रहे हैं—

(१) विलास (२) परिसर्प (३) विधूत (४) शम (५) नर्म (६) नर्मद्युति (७) प्रगमन (८) निरोध (९) पर्युपासन (१०) वज्र (११) पुष्प (१२) उपन्यास तथा (१३) वर्णसंहार भी—ये (प्रतिमुख-सन्धि के तेरह अङ्ग हैं)।

गिनाये गये नाम के क्रम से (इनका) लक्षण बतला रहे हैं—

१—विलास—

रति के लिए होने वाली इच्छा को विलास कहते हैं।

रत्यर्थेहा—रतिः = रमणम् एव अर्थः तस्य ईहा = अभिलाषा, सुरतार्थेच्छेति यावत् ॥

यथा रत्नावल्याम्–सागरिका–'हिअअ पसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण।' ['हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन।'] इत्युपक्रमे 'तहावि आलेखगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाउत्ति।' ['तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः]।' इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।

अथ परिसर्पः—

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः—

जैसे रत्नावली (नामक) नाटिका (पृ० ६४) में (सागरिका कहती है)—"हृदय, शान्त हो जाओ" शान्त हो जाओ। परिणाम में दुःखप्रद (अर्थात् जिसमें किया गया परिश्रम व्यर्थ है ऐसे), (राजा उदयन-रूप) दुर्लभ व्यक्ति के विषय में की गयी अभिलाषा के इस हठ से क्या लाभ ?"—ऐसा उपक्रम करके—"तो भी उन (उदयन-रूप) जन को चित्र में निर्मित करके मनचाही (इच्छित कार्य) करूँगी (अर्थात् अपने प्रिय का चित्र बना कर, उन्हें ध्यान से देख कर फिर जो सोचा है उसे करूँगी)। (क्योंकि) उस (व्यक्ति) को देखने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

इन कथनों के माध्यम से वत्सराज (उदयन) के मिलन की इच्छा को, जो चित्र आदि के द्वारा ही प्रकट हुई है, उद्देश्य करके सागरिका का चेष्टारूपी प्रयत्न, जो अनुरागरूपी बीज (जो द्वितीय अङ्क में बीज के रूप में है) से भी अनुगत है, (यहाँ) विलास (नामक प्रतिमुख-सन्धि का अङ्ग) है अर्थात् सागरिका की उदयन से रमण की अभिलाषा ही यहाँ विलास है)।

विशेष—रत्यर्थेहा = रतिरूप प्रयोजन के लिए अभिलाषा। रतिरूप प्रयोजन के लिए नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका को एक-दूसरे की अभिलाषा होती है। इसी अभिलाषा का नाम है विलास। सागरिका की इस अभिलाषा को, उसे उदयन का चित्र बनाते हुए दिखला कर, अभिव्यक्त किया गया है।

२—परिसर्प—

अब परिसर्प को बतला रहे हैं—

(पहले) दिखलायी पड़ कर फिर नष्ट हो जाने वाले (बीज) का अन्वेषण 'परिसर्प' कहा जाता है।

दृष्टनष्टानुसर्पणम्—पूर्वं दृष्टस्य तदनु नष्टस्य = अदृश्यस्य बीजस्य अनुसर्पणम् = अन्वेषणम् अनुसरणमिति यावत्, परिसर्पः कथ्यते इति शेषः ॥

यथा वेणीसंहारे–कंचुकी–'योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु वासुदेव-सहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तःपुरसुखमनुभवति, इदमपरमयथातथं स्वामिनः'—

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥ १६ ॥

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेव-सहायानां सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति।

जैसे वेणीसंहार (पृ० ६४-६६) में—कन्चुकी—"[वाह पतिव्रते, वाह ! स्त्री होती हुई भी आप अच्छी हैं, किन्तु महाराज नहीं] जो यह प्रबल अथवा अप्रबल किन्तु वासुदेव की सहायता से सम्पन्न, शत्रु, पाण्डुपुत्रों के (युद्ध के लिए) उद्यत होने पर आज भी अन्तःपुर के विहार का अनुभव कर रहे हैं। (सोचकर) स्वामी का यह एक दूसरा अनुचित कार्य है।

शस्त्र धारण करने (के समय) से लेकर अपराजित परशुवाले उस (जगद्विदित) मुनि (परशुराम) को भी जीतने वाले यह भीष्म पाण्डु के पुत्रों के द्वारा बाणों से (मार कर) सुला दिये गये। (वह) इनके दुःख के लिए न हुआ। (किन्तु) महान् अनेक धनुर्धर शत्रुओं के ऊपर विजय करने से थके हुए, अकेले, तथा शत्रु के द्वारा काटे गये धनुषवाले, बालक अभिमन्यु के वध से (यह महाराज दुर्योधन) प्रसन्न हैं॥" २–२।

इस (कथन) के द्वारा भीष्म आदि (अतिरथियों) के वध से दिखलायी पड़ने वाले, (किन्तु पुनः) अभिमन्यु के वध से नष्ट बीज का, कृष्ण की मदद से सम्पन्न बलशाली पाण्डवों के युद्धरूपी बिन्दु नामक बीज (अवान्तर बीज) तथा प्रयत्न को उपस्थित सत्ता से कञ्चुकी के द्वारा खोज की गयी है। अतः (यहाँ) परिसर्प (नामक प्रतिमुख-सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे रत्नावली (पृ० ११२) में सारिका के वचनों के श्रवण तथा (रत्नावली के द्वारा निर्मित उदयन के) चित्र के दर्शन से सागरिका के अनुरागरूपी बीज के दिखलायी पड़ने के अनन्तर (रानी वासवदत्ता की दासी सुसङ्गता के आ जाने पर) नष्ट हो जाने पर "वह (सागरिका) कहाँ है, वह कहाँ है ?" ऐसा कह कर वत्सराज उदयन के द्वारा अन्वेषण (जिज्ञासा) करने के कारण (यहाँ) परिसर्प (नामक प्रतिमुख-सन्धि का अङ्ग) है।

अथ विधूतम्—

विधूतं स्यादरतिः—

यथा रत्नावल्याम्–सागरिका—'सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि'। ['सखि, अधिकं मे संतापो बाधते।'] (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका—(तानि क्षिपन्ती)—'सहि, अवणेहि एदाइं किं अआरणे अत्ताणं आयासेसि णं भणामि'—['सखि, अपनयैतानि किमकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि'—]

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्॥'
['दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि, विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्'॥ १७॥]

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम्॥

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति।

३—विधूत—

अब विधूत (नामक प्रतिमुख-सन्धि के अङ्ग को बतलाया जा रहा) है—

(सुखकर वस्तुओं के प्रति प्रकट की गयी) अरुचि को विधूत कहते हैं।

जैसे रत्नावली (पृ० ७-०७१) में (सागरिका अपनी सखि सुसङ्गता से कहती है)—

सागरिका—"सखि, मेरा सन्ताप (कामज्वर) बहुत अधिक पीडित कर रहा है।"

[सुसङ्गता वापी (बावली) से कमल के पत्तों तथा मृणालों (भिसाड़ों) को लाकर इस (सागरिका) के अङ्गों पर रखती है]

सागरिका—(उन्हें हटाती हुई) "सखि, दूर हटाओ इनको। क्यों व्यर्थ में अपने आपको परेशान कर रही हो ? अरे, मेरा तो कहना है (कि)—

दुर्लभ व्यक्ति (उदयन) के प्रति (मेरा) प्रेम है। भारी लाज (है)। अपना शरीर दूसरे (वासवदत्ता आदि) के अधीन है। प्रिय सखि, (इस तरह) प्रेम सङ्कटों से भरा हुआ है। (अतः मेरे लिए अब) केवल मृत्यु ही सबसे अच्छा उपाय (है)।" (२–१)

यहाँ (अनुरागरूपी) बीज के सम्बन्ध से सागरिका का शीतोपचार के प्रति विधूनन (तिरस्कार) दिखलाया गया है। अतः (यहाँ) विधूत (नामक प्रतिमुखसन्धि का अङ्ग) है। अथवा, जैसे वेणीसंहार (द्वितीय अङ्क) में खराब स्वप्न दिखलायी

अरतिः—अनादरः, **विधूतम्**—अत्र अभीप्सितवस्तूनां विधूननाद् दूरीकरणाद् विधूतम्। **बीजान्वयेन** = बीजसम्बन्धेन। **रतेः** = कामकेल्याः, **विधूननम्** = तिरस्करणम्। **तच्छमः**—तस्याः = अरतेः उपशमः = शान्तिः। अत्रोद्वेगस्य शान्तत्वाच्छम इत्यभिधानम्।

अथ शमः—

तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरुपशमः शमो । यथा रत्नावल्याम्—राजा—'वयस्य, अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे सागरिका—(आत्मगतम्) 'हिअअ, समस्सस । मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो ।' ['हृदय, समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः ।'] इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ।

अथ नर्म—

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—सुसङ्गता—'सहि, जस्स कए तुमं आअदा सो अअं

पड़ने के कारण दुर्योधन के अनिष्ट की आशङ्का अथवा पाण्डवों की विजय की शङ्का से भानुमती के द्वारा (अपने पति दुर्योधन के साथ) काम-क्रीडा का विधूनन (तिरस्कार) किया गया है । (अतः, वहाँ भी प्रतिमुख-सन्धि का विधूत नामक अङ्ग है) ।

४—शम—

अब शम (नामक प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं—

उस (अरति) का उपशमन (प्रतिमुख-सन्धि का) शम (नामक अङ्ग) है ।

उस अरति का उपशमन ही शम है । जैसे रत्नावली (पृ० १०२) में—

राजा—"मित्र, इस (सुन्दरी) के द्वारा चित्रित किया गया हूँ—ऐसा सोच कर वस्तुतः मेरा अपने ऊपर बहुत मान हो गया है (अर्थात् मैं अपने-आपको बहुत भाग्यशाली समझने लगा हूँ) । तो क्यों न देखूँगा ?

इस सन्दर्भ में (सागरिका इस प्रकार कहती है)—

सागरिका—(अपने-आप) "हृदय, धैर्य धारण करो । यहाँ तक तो तेरा मनोरथ भी नहीं पहुँचा था (अर्थात् राजा मुझे इतना सम्मान देंगे, यह तो तूने सोचा भी न था) ।"

यहाँ (अपने प्रति राजा उदयन के अनुराग को ज्ञात कर सागरिका की) अरति कुछ सीमा तक शान्त हो जाती है । अतः (यहाँ प्रतिमुख-सन्धि का) शम (नामक अङ्ग) है ।

५—नर्म—

अब (प्रतिमुख-सन्धि के) नर्म (नामक अङ्ग का वर्णन किया जा रहा) है—

परिहास में कहा गया वचन ही नर्म है ।

जैसे रत्नावली (पृ० १०८) में—

सुसङ्गता—"सखि, जिसके लिए तुम (यहाँ) आयी हो, वह यह सामने विराजमान है ।

परिहासवचो नर्म—परिहासनर्मशब्दौ पर्यायवाचिनौ स्तः ।

पुरदो चिट्ठदि।' ['सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति]।' सागरिका—(सासूयम्) 'सुसङ्गदे, कस्स कए अहं आअदा।' ['सुसङ्गते, कस्य कृतेऽहमागता]।' सुसङ्गता—'अइ अप्पसंकिदे, णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम्।' ['अयि आत्मशङ्किते ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतत्।'] इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म।'

यथा च वेणीसंहारे—(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घ्यपात्रमादाय देव्याः समर्पयति, पुनः) भानुमती—(अर्घं दत्त्वा) 'हला, उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिअं णिवत्तेमि'। ['हला, उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि।'] (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति, भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति।

अथ नर्मद्युतिः—

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्—सुसङ्गता—'सहि अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमम्। जा

सागरिका—(ईर्ष्या के साथ) "सुसङ्गते, किसके लिए मैं यहाँ आयी हूँ?"

सुसङ्गता—"अरी अपने ऊपर शङ्का करने वाली, चित्रपट के लिए (यहाँ आयी हो)। तो इसे ले लो।"

यहाँ (अनुरागरूपी) बीज से गर्भित हँसी-मजाक में कहा गया वचन नर्म (नामक प्रतिमुख-सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे कि वेणीसंहार (पृ० ९४-९६) में—

(दुर्योधन चेटी के हाथ से पूजा का पात्र लेकर देवी को देता है, तब)

भानुमती—(अर्घ्य देकर) "प्रिय चेटी, दो मुझे पुष्प, ताकि अन्य देवों की पूजा सम्पन्न करूँ (दोनों हाथों को फैलाती है)।"

(दुर्योधन फूलों को देता है। उसके स्पर्श से उत्पन्न कम्पन अर्थात् सिहरन वाली भानुमती के हाथ से पुष्प गिर पड़ते हैं)

देखे गये दुःस्वप्न की शान्ति के लिए (भानुमती के द्वारा) की जा रही पूजा में विघ्न करने वाले इस परिहास के द्वारा बीज का उद्घाटन हो जाता है। इसलिए परिहास को प्रतिमुख-सन्धि का अङ्ग मानना ठीक ही है।

६—**नर्मद्युति**—

अब नर्मद्युति (बतलायी जा रही) है—

(उस नर्म) परिहास) से उत्पन्न धैर्य की स्थिति ही नर्मद्युति मानी गयी है।

जैसे रत्नावली (पृ० ११६) में—

सुसङ्गता—"सखि, अब तू अत्यन्त निष्ठुर हो रही हो, जो कि महाराज के द्वारा इस तरह हाथ में पकड़ी गयी भी कोप को नहीं छोड़ रही हो।"

धृतिः=धैर्यम्, प्रियप्राप्त्यात्र धैर्यं ज्ञेयम्। सा तु परिहासजैव भवति।

एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि। [सखि, अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि।] सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे, दाणिं पि ण विरमसि।' ['सुसङ्गते, इदानीमपि न विरमसि।'] इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति।

अथ प्रगमनम्—

उत्तरा वाक्प्रगमनम्

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—भो वअस्स, दिट्ठिआ वढ्ढसे। ['भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे।'] राजा—(सकौतुकम्) वयस्य, किमेतत्। विदूषकः—भो, एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह्णवीअदि। ['भोः, एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते।'] इत्यादिना।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्किं शोषमायासि मृणालहार,
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात्॥ १८॥

सागरिका—(भौंह टेढ़ी करती हुई मुस्करा कर) सुसङ्गते, अब भी नहीं (बोलने से) रुक रही हो?

यहाँ (सागरिका के उदयन सम्बन्धी) अनुराग रूपी बीज के प्रकाशन के सम्बन्ध से परिहासद्वारा उत्पन्न सागरिका के धैर्य (का वर्णन) है। अतः यहाँ नर्मद्युति (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) दिखलाया गया है।

७—प्रगमन

अब प्रगमन (नामक प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग को बतला रहे हैं)—

(बीज को उद्घाटित करने वाला) उत्तरोत्तर वचन (संवाद) ही प्रगमन है।

जैसे रत्नावली (पृ० ९४) में—

विदूषक—'हे मित्र, भाग्य से तुम बढ़ रहे हो (अर्थात् तुम बड़े भाग्यशाली हो।)

राजा—(उत्कण्ठापूर्वक) मित्र, यह क्या (है)?

विदूषक—अरे, यह वही है, जो मैंने कहा था।

(कामदेव के बहाने) तुम्हीं इसमें चित्रित किये गये हो। कामदेव के बहाने से (भला) कौन दूसरा छिपाया जा सकता है? (अर्थात् कोई नहीं)। यहाँ से आरम्भ करके—

हे मृणालहार, उसके कुचकुम्भों (कलश के समान विशाल स्तनों) के मध्य से गिरा हुआ तू क्यों सूख रहा है? (परस्पर अत्यन्त सटे हुए) वहाँ (स्तनों के बीच

उत्तरा वाक्=उत्तरोत्तरं वाक्यम्, बीजोद्घाटकः पारस्परिकः संवाद इत्यर्थः॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति ।

अथ निरोधः—

हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख !

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥ १९ ॥

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम्—

में) तुम्हारे सूक्ष्म सूत्र के लिए भी स्थान नहीं है, (तो फिर) तुम्हारे लिये कैसे (स्थान) हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) ॥ २–१५ ॥

यहाँ तक राजा, विदूषक, सागरिका तथा सुसङ्गता के परस्पर सम्वादों के द्वारा अनुराग रूपी बीज का परस्पर उद्घाटन हो रहा है । अतः यहाँ प्रगमन (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

८—निरोध

अब निरोध (को बतलाया जा रहा) है—

अभीप्सित या प्रसन्नतादायक वस्तु का (किसी घटना के द्वारा) रोक दिया जाना ही निरोध या निरोधन (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

जैसे रत्नावली (पृ० ११८) में—

राजा—छिः मूर्ख,

किसी प्रकार भाग्यवश प्राप्त, (मेरे प्रति) अनुराग को प्रकट करने वाली, अत्यन्त सुन्दरी वह (युवती), (चमचमाती कान्तिवाली, मनोहर) रत्नों की माला की तरह, कण्ठ में बिना लगाए ही तुम्हारे द्वारा हमारे हाथ से गवाँ दी गई ॥ २।१९ ॥

यहाँ सागरिका के साथ मिलन रूप जो वत्सराज (उदयन) का हित है, वह वासवदत्ता के आने की सूचना देने वाले विदूषक के वचन से, रोक दिया गया है । अतः यहाँ निरोध या निरोधन (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

९—पर्युपासन

अब पर्युपासन (की परिभाषा की जा रही) है—

हितरोधः—हितस्य = अभीप्सितस्य रोधः निवारणम् , **निरोधनम्**—निरुध्यते = अपसार्यते प्रियं वस्तु यस्मिन् तत् ॥

पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥ २० ॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम्—

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)।

(कुपित व्यक्ति को) मनाना ही पर्युपासन या पर्युपास्ति (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

जैसे रत्नावली (पृ० १२४) में—

राजा—(यदि) 'प्रसन्न हो जाओ—ऐसा कहूँ तो यह (तुमको वस्तुतः) कोप न होने पर ठीक नहीं बैठता । 'फिर ऐसा नहीं करूँगा'—ऐसा (कथन अपराध को) स्वीकार कर लेना होगा । 'मेरा दोष नहीं है'—ऐसा (कहूँ तो) यह भी असत्य समझोगी । (अतः) हे प्रियतमे, इस (परिस्थिति) में क्या कहना उचित है—यह नहीं समझ पा रहा हूँ ॥ २।२० ॥

यहाँ, चित्र में लिखित नायक (वत्सराज उदयन) तथा नायिका (सागरिका) को देख कर कुपित वासवदत्ता का (महाराज उदयन के द्वारा) किया गया अनुनय, नायक और नायिका के अनुराग (रूपी बीज) के उद्घाटन से सम्बद्ध होने के कारण, पर्युपासन (नामक प्रति मुखसन्धि का अङ्ग) है ।

१०—पुष्प

अब पुष्प (नामक प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग की परिभाषा की जा रही) है—

(अनुरागरूपी बीज के उद्घाटन के सन्दर्भ में) विशिष्टतायुक्त वाक्य को पुष्प कहा जाता है ।

जैसे, रत्नावली (पृ० ११४—११६) में—

(राजा सागरिका का हाथ पकड़ कर स्पर्श से मिलने वाले आनन्द के अनुभव का अभिनय करता है ।)

पर्युपास्तिः=पर्युपासनम्, क्रुद्धं जनमपराधक्षमायाचनमत्र पर्युपासनम् । अनुनयः=कोपापसारणार्थं विनयः ॥

विशेषवत्=वैशिष्ट्यगर्भितमित्यर्थः, **पुष्पम्**—फलप्राप्तिसान्निध्यादत्र पुष्पत्वं ज्ञेयम् ॥

विदूषकः—भो, एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। ['भोः, एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।'] राजा—वयस्य सत्यम्—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः॥ २१॥

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम्। अथोपन्यासः—

उपन्यासस्तु सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—भट्टा, अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभअणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु।' ['भर्तः, अलं शङ्कया। मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम्।'] इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति।)

विदूषक—अरे, यह निश्चय ही तुम्हारे द्वारा अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त की गई है (अर्थात् तुम बेजोड़ सुन्दरी का इस समय हाथ पकड़े हो)।

राजा—मित्र, सचमुच—

यह लक्ष्मी (है)। इसका हाथ भी परिजात का नूतन पत्र (है)। अन्यथा (अर्थात् यदि ऐसी बात न होती तो) यह स्वेद (पसीना) के बहाने से अमृत-रस कहाँ से टपक रहा है॥ २।१८॥

इस से नायक और (कामातुर हो पसीना-पसीना होने वाली) नायिका के परस्पर साक्षात् अवलोकन के द्वारा विशिष्ट अनुराग प्रकट होने से यहाँ पुष्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

विशेष—पुष्पम्—प्रथम अङ्क में बोया गया बीज क्रमशः पुष्ट होता हुआ तथा बढ़ता हुआ यहाँ तक आकर पुष्पित हो उठता है। इससे ज्ञात होता है कि अब फलागम दूर नहीं है। लोक में भी बोये गये बीज की यही अवस्था होती है।

११—उपन्यास

अब उपन्यास की परिभाषा दी जा रही है—

उपाययुक्त या हेतुप्रदर्शक वाक्य ही उपन्यास कहलाता है।

जैसे रत्नावली (पृ० ११०) में—

सुसङ्गता—स्वामिन् शङ्का न करें। मैंने भी स्वामी की कृपा से खेल ही किया है। तो कान के आभूषण (को पुरस्कार के रूप में देने) से क्या (प्रयोजन)? मेरे ऊपर (स्वामी की) यही बड़ी कृपा (होगी) कि—तुमने इस चित्रफलक में मेरा

अथ वज्रम्—

वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त, एसा वि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम् ।' [आर्यपुत्र, एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।'] पुनः 'अज्जउत्त, ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा ।' [आर्ययुत्र, ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।'] इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।

अथ वर्णसंहारः--

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

चित्र क्यों बना दिया, ऐसा कह कर मेरी प्रिय सखी सागरिका नाराज हो गई है । तो चलकर स्वामी इसको प्रसन्न कर दें ।

यहाँ '(चित्रपट में) सागरिका का चित्र मेरे द्वारा बनाया गया है और आप का चित्र सागरिका के द्वारा निर्मित किया, गया है' यह सूचना देते हुए सुसङ्गता के वचन के द्वारा प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर (अनुराग रूपी) बीज का उद्भेद (प्रादुर्भाव) किया गया है । अतः उपन्यास (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१२—वज्र

सामने ही निष्ठुर वचन बोलना वज्र कहा गया है ।

जैसे, रत्नावली (पृ० १२२-१२४) में—

वासवदत्ता—(चित्रपट की ओर इशारा करके) आर्यपुत्र, यह भी, जो दूसरी (स्त्री) आप के पास चित्रित की गई है, वह क्या वसन्तक की कला है ?

विशेष—यहाँ यह ध्यान रखना है कि महारानी वासवदत्ता ने राजा उदयन से पूछा था कि—'यह चित्र फलक किसने बनाया है ?' इसके उत्तर में राजा ने यह समर्थन कर दिया कि वसन्तक ने इसे बनाया है । बस, इसी पर भीतर ही भीतर कुपित होकर वासवदत्ता ने पुनः पूछा है । आगे वे ही फिर कह रही हैं—

'आर्यपुत्र, इस चित्र-फलक को देख कर मेरे तो शिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है ।'

इन वचनों से वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज (उदयन) का सागरिका के प्रति अनुराग प्रकट करते हुए सामने ही (शिष्ट शब्दों में) कठोर वचन कहा गया है । अतः यहाँ निष्ठुर (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१३—वर्णसंहार

अब वर्णसंहार (नामक प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग को बतलाया जा रहा) है—

प्रत्यक्षनिष्ठुरम्—प्रत्यक्षम् = समक्षं च तत् निष्ठुरम् = कठोरम् , कथनमिति शेषः, **वज्रम्**—वज्रवदाघातकत्वाद्वज्रमिति । उक्तञ्च मन्दारमरन्दे—"वज्रं तदिति विज्ञेयं साक्षान्निष्ठुरभाषणम् ।" महर्षिणा भरतेनापि—"विरुक्षवचनप्रायं वज्रमित्यभिधीयते ।" इति ॥

चातुर्वर्ण्योपगमनम्—चात्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति स्वार्थे ष्यञ् । तस्य उपगमनम् = उपस्थितिः, एकत्र मेलनमिति यावत्, **वर्णसंहारः**—वर्णानां संहारः =

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः ।
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥ २२ ॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षितबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीज— प्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ।

(ब्राह्मण आदि) चारों वर्णों का एक स्थान पर स्थित होना ही वर्णसंहार कहा गया है ॥ ३५ ॥

जैसे महावीरचरित के तीसरे अङ्क में—

यह ऋषियों की सभा है । यह (कैकेयी के भ्राता) वृद्ध युधाजित् हैं । मन्त्रियों के साथ यह वृद्ध राजा लोमपाद हैं । यह निरन्तर यज्ञ करते रहनेवाले, ब्रह्मवादी, प्राचीन, (अर्थात् प्रसिद्ध) जनक (नामक) जनपदों के निवासियों के अधिपति (जनक) भी आप से क्रोध न करने (अद्रोह) की भीख माँग रहे हैं ॥ ३।५ ॥

यहाँ पर एकत्रित हुए ऋषि, क्षत्रिय तथा अमात्य आदि एकत्रित जातियों की ओर से क्रोध न करने की प्रार्थना के द्वारा, राम के ऊपर विजय की इच्छा वाले परशुराम के दुर्नय (दुर्व्यवहार) को प्रकट किया गया है । अतः यहाँ वर्णसंहार (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

विशेष—चातुर्वर्ण्योपगमनम्—वस्तुतः यहाँ 'चातुर्वर्ण्य' का अर्थ 'चारों वर्ण' न होकर 'नाना जातियाँ' या एक से अधिक वर्ण ही हो सकता है । 'अमात्यैः' इस पद के बहुवचन में वैश्यों तथा शूद्रों के संकेत को समझना खरगोस की सींग निकालने के बराबर है ।

ये तेरह प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं । मुखसन्धि में निक्षिप्त बिन्दु नामक अवान्तर (Secondary or Subordinate) बीज, महाबीज (The Main or Chief बीज) अर्थात् अर्थप्रकृति और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के साथ-साथ इनका भी विधान करना चाहिए । इन तेरहों में परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प (नामक अङ्गों) की प्रधानता समझनी चाहिए (अर्थात् रूपक में इनका विधान आवश्यक है) । (इनके अतिरिक्त) अन्य अङ्गों का प्रयोग जहाँ तक सम्भव हो सके करना चाहिए (इनके प्रयोग न होने की अवस्था में रूपक के स्वरूप का कुछ खास नुकसान न होगा) ।

मेलनं यत्र स वर्णसंहारो नामाङ्गमिष्यते ।

अथ गर्भसंधिमाह—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य संविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारं-वारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति—'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन । प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति—'स्यात्' इति । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति ।

३—गर्भसन्धि और उसके अङ्ग

अब गर्भसन्धि (तथा उसके अङ्गों की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

जहाँ दिखलाई पड़ने के अनन्तर अदृश्य हो गये बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है वहाँ गर्भसन्धि होती है । इसके बारह अङ्ग होते हैं । इसमें पताका (नामक अर्थप्रकृति) कहीं होती है और कहीं नहीं भी होती है; किन्तु प्राप्त्याशा (नामक कार्यावस्था) होनी ही चाहिए ॥ ३६ ॥

प्रतिमुख सन्धि में कुछ-कुछ लक्ष्य रूप से तथा कुछ-कुछ अलक्ष्य रूप से स्थित (अर्थात् कभी पनपते तथा कभी विनष्ट होते हुए) अतः किञ्चित् प्रादुर्भूत बीज का विशेष रूप से फूट पड़ना, बड़ी कठिनाई से (फल के साथ) सामने आना, फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना, फिर ओझल हो जाना तथा फिर बार-बार उसी का अन्वेषण किया जाना—यही गर्भ सन्धि कहलाती है । इसमें, 'फल अवश्य ही प्राप्त होगा'—ऐसी आशा निश्चित नहीं रहती है (अर्थात् गर्भसन्धि में कभी प्रतीत होता है कि अब बीज का फल मिला । कभी-प्रतीत होता है कि पनपता बीज ही विनष्ट हो गया । यही लुका—छिपी चलती रहती है। इसमें कठिनाइयाँ भी समय-समय पर अपना जौहर दिखलाती रहती हैं । फल-प्राप्ति के विषय में मन आशा तथा निराशा के बीच लुढ़कता रहता है) ।

(क्रमशः अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के संयोग से सन्धियों की उत्पत्ति होती है—इस) सामान्य नियम के अनुसार उस (गर्भसन्धि) में पताका (नामक अर्थप्रकृति) की स्थिति स्वभावतः प्राप्त थी, किन्तु 'पताका स्यान्न वा'—(पताका हो या न हो) ऐसा कह कर यह प्रदर्शित किया है कि (इसमें) पताका का होना अनिवार्य नहीं है । (इसी तरह) 'स्यात् प्राप्तिसंभवः' (प्राप्तिसंभव होनी ही चाहिए)—ऐसा कह कर यह दिखलाया है कि (गर्भसन्धि में) प्राप्त्याशा अवश्य ही होती है ।

जैसे रत्नावली के तीसरे अङ्क में पहले तो विदूषक के उस वचन के द्वारा सागरिका

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहच्चिन्ताए ।' ['साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया ।'] इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्तकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।

के मिलने (रूप फल) की आशा होती है जिसमें (महारानी) वासवदत्ता को विघ्न कहा गया है तथा उस (वासवदत्ता) के वेश को धारण करके सागरिका के अभिसार करने के (समागम का) उपाय बतलाया गया है। किन्तु (मिलन के समय) वासवदत्ता के द्वारा (उस मिलन रूप फल का) अपसारण कर दिया जाता है। फिर प्राप्ति होती है, पुनः विच्छेद होता है और फिर (उस वासवदत्ता रूप) विघ्न को हटाकर (मिलन के) उपाय का अन्वेषण किया जाता है—'महारानी को मनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है ।'—इस प्रसंग के द्वारा (गर्भसन्धि) प्रदर्शित की गई है।

उस गर्भसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं। उनका क्रमशः नाम इस प्रकार है—

(१) अभूताहरण (२) मार्ग (३) रूप (४) उदाहरण (५) क्रम (६) संग्रह (७) अनुमान (८) तोटक (९) अधिबल (१०) उद्वेग (११) संभ्रम और (१२) आक्षेप । (इनके) लक्षण आगे दिये जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

(अब इनका) नामनिर्देशपूर्वक लक्षण बतला रहे हैं—

१—अभूताहरण

कपट को अभूताहरण कहते हैं (अर्थात् कपटपूर्वक कार्य ही अभूताहरण कहलाता है)।

जैसे रत्नावली (पृ० १३०) में—

काञ्चनमाला—'वाह रे वसन्तक वाह ! इस सन्धि-विग्रह (मेल-मिलाप एवं कलह) की चिन्ता से तुमने अमात्य यौगन्धरायण को भी मात कर दिया है ।'

यहाँ (महारानी) वासवदत्ता के वेष को धारण की हुई सागरिका का वत्सराज (उदयन) के प्रति अभिसरण करना ही 'छद्म' है। इसे विदूषक तथा सुसङ्गता के

छद्म—छलसंबद्धं कार्यमित्यर्थः, **अभूताहरणम्**—अभूतस्य = कपटस्य आहरणम् = आविष्करणम् यत्र तत् अभूताहरणं नामाङ्गम् ॥

अथ मार्गः—

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ['दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या।'] राजा—वयस्य कुशलं प्रियायाः? विदूषकः—अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। ['अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।'] राजा—दर्शनमपि भविष्यति? विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। ['कथं न भविष्यति यस्य त उपहसित-बृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।'] राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि। विदूषकः—(कर्णे कथयति) एव्वम्।' [एवम्']। इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः, तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति।

अथ रूपम्—

विचारित निश्चय का काञ्चनमाला के द्वारा कहला कर प्रवेशक में दिखलाया गया है। अतः यहाँ अभूताहरण (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

२—मार्ग

अब मार्ग (नामक गर्भ सन्धि के अङ्ग को बतलाया जा रहा) है—

किसी वस्तु या बात को ठीक वैसा ही बतलाना या कहना, जैसा कि वह वस्तुतः है, मार्ग कहलाता है ॥ ३८ ॥

जैसे कि रत्नावली (पृ० १४०) में—

विदूषक—हे मित्र, भाग्यवश, अभीष्ट से भी अधिक कार्य की सफलता के कारण तुम बढ़ रहे हो।

राजा—मित्र, प्रिया (सागरिका) का कुशल है न?

विदूषक—हे मित्र, शीघ्र ही स्वयं (प्रिया को) देख कर जान लोगे।

राजा—मित्र, क्या प्रिया का दर्शन भी होगा?

विदूषक—(गर्व के साथ) अरे क्यों नहीं? जिस आपका, बृहस्पति की बुद्धि-सम्पत्ति का हँसी उड़ाने वाला मैं मन्त्री हूँ।

राजा—तो भी सुनना चाहता हूँ।

विदूषक—(कान में कहता है) ऐसा।

यहाँ विदूषक को सागरिका के समागम (अभिसरण) की जैसी सूचना मिली थी, ठीक वैसी ही (सूचना) उसने राजा को दी। इस तरह यथार्थ बात कहने के कारण यहाँ 'मार्ग' (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

३—रूप

तत्त्वार्थकथनम्—तत्त्वार्थस्य = कस्यचिद्वस्तुनो याथार्थ्येन तत्स्वरूपस्य कथनम् = वर्णनम्, **मार्गः**—मृग्यते = यथार्थतया सज्जनैरन्विष्यते इति मार्गः ॥

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातस्तथा हि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥ २३ ॥

कथं चिरयति वसन्तकः ? किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।

अथोदाहरणम्—

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलाहे-

---

वितर्क (किसी कार्य के कारण, विश्वास तथा सन्देह) युक्त वाक्य को रूप कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (पृ० १५२) में—

राजा—अपनी पत्नी के मिलन की उपेक्षा करने वाले कामुक लोगों का नये व्यक्ति के प्रति (अर्थात् दूसरी स्त्री के प्रति) अद्भुत झुकाव होता है । जैसे कि—

सङ्केत-स्थान में स्थित कामिनी शङ्कित होकर प्रेम के कारण विकसित दृष्टि को (प्रेमी के) मुख पर नहीं डालती है (अर्थात् आँखों से आँखें नहीं मिलाती है) । कण्ठ के आलिङ्गन में (अर्थात् गले लगाने के समय) आनन्द से स्तनों को कसकर नहीं सटाती है । प्रयत्नपूर्वक (गोद में) पकड़ी गई भी 'मैं जा रही हूँ' ऐसा बार-बार कहती है । फिर भी आश्चर्य है कि (वह) अत्यधिक आनन्द प्रदान करती ही है ॥ ३।९॥

वसन्तक देर क्यों कर रहा है ? तो क्या यह वृत्तान्त महारानी को मालूम तो नहीं हो गया ?

यहाँ (उदयन के हृदय में) रत्नावली के समागम की प्राप्ति की आशा के साथ ही महारानी (वासवदत्ता) की आशङ्का का वितर्क किया गया है । (अतः यहाँ) रूप (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

४—उदाहरण—

अब उदाहरण (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

जब किसी व्यक्ति की सर्वातिशायिनी योग्यता या उत्कर्ष का कथन किया जाय तब उदाहरण या उदाहृति (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग होती) है ।

जैसे रत्नावली (पृ० १४०) में—

विदूषक—(बड़े सन्तोष के साथ) अ हा हा ! मैं सोचता हूँ कि प्रिय मित्र को

वितर्कवत्—वितर्कः = संशयनिश्चयोभयकोटिसमवगाही विचारः, **रूपम्**—रूपणात् = निरूपणात् विचारणादिति यावत् रूपम् ॥

णावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो असि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' [ही ही भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।'] इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति।

अथ क्रमः—

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा—

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥ २४॥

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए, एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता निवेदेमि से तुहागमणम्।' ['भवति सागरिके, एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्'।] इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः।

कौशाम्बी के राज्य को पा जाने से भी उतनी खुशी नहीं हुई होगी जितनी कि आज मुझसे प्रिय वचन सुनकर होगी।

इस कथन में 'रत्नावली के मिलन की बात भी कौशाम्बी के राज्य की प्राप्ति से बढ़ कर है'—यह उत्कर्ष का कथन किया गया है। अतः यहाँ उदाहृति (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

५—क्रम—

अब क्रम (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा की जा रही) है—

सोची गई (अर्थात् चाही गई) वस्तु की प्राप्ति क्रम कहलाता है।

जैसे रत्नावली (पृ० १५६) में—

राजा—शीघ्र ही प्रिया से मिलनरूप उत्सव वाले मेरा यह मन क्यों अत्यधिक विकल हो रहा है? अथवा—

तीव्र कामजनित सन्ताप प्रारम्भ में उतना नहीं पीडित करता, जितना कि (प्रिया के मिलने के) समीप होने पर (पीडित करता है)। वर्षाकाल में पानी पड़ने के पास वाला दिन अत्यधिक तपता है॥३।१०॥

विदूषक—(सुनकर) आदरणीये सागरिके, यह (हमारे) प्रियमित्र (महाराज) तुम्हारे ही लिये अत्यन्त उत्कण्टापूर्वक (कुछ) कह रहे हैं। अतः उनसे तुम्हारे आने का निवेदन करता हूँ।

सञ्चिन्त्यमानाप्तिः—सञ्चिन्त्यमानस्य = पूर्वतः हृदि विचार्यमाणस्य अभिलषितस्येत्यर्थो वस्तुनः आप्तिः = प्राप्तिः, **क्रमः**—क्रमणम् = चेतसा विषयीकरणमिति क्रमो नामाङ्गम्॥

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

भावज्ञानमथापरे ॥ ३९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके,

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा—
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥ २५ ॥

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।

यहाँ सागरिका के समागम की अभिलाषा करनेवाले ही (अर्थात् जब वह सागरिका के समागम की अभिलाषा कर रहा था उसी समय) वत्सराज (उदयन) को भ्रान्त सागरिका (अर्थात् सागरिका के रूप में वासवदत्ता) की प्राप्ति हो जाती है : भतः यह क्रम (नामक अङ्ग) है ।

विशेष—सागरिका रात्रि के समय महाराज उदयन से एकान्त में मिलने जाने ही वाली थी कि इस षड्यन्त्र का पता महारानी वासवदत्ता को लग गया । फलतः वे ही सागरिका का वेश बना कर पहले ही चल पड़ीं । विदूषक इन्हीं को बड़ी प्रसन्नता के साथ उदयन के पास पहुँचा रहा है । यही है टीका में आई भ्रान्त सागरिका की लघु कथा !

अब मतभेद से (अर्थात् दूसरे के मत से) क्रम का दूसरा रूप (क्रमान्तर) बतला रहे हैं—

दूसरे आचार्य भावज्ञान (अर्थात् दूसरे के मानसिक विचार या तरङ्ग) को क्रम कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (पृ० १५८) में—

राजा—(पास जाकर) प्रिये सागरिके, तुम्हारा मुख चन्द्रमा (है) । लोचन नील कमल (हैं) । दोनों हाथ रक्त कमल के समान (हैं) और दोनों जाँघें कदली (केला के वृक्ष) के मध्य भाग के तुल्य (हैं) । भुजाएँ मृणाल (कमल की जड़, भिसाड़) की तरह (क्षीण, चिकनी एवं उज्ज्वल) हैं । इस तरह, हे मन को खुश कर देनेवाले समस्त अङ्गों वाली, आओ । प्रसन्नतापूर्वक निःशङ्क हो मेरा आलिङ्गन करके तुम काम के सन्ताप से विह्वल (अपने) अङ्गों को शीतल कर लो ॥ ३।११ ॥

यहाँ से आरम्भ करके '(यदि इस चन्द्र को अपने अमृत के कारण घमण्ड हो) तो वह (अमृत) भी इस (तुम्हारे) लाल ओष्ठ में है ही' (३।१३) यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के भावों को (सागरिका पर मुग्ध) जाना गया है । अतः यहँ क्रम (नामक अङ्ग) है ।

विशेष—उक्त क्रम की दो व्याख्याओं में से प्रथम व्याख्या ही ग्रन्थकार को अभीष्ट

अथ संग्रहः—

संग्रहः सामदानोक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य, साधु इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात्संग्रह इति।

अथानुमानम्—

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ् मूर्ख, त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः। कुतः—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।

है, दूसरी नहीं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में क्रम का लक्षण यह दिया गया है—'भावतत्त्वोपलब्धिस्तुक्रम इत्यभिधीयते।' धनञ्जय के बाद के ग्रन्थों में इसकी दो व्याख्यायें उपलब्ध हैं—'भावज्ञानं क्रमो यद्वा चिन्त्यमानार्थसंग्रहः' (मन्दारमरन्द)। 'क्रमः सञ्चिन्तितार्थाप्तिर्भावज्ञानमथापरे' (भावप्रकाशन,सप्तम अधिकार)। 'भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्' (साहित्यदर्पण ६।९७)। संभवतः उक्त नाट्यसूत्र की दो तरह की व्याख्यायें धनञ्जय से पूर्व भी प्रचलित थीं। जिनमें से एक को उन्होंने प्राथमिकता दी तथा दूसरी को 'अपरे' कह कर गौडता प्रदान की है।

६—संग्रह

अब संग्रह (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

साम (मीठे एवं प्रिय वाक्य) तथा दान से युक्त वचन को संग्रह कहते हैं।

जैसे रत्नावली (पृ० १४२) में—

राजा—वाह मित्र, वाह! यह तुम्हारे लिए पुरस्कार कड़ा दे रहा हूँ।

इत्यादि के द्वारा सागरिका से मिलन करानेवाले विदूषक का साम (प्रिय तथा मीठे वचन) तथा दान (कटक-प्रदान) के द्वारा संग्रह किया गया है (अनुगृहीत करके पूर्णरूप से अपना बना लिया गया है)। अतः यहाँ संग्रह (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

७—अनुमान

अब अनुमान (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

किसी चिह्न से (हेतु से) किसी बात का अन्दाज करना अनुमान कहा गया है।

जैसे रत्नावली (पृ० १६८) में—

राजा—छिः मूर्ख, तुम्हारे द्वारा किया गया ही तो हमारे ऊपर यह अनर्थ आ पड़ा। क्योंकि—(परस्पर) प्रणय के अत्यधिक सम्मान करने के कारण प्रेम प्रतिदिन

सामदानोक्तिः—साम्ना = प्रियेण वचसा दानेन = पुरस्कारेण च सह उक्तिः = कथनं संग्रहो नामाङ्गम्॥

अभ्यूहः = अनुमानम्, लिङ्गतः = हेतुतः॥

प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥ २६ ॥

विदूषकः—भो वअस्स, वासवदत्ता किं करइस्सदि त्ति ण जाणामि साग-रिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि'। ['भो वयस्य, वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।'] इत्यत्र प्रकृष्ट-प्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति।

अथाधिबलम्—

अधिबलमभिसंधिः—

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि ['भर्त्रि, इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।'] (छोटिकां ददाति), इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिका-सुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधीयमानत्वादधिबलमिति।

बढ़ता ही गया। पहले (कभी) न किये गये इस अपराध को आज मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील स्वभाववाली वह प्रिया (वासवदत्ता) निःसन्देह (अपने) प्राणों को छोड़ देगी। क्योंकि उत्कट प्रेम का टूटना असह्य होता है ॥ ३।१५ ॥

विदूषक—हे मित्र, नाराज हुई वासवदत्ता क्या करेंगी, यह तो मैं नहीं जानता। किन्तु (मैं) अनुमान करता हूँ कि सागरिका का जीना दूभर हो जायगा।

विशेष—रत्नावली का यह वह प्रसङ्ग है जब कि महारानी वासवदत्ता सागरिका के अभिसरण का रूप बना कर महाराज उदयन के पास जाती है और उदयन उसे सागरिका ही समझ कर उसकी चाटुकारिता करते हैं। बाद में महारानी वासवदत्ता उन्हें कुछ जली-कटी सुनाकर कुपित हो चली जाती हैं।

यहाँ सागरिका के प्रति (उदयन के) प्रेम से उत्पन्न (वासवदत्ता के प्रति अब तक वर्तमान) उत्कृष्ट प्रेम के टूटने या कम होने से वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया गया है। अतः यहाँ अनुमान (नामक गर्भसन्धि का) अङ्ग है।

८—अधिबल

अब अधिबल (की परिभाषा दी जा रही) है—

किसी बहाने से (नायक आदि को) ठगना ही अधिबल कहलाता है।

जैसे रत्नावली (पृ० १५४) मे—

काञ्चनमाला—स्वामिनि, यह वही चित्रशाला है (जहाँ की बात मैंने आप से कही थी)। तो अब विदूषक को इशारा करती हूँ। (चुटकी बजाती है)

यहाँ क्रमशः सागरिका तथा सुसङ्गता का वेष धारण की हुई वासवदत्ता और

अधिबलमभिसन्धिः—अभिसन्धिः = कपटेन गूढार्थज्ञानम् अधिबलम्—बलम् = बुद्धिबलम् अधिकृत्योत्पन्नं यत्तत् अधिबलं नामाङ्गम् ॥

अथ तोटकम्—

संरब्धं तोटकं वचः ॥ ४० ॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता–(उपसृत्य) अज्जउत्त, जुत्तमिणं सरिसमिणम् ।' (पुनः सरोषम्) अज्जउत्त, उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कंचणमाले, एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणं । एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि ।'' [आर्यपुत्र, युक्तमिदं सदृशमिदम् । आर्यपुत्र, उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्याः सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले, एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु ।'] इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।

यथा च वेणीसंहारे—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' ॥ २७ ॥

काञ्चनमाला के द्वारा राजा और विदूषक को ठगा गया है। अतः अधिबल (नामक अङ्ग) है।

विशेष—सुसङ्गता—यह वासवदत्ता की सेविका तथा सागरिका की सखी है। सागरिका को राजा तक पहुँचाने का कार्य इसी के जिम्मे था।

९—तोटक

अब तोटक (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

कोपसूचक (अर्थात् आवेगपूर्ण) वचन ही तोटक कहलाता है ॥ ४० ॥

जैसे रत्नावली (पृ० १७८) में—

वासवदत्ता—(पास में जाकर) आर्यपुत्र, ठीक है, अनुरूप है यह।

[**राजा**—(देखकर लज्जापूर्वक) देवि, विना कारण ही मुझे उलाहना देना योग्य नहीं है। सचमुच, वेष की समानता के कारण धोखा में पड़े हुए हम लोग (इसे) आप को ही समझ कर यहाँ चले आये हैं। अतः क्षमा करें। (ऐसा कह कर पैरों पर गिर पड़ता है।]

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, उठिए, उठिए। क्यों अब भी स्वाभाविक उत्तम कुलीनतावश सम्पन्न की जा रही (मेरे प्रति व्यक्त) सेवा से (आप) कष्ट उठा रहे हैं? काञ्चनमाले, इसी लता-पाश से बाँधकर इस दुष्ट ब्राह्मण को पकड़ लो। और इस उद्दण्ड लड़की को आगे-आगे ले चलो।

यहाँ (राजा के साथ) सागरिका के समागम में विघ्न करने वाले वासवदत्ता के क्रोधपूर्ण वचन के द्वारा अनियत प्राप्ति का कारण बतलाया गया है (अर्थात् उदयन की इष्ट प्राप्ति को अनिश्चित बतलाया गया है)। अतः यहाँ तोटक (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

संरब्धम्—संरब्धम् = कोपपूर्णम्, **वचः** = वाक्, **तोटकम्**—तोटयति = परचित्तस्वास्थ्यं भेदयति इति तोटकं नामाङ्गम् ॥

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः' ॥ २८ ॥

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥ २९ ॥

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

और जैसे वेणीसंहार (पृ० १८४ और २००) में—

अश्वत्थामा—'(यदि आप मुझे कौरव-सेना का सेनापति बना देंगे तो) आज (पूरी) रात भर (उस तरह) सोयेंगे (जैसे कि) स्तुतियों से कठिनतापूर्वक निद्रारहित (होएँगे)' ॥ ३।३४ ॥ यहाँ से आरम्भ कर के—

कर्ण—'जब तक मैं अस्त्र धारण किये हुए (हूँ) तब दूसरे आयुधों से क्या (प्रयोजन) ?' यहाँ तक कर्ण एवं अश्वत्थामा के सेना में भेद डालने वाले परस्पर क्रोधयुक्त कथोपकथन से पाण्डवों की विजय प्राप्ति की आशा से युक्त तोटक है ।

अन्य ग्रन्थ में तो—

विद्वानों ने तोटक के विपरीत भाव को 'अधिबल' कहा है, (तोटक वहाँ होता है जहाँ क्रुद्ध वचन का प्रयोग हो । इसका उलटा विनीत वचन ही अधिबल है) ।

जैसे रत्नावली (पृ० १६४) में—

राजा—देवि, इस तरह प्रत्यक्ष देखा गया अपराधवाला (अर्थात् रंगे हाथ गिरफ्तार) मैं क्या निवेदन करूँ ?

हे देवि, पश्चात्ताप करता हुआ (मैं अपने) मस्तक से तुम्हारे चरणों की महावर की हल्की लालिमा को पोंछ रहा हूँ (दूर कर रहा हूँ) । (तुम्हारे) मुखरूपी चन्द्रमण्डल पर क्रोधरूपी (राहु के) ग्रहण से उत्पन्न (लालिमा) को तो (तभी) पोंछने (अर्थात् दूर करने) में समर्थ हो सकता हूँ, यदि मुझ पर (आप की) अत्यन्त दया हो जाय (अर्थात् मैं आप के पैरों पड़ रहा हूँ । मुझ पर दया करें) ॥ ३।१४ ॥

जो आवेगपूर्ण वचन है, वह तोटक कहा गया है ॥ ४१ ॥

अन्यथाभावम्=विपरीतभावम् 'संरब्धं तोटकं वचः' अस्माद्विपरीतभावं 'दीनमधिबलं वचः' इत्यधिबलं वदन्ति ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद।' 'वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त, मा एवं भण अण्णसङ्क्रन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति।' ['आर्यपुत्र, मैवं भण। अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति।']

यथा च वेणीसंहारे—राजा, अये-अये सुन्दरक, कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य? पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण। ['कुशलं शरीरमात्रकेण।'] राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः। पुरुषः—देव, ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो ['देव न भग्नो रथः। भग्नोऽस्य मनोरथः।'] राजा—(ससंभ्रमम्) 'कथम्' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति।

अथोद्वेगः—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि।' ['कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते।'] इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः। यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः।

जैसे रत्नावली में (पृ० १६४) में—

राजा—'प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ।'

वासवदत्ता—(आँखों में आँसू भरती हुई) 'आर्यपुत्र, ऐसा मत कहिए। निश्चय ही, ये अक्षर अन्य (किसी) को लक्षित कर रहे हैं (अर्थात् वस्तुतः आपके हृदय से ये वचन मेरे लिए नहीं अपितु सागरिका के लिए निकल रहे हैं)।'

अथवा जैसे वेणीसंहार (पृ० २२६) में—

राजा—'अरे, अरे सुन्दरक ! (सुन्दरक,) अङ्गराज (कर्ण) कुशल से तो हैं?'

पुरुष—'केवल शरीर भर से कुशल हैं।'

राजा—'क्या अर्जुन के द्वारा इनके (कर्ण के) घोड़े मार डाले गये, या सारथि मार डाला गया अथवा रथ (ही) तोड़ दिया गया?'

पुरुष—'महाराज, रथ (ही) नहीं तोड़ा गया (किन्तु) इनका मनोरथ (भी) तोड़ दिया गया।'

राजा—(घबराहट के साथ) 'कैसे?'

इत्यादि आवेग (घबराहट) पूर्ण वचन के द्वारा तोटक होता है।

१०—उद्वेग

अब उद्वेग (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

शत्रु (अपकारी) की ओर से होने वाला भय ही उद्वेग है।

जैसे रत्नावली (पृ० १८०) में—

अरिकृता = शत्रुजनिता, **उद्वेगः**—उद्विज्यते = विह्वलीभवति हृदयमनेनेति उद्वेगो नामाङ्गम्॥

यथा च वेणीसंहारे—'सूतः-(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः, भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः।

अथ संभ्रमः—

शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—(पश्यन्) का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि।' ['का पुनरेषा ! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापा-

---

सागरिका—(अपने आप) 'पुण्य न करने के कारण क्या अपनी इच्छा के अनुसार मरा भी नहीं जा सकता ?'

विशेष—यह प्रसङ्ग उस समय का है जब सागरिका लता-पाश से फाँसी लगा कर मरना चाहती थी और महाराज उदयन ने उसे वैसा करने से रोका। पर शीघ्र ही वहाँ महारानी वासवदत्ता जा पहुँची तथा सागरिका को पकड़ कर नजरबन्द करने के लिए ले जा रही हैं।

(सागरिका के) इस कथन से (उसे पकड़ कर ले जाने वाली) वासवदत्ता से सागरिका का भय (प्रतीत) हो रहा है। अतः यहाँ उद्वेग (नामक अङ्ग) है। जो जिसका अपकार करने वाला होता है, वह उसका शत्रु होता है, (अतः मिलन में बाधा डालने वाली वासवदत्ता सागरिका की अपकारिणी तथा शत्रु है)।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० २१०) में—

सूत—(सुन कर भयपूर्वक) 'कौरवाधिपति (धृतराष्ट्र) के पुत्ररूपी महावन को ध्वस्त करने वाले पवन के सदृश यह वायुपुत्र (भीम) क्या पास में ही (आ गया) है ? और महाराज (दुर्योधन अभी) होश में नहीं आये हैं। अच्छा, रथ को (यहाँ से) दूर ले चलूँ। (नहीं तो) शायद यह दुष्ट (भीम), दुःशासन की भाँति, इन पर भी क्रूरता कर बैठेगा।'

यहाँ भी शत्रु की ओर से होने वाली भीति है। अतः यह उद्वेग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

११—संभ्रम

अब संभ्रम (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

शङ्का एवं भय को संभ्रम कहते हैं (अर्थात् जहाँ पात्रों में शङ्का तथा भय का सञ्चार पाया जाय वहाँ संभ्रम होता है)।

जैसे रत्नावली (पृ० १७०-१७२) में—

विदूषक—(देखते हुए) 'यह कौन (स्त्री) है ? क्या महारानी वासवदत्ता (महाराज उदयन एवं सागरिका का मिलन देख कर) अपने आपको मार रही हैं ?'

शङ्कात्रासौ—शङ्का = अनिष्टसम्भावना च त्रासश्च = भीतिश्चेति तौ संभ्रमो नामाङ्गम् ॥

दयति ।' 'राजा—(ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ ?' इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति ।

यथा च वेणीसंहारे—(नेपथ्ये कलकलः) 'अश्वत्थामा-(ससंभ्रमम्) मातुल, मातुल, कष्टम् । एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन ।' इति शङ्का । तथा (प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) 'सूतः—त्रायतां त्रायतां कुमारः ।' इति त्रासः । इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति ।

अथाक्षेपः—

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा-वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यत्रोपायं पश्यामि ।' पुनः क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः ।' पुनः 'तत्किमिह

राजा—(घबराहट के साथ आगे बढ़ते हुए) 'कहाँ, कहाँ है वह ?'

यहाँ वासवदत्ता की बुद्धि से गृहीत (अर्थात् वासवदत्ता समझ कर) सागरिका के मरण की आशङ्का (पायी जाती) है । अतः यहाँ संभ्रम (नामक अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० २०२) में—

(पर्दे के पीछे कोलाहल होता है)

अश्वत्थामा—(घबराहट के साथ) 'मामा, मामा, कष्ट है ! भाई (भीम) की प्रतिज्ञा के भङ्ग होने की आशङ्का वाला यह अर्जुन दुर्योधन तथा कर्ण दोनों पर एक साथ ही बाणों की वर्षा से आक्रमण कर रहा है । निश्चय ही भीम ने दुःशासन का रक्त (अब) पान कर लिया ।'

यहाँ शङ्का (का सञ्चार हो रहा) है ।

तथा (पृ० १४२ पर) [भयभीत तथा घायल प्रवेश कर के]

सूत—'बचाइये, बचाइये, कुमार ।' यहाँ त्रास (का सञ्चार हो रहा) है ।

इस तरह दुःशासन तथा द्रोण के वध को सूचित करने वाले शङ्का तथा त्रास के द्वारा, पाण्डवों के विजय की प्राप्ति की आशा से युक्त संभ्रम (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

१२—आक्षेप

अब आक्षेप (नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

गर्भस्थ बीज का उद्भेद (प्रकाशन) ही आक्षेप कहा गया है ॥ ४२ ॥

जैसे रत्नावली (पृ० १७०) में—

राजा—'मित्र, महारानी की प्रसन्नता के अतिरिक्त इस विषय में (अर्थात् सागरिका से मिलन के बारे में) कोई दूसरा उपाय नहीं देख रहा हूँ ।' फिर एक दूसरे

गर्भबीजसमुद्भेदात्—गर्भस्थो बीजः गर्भबीजस्तस्योद्भेदात् = प्रकाशनात्, अनपह्नवादित्यर्थः, गर्भस्य बीजो वा गर्भाद्बीजो वेति ॥

स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः ।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्य कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि ।' ['अथवा किमत्र दैवमुपालभामि; तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति' ।] इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।

अथावमर्शः—

अवसर पर—'निश्चय ही महारानी को प्रसन्न करने के विषय में हम हताश हो चुके हैं ।' फिर (आगे)—'तो यहाँ रुकने से क्या लाभ ? चल कर महारानी को ही मनाऊँ ।'

इससे यह सूचित होता है कि सागरिका के साथ समागम की सम्पन्नता महारानी के प्रसन्न होने के अधीन है । इस तरह यहाँ गर्भस्थ बीज का प्रकाशन करने के कारण आक्षेप (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० २२४) में—

अथवा, इस विषय में दैव को क्या उलाहना दूँ ? क्योंकि यह तो कपटरूपी विषवृक्ष का फल है, विदुर का तिरस्कृत किया गया वचन जिसका बीज है, भीष्मपितामह का ठुकराया गया हितकारी उपदेश जिसका अंकुर है, शकुनि के प्रोत्साहन आदि जिसकी मजबूत जड़ें हैं तथा द्रौपदी का केश-ग्रहण ही जिसका फूल है ।

इस कथन के द्वारा बीज को ही फलोन्मुख रूप में दिखलाया गया है । अतः यहाँ आक्षेप (नामक अङ्ग) है ।

गर्भसन्धि के ये बारह अङ्ग हैं । (रूपक में) इनका उपस्थापन होना चाहिए; क्योंकि ये (कथावस्तु के फल-) प्राप्ति की आशा के प्रदर्शक हैं । इन अङ्गों में अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप की प्रधानता है (अर्थात् रूपक में इनका होना आवश्यक है) । अन्य अङ्गों का यथासम्भव प्रयोग होना चाहिए । इस प्रकार यहाँ तक अङ्गों के सहित गर्भसन्धि बतलायी गयी ।

विमर्श (अवमर्श) सन्धि तथा उसके अङ्ग

अब अवमर्शसन्धि (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा 'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंध्युद्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

तीर्णे भीष्महोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥ ३० ॥

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिविजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथिवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः ।

जहाँ क्रोध से, दुःख से अथवा प्रलोभन से (फल-प्राप्ति के विषय में) विमर्श किया जाय, एवं जिसमें गर्भ-सन्धि के प्रस्फुटित बीजार्थ का सम्बन्ध पाया जाय, वहाँ अवमर्श (या विमर्श) सन्धि होती है ॥ ४३ ॥

अवमर्शन = सोच-विचार को ही अवमर्श तथा पर्यालोचन कहते हैं । वह (अवमर्शन) क्रोध से, दुःख या आपत्ति से, अथवा प्रलोभन आदि कारणों से होता है । जहाँ 'यह फल होना चाहिए' इस तरह अवश्य मिलने वाले फल की प्राप्ति का निश्चय कर लिया जाता है तथा गर्भसन्धि में प्रस्फुटित बीजरूपी अर्थ का सम्बन्ध (अस्तित्व) पाया जाता है वहाँ विमर्श या अवमर्श नामक सन्धि होती है ।

जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में आग लगने के उपद्रव पर्यन्त, वासवदत्ता की अनुकूलता से, निर्विघ्न रत्नावली की प्राप्ति रूप निश्चय से युक्त विमर्श दिखलाया गया है ।

और, जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन के रुधिर से सने हुए भीमसेन के आगमन तक (विमर्श सन्धि है)—

किसी तरह भीष्मरूपी महासागर के पार कर लिये जाने पर, द्रोणरूपी धधकती अग्नि के बुझ जाने पर, कर्णरूपी विषैले नाग के शान्त कर दिये जाने पर तथा शल्य के स्वर्ग चले जाने पर (इस तरह) विजय के थोड़ा (ही) बाकी रहने पर साहसप्रिय भीम के द्वारा शीघ्रतावश (अपनी) वाणी से यह सभी हम लोग प्राण-संशय में डाल दिये गये हैं ॥ ६।१ ॥

यहाँ 'विजय के थोड़ा ही बाकी रहने पर' इस कथन के द्वारा (पाण्डवों के) विजय के बाधक भीष्म आदि सभी महारथियों के वध कर दिये जाने से निश्चित रूप

व्यसनात् = दुःखादापदो वा, **गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः**—गर्भस्य = गर्भसन्धेर्निर्भिन्नो = प्रस्फुटो बीजार्थः यस्मिन् असौऽवमर्शसन्धिरिति ॥

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेति । ['सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति ।'] 'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु किदं देवीए ।' ['अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या ।'] पुनः—'भो अवस्स, मा खु अण्णधा संभावेहि सा खु देवीए उज्जइणीं पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम् ।' ['भो वयस्य, मा खल्वन्यथा संभावय सा

से मिलने वाले विजय का पर्यालोचन किया जाने के कारण अवमर्शन दिखलाया गया है । अतः यहाँ अवमर्शसन्धि है ।

विशेष—गर्भसन्धि में बीज प्रस्फुटित हो जाता है । धीरे-धीरे फल-प्राप्ति की संभावना बढ़ जाती है । किन्तु आगे विमर्शसन्धि में क्रोध, व्यसन तथा प्रलोभन आदि के कारण फलप्राप्ति के विषय में विमर्श (सन्देह) होने लगता है । पुनः विघ्न के हट जाने पर फलप्राप्ति का निश्चय होता है । गर्भसन्धि में फलप्राप्ति के विषय में अनिश्चय अधिक तथा निश्चय कम होता है, किन्तु इसमें निश्चय अधिक एवं अनिश्चय कम होता है ।

उस (अवमर्शसन्धि) के अङ्ग-समूह को बतलाते हैं—

उसमें—१. अपवाद, २. संफेट, ३. विद्रव, ४. द्रव, ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसङ्ग, ८. छलन, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन तथा १३. आदान—ये तेरह अङ्ग होते हैं ।

जिस नाम-क्रम से इनका वर्णन किया गया है, उसी क्रम से इनका लक्षण बतला रहे हैं—

१—अपवाद

(किसी व्यक्ति के) दोषों का कथन (प्रकाशन) ही अपवाद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (पृ० १८६) में—

सुसङ्गता—वह बेचारी तो 'महारानी के द्वारा उज्जयिनी भेजी जा रही है' ऐसी अफवाह फैलाकर आधीरात होने पर पता नहीं कहाँ ले जायी गयी ।

विदूषक—(बड़ी विह्वलता के साथ) 'निश्चय ही महारानी ने अत्यन्त निर्दय (कार्य) कर डाला ।'

फिर (रत्नावली पृ० १९४ पर विदूषक राजा से कहता है)—'हे मित्र, (मेरे कथन का अर्थ) कुछ और न समझो । वह बेचारी महारानी (वासवदत्ता) के द्वारा

खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम् ।'] 'राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी ।' इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः ।

यथा च वेणीसंहारे— 'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक, कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ?' 'पाञ्चालकः—न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाश-स्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अथ संफेट :—

संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भोः कौरवराज, कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैवं विषादं कृथाः—'पर्याप्ताः पाण्डवा समरायाऽहमसहाय' इति ।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥ ३१ ॥

उज्जयिनी भेज दी गयी है, इसीलिए मेरे द्वारा 'अप्रिय' यह कहा गया है ।'

राजा—'दुःख है, महारानी मेरे विषय में बेफिक्र हो गई हैं (अर्थात् मेरे ऊपर स्वल्प भी ध्यान नहीं दे रही हैं) ।'

इन कथनों के द्वारा वासवदत्ता के दोषों को प्रकट किया गया है । अतः यहाँ 'अपवाद' (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० ३२४) में—

युधिष्ठिर—'पाञ्चालक, क्या उस दुरात्मा कौरवाधम की पद-पंक्ति से युक्त मार्ग मिल गया ?'

पाञ्चालक—महाराज, न केवल पद-पंक्ति से युक्त मार्ग (मिला, अपितु) महारानी के केश और वस्त्रों के हरणरूपी महान् पातक का मूल कारण वह दुष्ट व्यक्ति ही मिल गया ।'

यहाँ भी दोषों की चर्चा करने के कारण अपवाद (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

२—संफेट

अब संफेट (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

रोषपूर्ण कथोपकथन ही 'संफेट' कहा जाता है ।'

जैसे वेणीसंहार (पृ० ३३८) में,

(पाञ्चालक युधिष्ठिर को बतला रहा है कि गदायुद्ध के पूर्व भीम ने दुर्योधन से कहा था कि)—हे कौरवराज, बन्धुओं के विनाश का दुःख करना व्यर्थ है । ऐसा विषाद (भी) मत करो कि युद्ध में पाण्डव तो बहुत से हैं और मैं अकेला हूँ ।

हे दुर्योधन, हम पाँचों के (बीच में) जिसको आसानी से युद्ध करने के योग्य

रोषभाषणम्—रोषेण = क्रोधेन भाषणम् = आलाप इति रोषभाषणं संफेट इति । केचित्तु स्फोट अनादर इति धातुं मनसि कृत्वा संस्फोट इति पठन्तीति नाट्यशास्त्रेऽभिनवविवृत्तिः ॥

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान्धार्तराष्ट्रः—

कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ॥ ३२ ॥

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ'—इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति ।

अथ विद्रवः—

विद्रवो वधबन्धादिः

यथा छलितरामे—

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥ ३३ ॥

समझते हो उसी के साथ कवच पहने हुए तथा शस्त्र धारण किये हुए तुम्हारा युद्धोत्सव हो' ॥ ६।१० ॥

इस बात को सुनकर डाहभरी दृष्टि दोनों कुमारों पर (अर्थात् भीम एवं अर्जुन पर) डाल कर धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन) ने कहा—

'कर्ण एवं दुःशासन का वध करने से मेरे लिए तुम दोनों समान ही (हो; तो भी) अप्रिय भी साहसप्रिय (होने से) तुम्हीं युद्ध करने के लिए (हमें) प्रिय हो' ॥ ६।११ ॥

ऐसा कह कर तथा उठ कर परस्पर क्रोधवश निन्दा के कठोर वाक्यों के कलह से भीषण युद्ध आरम्भ कर देने वाले (भीम एवं दुर्योधन ने पैतरा लगाना शुरू कर दिया)।

इस कथोपकथन से विजयरूपी बीज से युक्त भीम तथा दुर्योधन का परस्पर रोषपूर्ण सम्वाद (कथोपकथन) है। अतः यहाँ संफेट (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है।

३—विद्रव

अब विद्रव (नामक अवमर्श सन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(रूपक में उस स्थल को) विद्रव कहते हैं जहाँ कि वध तथा बन्धन आदि का वर्णन हो।

जैसे 'छलितराम' नामक नाटक में—

'जिस (लव) ने सामवेद का पाठ करते हुए (बटुओं) के मुखों को पीछे की ओर घुमा कर अत्यन्त परेशान किया था। बचपन में जिसने (अपने साथियों के) अक्षसूत्र तथा वलय (कंगन) छीन कर तथा (बाद में) वापस कर क्रीड़ा की थी। जो तुम्हारा कलेजा है। वही (बिंधने वाले) बाणों से भरा हुआ स्कन्ध वाला अतः मूर्च्छा के घोर अन्धकार में प्रविष्ट (अर्थात् मूर्च्छित) अतएव कुछ भी करने में असमर्थ यह (लव) अब बाँध कर ले जाया जा रहा है॥'

यथा च रत्नावल्याम्—

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥ ३४ ॥

इत्यादि । पुनः वासवदत्ता—'अज्जउत्त, ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि ।' ['आर्यपुत्र, न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।'] इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः—

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ ३५ ॥

और जैसे रत्नावली (पृ० २१८-२२०) में—

लपटों के समूहों से महलों की सुवर्णनिर्मित शिखरों की-सी शोभा धारण करती हुई, घने उद्यान-वृक्षों की चोटियों को मुरझा देने के कारण (अपने) अत्यन्त तीक्ष्ण ताप को सूचित करने वाली, धुँए के समूह से विहार (करने के लिए निर्मित) पर्वत को जल भरे बादलों के समान श्याम बनाती हुई, दाह से स्त्रीजनों को पीड़ित करने वाली, यह आग इस अन्तःपुर में एकाएक (भड़क) उठी है ॥ ४।१४ ॥ इत्यादि । और—

वासवदत्ता—'आर्यपुत्र, मैं अपने लिये नहीं कह रही हूँ । मुझ निर्दय के द्वारा बेड़ी से जकड़ी गयी यह सागरिका इस (आग) में मर रही है ।'

इन स्थलों में सागरिका के वध (की आशंका), बन्धन और अग्नि (के उपद्रव) के द्वारा विद्रव (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

४—द्रव

अब द्रव (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की पारिभाषा दी जा रही) है—

गुरुओं (आदरणीय व्यक्तियों) का तिरस्कार द्रव (नामक अङ्ग) कहा जाता है ।

जैसे उत्तरामचरित (५।३४) में (राम के लिए सीतापुत्र लव कह रहा है)—

'वे वृद्ध हैं । उनका आचरण विचारणीय नहीं है । ठीक है, (जैसा है, वैसे ही वे) रहें । सुन्द की स्त्री (ताडका) का वध कर देने पर भी अखण्डित यश वाले वे जगत् में महान् ही हैं । खर के साथ युद्ध में (उनके) जो तीन पग पीछे की ओर

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः,

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम्' ॥ ३६ ॥

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।

हटे थे, अथवा इन्द्र-पुत्र (बालि) के वध के समय (उन्होंने) जो करामात दिखलायी थी—उससे भी लोग परिचित हैं ।'

इस कथन से लव ने गुरु (आदरणीय) राम का तिरस्कार किया है । अतः यहाँ द्रव (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (पृ० ३६६) में—

युधिष्ठिर—'भगवन् कृष्ण के बड़े भाई, सुभद्रा के बड़े भाई,

(आप के द्वारा) सम्बन्धियों का प्रेम चित्त में नहीं किया गया (अर्थात् सम्बन्धियों के प्रेम का मन में विचार नहीं किया गया); क्षत्रियों का धर्म (चित्त में) नहीं (किया गया); छोटे भाई (श्रीकृष्ण) का अर्जुन के साथ बढ़ी हुई वह मित्रता भी नहीं गिनी गयी (समझी गयी); दोनों शिष्यों में स्नेह-भाव भले ही समान हो, (किन्तु) यह कौन-सा मार्ग (तरीका) है, जो कि मुझ अभागे से इस तरह मुँह मोड़े हुए हो' ? ॥ ६।२० ॥

विशेष—यह श्लोक उस प्रसङ्ग में कहा गया है जब कि राक्षस ने युधिष्ठिर को यह सूचना दी है कि भीम तथा दुर्योधन के गदायुद्ध छिड़ने पर बलराम ने आकर धीरे से दुर्योधन को कुछ इशारा कर दिया जिससे उसने भीम को मार डाला । बस, इसे सुनते ही युधिष्ठिर विलाप करते हुए उक्त बातें कह रहे हैं ।

उक्त कथन से युधिष्ठिर ने (गदायुद्ध के) शिक्षक बलराम का तिरस्कार किया है । अतः यहाँ द्रव (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

५—शक्ति

अब शक्ति (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

विरोध का शान्त हो जाना 'शक्ति' कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (पृ० १९०) में—

प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ ३७ ॥

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥ ३८ ॥

अथ द्युतिः—

तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिता-

---

राजा—'छलपूर्ण शपथों से, मधुर वचनों से, अत्यधिक मन के अनुकूल आचरण करने से, अत्यन्त लज्जा-भाव से, पैरों पर गिरने से और सखियों के बार-बार कहे गये वचनों से महारानी (वासवदत्ता) उतना प्रकृतिस्थ नहीं हुई जितना कि रोती हुई उसने स्वयं ही आँसुओं के जल से मानो धोकर कोप को दूर कर दिया' ॥ ४।१ ॥

यहाँ सागरिका की प्राप्ति के बाधक वासवदत्ता के कोप के शान्त होने का वर्णन किया गया है । अतः यहाँ शक्ति (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे उत्तररामचरित में लव ने कहा है—'(राम के दर्शन से) विरोध की भावना शान्त हो गयी, आनन्द से लबालब भरा हुआ रस (हृदय में) फैल रहा है, वह (अर्थात् अबसे कुछ क्षणों पूर्व तक विद्यमान मेरा) औद्धत्य कहीं चला जा रहा है, विनय मुझे नम्र बना रहा है, इनके दर्शन होते ही तुरन्त मैं अद्भुत ढंग से परवश हो गया हूँ । अथवा तीर्थस्थलों के समान महान् व्यक्तियों का कोई विलक्षण बहुमूल्य प्रभाव होता है' ॥ ६।११ ॥

६—द्युति

अब द्युति (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

तर्जन (डराना-धमकाना) तथा उद्वेजन (भय उत्पन्न करना) को द्युति कहा गया है ।

जैसे वेणी संहार (पृ० ३३२) में—

(पाञ्चालक युधिष्ठिर को बतला रहा है)—'बलराम के भाई (श्रीकृष्ण) के इस वचन को सुन कर (मथने के कारण) सब दिशाओं के गह्वरों को भर देने के

विरोधप्रशमनम्—विरोधस्य = कोपस्य प्रशमनम् = समापनम्, बुद्धिविभवादिशक्तिकार्यत्वाच्छक्तिः ॥

तर्जनोद्वेजने—यस्य कस्यचित् तर्जनम् = भर्त्सनम् उद्वेजनम् = भयोत्पादनं वा द्युतिर्नामाङ्गम् ॥

शातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरः सलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो, विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥ ३९ ॥

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधन-तर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता । अथ प्रसङ्गः—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः

यथा रत्नावल्यां—'देव, याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्या

बाद भी बचे हुए घबड़ा गये हैं जलचारी पक्षी-गण जिसमें ऐसे, डर के मारे उछल रहे हैं मकर और ग्राह जिसमें ऐसे, जलाशय के जल को मथ कर तथा भीषण गर्जन करके कुमार भीमसेन ने कहा—

निर्मल, चन्द्र के कुल में (अपना) जन्म बतलाते हो; आज भी गदा धारण करते हो; दुःशासन के किञ्चित् गरम खूनरूपी मदिरा से मतवाले मुझको शत्रु कहते हो; मधु एवं कैटभ (नामक राक्षसों) के शत्रु कृष्ण के विषय में भी घमण्ड से अन्धा (होकर) उद्दण्डतापूर्वक व्यवहार करते हो; (तो भी) हे मानवपशु, अब मेरे भय से कीचड़ में छिप रहे हो ?' ॥ ६।७ ॥

इत्यादि से आरम्भ करके 'जलाशय की तलहटी को छोड़ कर वेगपूर्वक उठा' (पृ० ३३६, श्लोकसंख्या ६।९) यहाँ तक भीम का कटु वचन तथा जल का मन्थन (दोनों ही) दुर्योधन का (क्रमशः) तर्जन तथा उद्वेजन करने वाले हैं, ये (दोनों ही) पाण्डवों के विजय में सहायताप्रद दुर्योधन के (जल से) उठने में हेतु हैं। अतः यहाँ द्युति (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ॥

७—प्रसङ्ग

अब प्रसङ्ग (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(प्रस्तुत प्रसङ्गवश) गुरुजनों (अर्थात् बड़े जनों) का कीर्तन (अर्थात् चर्चा करना) प्रसङ्ग कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (पृ० २१८) में—

वसुभूति—'महाराज, चिरञ्जीविनी वासवदत्ता को जल गयी सुन कर पहले (आप लोगों के द्वारा) माँगी गयी अपनी रत्नावली नामवाली जिस पुत्री को सिंहलेश्वर ने

गुरुकीर्तनम्—गुरुणाम् = पूज्यजनानां श्रेष्ठजनानामित्यर्थः कीर्तनम् = प्रसङ्गात् कथनं प्रसङ्गः कथितः ॥

लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एस सागलदत्तस्य सुओ अज्जविण-अदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि एदेण किल गणिआ वसन्त-सेणा सुवण्णलोभेण वावादिद त्ति ।' ['एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।']

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ।। ४० ।।

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ।

अथ छलनम्—

छलनं चावमाननम् ।। ४६ ।।

महाराज (आप) के लिए दी थीं ।'

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश रत्नावली की प्राप्ति के अनुकूल कुलीनता को प्रकाशित करने वाले परिवार तथा माता-पिता का कीर्तन किया गया है। अतः यहाँ प्रसङ्ग (नामक अङ्ग) है।

इसी तरह मृच्छकटिक (पृ० ६३७) में—

चाण्डालक—'सागरदत्त का पुत्र, आर्य विनयदत्त का नाती (पौत्र) चारुदत्त मार डालने के लिए फाँसी के स्थान पर ले जाया जा रहा है। निश्चय ही इसने सुवर्ण (के आभूषणों) के लोभ से वेश्या वसन्तसेना को मार डाला है।'

चारुदत्त—'पहले, सैंकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा कुल यज्ञ-सभा में तथा (निमन्त्रित व्यक्तियों से) भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद-पाठों से उज्ज्वल (प्रकाशित) रहा करता था। (वही मेरा कुल) मरने की हालत में मेरे विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा के स्थान पर (बुरे काम के साथ) घोषित किया जा रहा है' ।। ६।१२।।

इससे चारुदत्त के (आज्ञा किये जा रहे) वध तथा (अन्त में मिलने वाले) अभ्युदय के अनुकूल प्रसङ्गवश (चारुदत्त के) गुरुजनों का कीर्तन किया गया है। अतः यहाँ प्रसङ्ग (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है।

८—छलन

अब छलन (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(किसी व्यक्ति के किये गये) अपमान को छलन कहते हैं।

जैसे रत्नावली (पृ० १९४) में—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी। इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति।

अथ व्यवसायः—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः

यथा रत्नावल्याम्—ऐन्द्रजालिकः—

किं घरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम्॥ ४१॥

अहवा किं बहुआ जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण॥
['किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥ ४२॥]

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

राजा—'दुःख है, महारानी मेरे विषय में बेफिक्र हो गयी हैं (अर्थात् मेरे ऊपर स्वल्प भी ध्यान नहीं दे रही हैं)।

विशेष—यह प्रसङ्ग उस समय का है जब कि विदूषक दुःख के साथ राजा को यह कठोर समाचार देता है कि महारानी वासवदत्ता ने सागरिका को उज्जयिनी भेज दिया है।

यहाँ पर वासवदत्ता के द्वारा (सागरिका को अन्यत्र भेज कर) वत्सराज उदयन के अभीप्सित की सिद्धि न की जाने के कारण उनकी अवहेलना की गयी है। अतः यहाँ छलन (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है।

और जैसे रामाभ्युदय (नामक नाटक) में सीता का परित्याग कर उनका अपमान किया गया है। अतः वहाँ भी छलन (नामक सन्ध्यङ्ग) है॥

९—व्यवसाय

अब (ग्रन्थकार) व्यवसाय (की परिभाषा करते) हैं—

अपनी शक्ति को (उत्कृष्ट) बतलाना ही व्यवसाय है।

जैसे रत्नावली (४।८,९) में—

ऐन्द्रजालिक—'(महाराज), आज्ञा दीजिये। क्या पृथिवी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में आग (अथवा) दोपहर के समय गोधूलि दिखलायी जाय'॥ ४।८॥

अथवा अधिक कहने से क्या (लाभ)?

स्वशक्त्युक्तिः—स्वस्य = निजस्य शक्तेः = सामर्थ्यस्य उक्तिः = कथनम्, स्वसामर्थ्यप्रकाशनमिति यावत् व्यवसायो नामाङ्गम्॥

[मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥ ४३ ॥]

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिका-दर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे—

नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ॥ ४४ ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम्—

संरब्धानां विरोधनम् ।

यथा वेणीसंहारे—'राजा—रे रे मरुत्तनय, किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।

यह मेरी प्रतिज्ञा है—जो-जो देखने के लिए (आप) मन से चाहेंगे, गुरु के (द्वारा सिखलाये गये) मन्त्र के प्रभाव से मैं वह-वह (वस्तु) आप को स्पष्ट रूप से दिखला दूँगा' ॥ ४।९ ॥

इस (कथन) से ऐन्द्रजालिक ने बनावटी अग्नि की भ्रान्ति उत्पन्न करके वत्सराज (उदयन) के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट किया है । अतः यहाँ व्यवसाय (नामक अवमर्शशक्ति का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६।६) में—

युधिष्ठिर—'प्रतिज्ञा के भंग से डरने वाले उन वीर (भीम) के द्वारा आज तुम्हारा केशपाश तथा इस (केशपाश) को खींचने वाला वह (दुर्योधन) निश्चय ही संहारा जायगा (अर्थात् भीम दुर्योधन को मार कर तुम्हारा केश-कलाप अवश्य ही बाँधेंगे)' ॥ ६।६ ॥

इस (कथन) से युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति को प्रकाशित करते हैं ।

१०—विरोधन

अब विरोधन (नामक अवमर्शसन्धि की परिभाषा दी जा रही) है—

आवेशपूर्ण व्यक्तियों का (अपने सामर्थ्य का वर्णन करना) विरोधन कहा गया है ।

जैसे वेणीसंहार (५।३०-३४) में—

राजा—'रे रे वायुपुत्र, क्यों इस तरह वृद्ध राजा के सामने निन्दा के योग्य अपने कर्म की प्रशंसा कर रहे हो ? और भी—

मुझ जगत्पति की आज्ञा से, राजाओं के समक्ष जुए में (In gambling)

अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥ ४५ ॥
(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥ ४६ ॥

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क,
अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे ॥ ४७ ॥

अन्यच्च मूढ,
शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।

जीती गयी दासी, तुझ पशु की, (अर्जुन की ओर इशारा करके) तेरी तथा उस राजा (युधिष्ठिर) की अथवा उन दोनों (नकुल-सहदेव) की पत्नी शिर का बाल पकड़ कर खींची गयी, इस वैर के प्रसङ्ग में जो राजा मारे गये हैं, बतलाओ उन लोगों के द्वारा क्या अपकार किया गया था ? भुजाओं के बल के आधिक्यरूप धन के महान् मद से युक्त मुझको विना जीते ही अभिमान (हो गया है) ?' ॥ ५।३० ॥

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं)

अर्जुन—'आर्य, प्रसन्न होइये । उस पर क्रोध करने से क्या (लाभ) ?

मारे गये सौ भाइयों वाला, (अतः) दुःखी यह (दुर्योधन) वचनमात्र से अप्रिय कर रहा है, (क्योंकि) कार्य से (अप्रिय करने में) नहीं समर्थ है । (अतः) इसकी बकवासों से क्या व्यथा (अर्थात् इसकी बकवासों से व्यथा नहीं होनी चाहिए)' ॥ ५।३१॥

भीम—'अरे रे भरतकुल के कलङ्क,

हे कटु बकवास करनेवाले, मेरी गदा की नोक से तोड़ी जाती हुई (अतः) शब्दायमान हड्डियों वाले तुम्हारे शरीर के विषय में यदि माता-पिता बाधा नहीं करते तो दुःशासन का अनुसरण करने के लिए मैं आपको आज ही क्यों न विदा कर देता ? (अर्थात् यदि माता-पिता यहाँ उपस्थित न होते तो मैं तुम्हें अवश्य ही अभी समाप्त कर देता) ॥ ५।३२॥

और भी मूढ़,

स्त्री की भाँति आँसुओं के द्वारा जो कि शोक प्रकट कराये गये हो, तथा भाई की छाती फाड़ने में जो कि प्रत्यक्ष द्रष्टा बनाये गये हो—यह (दो), तुम्हारे कुलरूपी

आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥ ४८ ॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो, नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥ ४९ ॥

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ४७ ॥

यथा वेणीसंहारे—'पाञ्चालकः–अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन–

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

कमल-लता के लिए हाथी भीमसेन के कुपित होने पर, तुझ दुष्ट राजा के जीवित रहने का कारण था (अन्यथा तुझे मैंने पहले ही समाप्त कर दिया होता) ॥ ५।३३ ॥

राजा—दुष्ट प्रकृतिवाले, भरतकुल में नीच, पाण्डवपशु, मैं तुम्हारी तरह डींग हाँकने में ढीठ नहीं हूँ । किन्तु—

(तुम्हारे) बन्धु-जन युद्ध-स्थल में मेरी गदा से टूटी हुई छाती की हड्डियों की मालारूप भङ्गिमा से भीषण (इसीलिए जमीन पर) सोते हुए तुझे अतिशीघ्र देखेंगे ॥ ५।३४ ॥

इन कथनों के द्वारा आवेश में आये हुए भीम तथा दुर्योधन का अपनी-अपनी ताकत (शक्ति) का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ विरोधन (नामक अवमर्श-सन्धि का अङ्ग) है ।

११—प्ररोचना

अब प्ररोचना (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

जब भावी सफलता, पहले से ही, किसी सिद्ध के द्वारा कह दी जाती है तो वहाँ प्ररोचना (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग होता) है (अर्थात् प्ररोचना वहाँ होती है, जहाँ कि भविष्य में होने वाली बात की सूचना पहले ही दे दी जाती है) ॥४७॥

जैसे वेणीसंहार (६।१२) में—

पाञ्चालक—(युधिष्ठिर से कहता है) "मैं महाराज श्रीकृष्ण के द्वारा (आपके पास भेजा गया हूँ) ।" यहाँ से आरम्भ करके 'अब सन्देह करना व्यर्थ है—

रत्न के कलश आपके राज्याभिषेक के लिए जल से भरे जायँ । बहुत दिनों से

सिद्धामन्त्रणतः—सिद्धवदामन्त्रणम् = सूचनं तस्मात्, **भाविदर्शिका**—भाविनः = भाविनोऽर्थस्य दर्शिका = सूचिका प्रकर्षेण रोचते इति प्ररोचना नामावमर्शाङ्गम् ॥ विकत्थना = आत्मप्रशंसा, सन्मार्गाद्विचलनाद्विचलनं नाम विमर्शाङ्गम् ॥

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥ ५० ॥

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदीकेश-संयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

अथ विचलनम्—

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—भीमः—तात, अम्ब,

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥ ५१ ॥

अपि च तात,

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्त्वा सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥ ५२ ॥

छोड़े गये जूड़ा को बाँधने के विषय में द्रौपदी उत्सव मनाये । कठोर परशु से सुशोभित करवाले परशुराम के तथा क्रोध से उन्मत्त भीम के युद्ध में उतरने पर (भला) कहाँ से सन्देह (हो सकता है) ? ॥ ६।१२ ॥

यहाँ से लेकर "महाराज युधिष्ठिर मङ्गल (उत्सव) को मनाने की आज्ञा दे रहे हैं" (कञ्चुकी के) इस कथन तक के पाठ के द्वारा द्रौपदी के भावी केशसंयमन तथा युधिष्ठिर के भावी राज्याभिषेक का भी सम्पन्न रूप से प्रदर्शित कराया गया है । अतः यहाँ प्ररोचना (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

१२—विचलन

अब विचलन (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

आत्मप्रशंसा या अपने विषय में हाँकी गई डींग को विचलन कहते हैं ।

जैसे वेणीसंहार में—

भीम—पिताजी, माताजी,

जिसके ऊपर (अर्थात् जिसके सहारे) आपके पुत्रों के द्वारा सभी शत्रुओं को जीतने की आशा बाँधी गई थी; जिसके अभिमान से संसार तिनके की तरह तिरस्कृत किया गया था; उस राधा-पुत्र (कर्ण) को संग्राम के मध्य मारने वाला यह मझला पाण्डव (सामने खड़ा अर्जुन) आप दोनों माता-पिता को प्रणाम कर रहा है ॥ ५।२७ ॥

और भी पिताजी,

सभी कौरवों को पीस डालनेवाला, दुःशासन के खून से मतवाला, दुर्योधन की जाँघों को (शीघ्र ही) तोड़नेवाला, यह भीम शिर से प्रणाम कर रहा है ॥ ५।२८ ॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥ ५३ ॥

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

अथादानम्—

आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे—

'भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः,

इन कथनों से विजयरूपी बीज से युक्त अपने गुणों का प्रकाशन किया गया है (अर्थात् अपनी डींग हाकी गई है)। अतः यहाँ विचलन नाम के विमर्शसन्धि का अङ्ग है ।

और, जैसे रत्नावली में—

यौगन्धरायण—जब मेरे कहने से महारानी ने (अलग रह कर) पति का वियोग स्वीकार किया, तब मैंने महाराज का (दूसरी) स्त्री से सम्बन्ध कराकर उन्हें दुःख में डाल दिया । स्वामी (उदयन) का यह (प्राप्त होनेवाला) जगत् का शासक होने का लाभ (अर्थात् जगत्प्रभुत्व) उन (महारानी) को आनन्दप्रदान करेगा, (यह) सच है । तथापि, लज्जा के कारण (महारानी को अपना) मुँह दिखलाने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥ ४।२० ॥

इस कथन में यद्यपि यौगन्धरायण का अभिप्राय कुछ दूसरा ही है तथापि "मैंने वत्सराज को ऐसी कन्या प्राप्त करा दी जिसका फल चक्रवर्ती-पद का प्राप्त होना है।" इस प्रकार से यहाँ अपने गुणों का कथन भी है । अतः यहाँ विचलन (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है ।

१३—आदान

अब आदान (नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की इच्छा से फैलाये गये) कार्यों का संग्रह अर्थात् समेटने का कार्य करता है तो वह आदान कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार में—

भीम—अरे हे समन्तपञ्चक में घूमने वाले जनों,

कार्यसंग्रहः—कार्याणाम् = कर्मणाम् एक सहः = सङ्कलनम् आदानं नामाङ्गम् ॥

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥ '५४ ॥

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संग्रहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम्'। ['दिष्ट्या समन्तात्-प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्'।] इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः, इति दर्शितमेवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्रोचनादानानि प्रधानानीति ।

अथ निर्वहणसंधिः—

मैं न राक्षस (अथवा) न भूत (ही हूँ)। शत्रु के रक्तरूपी जल से भीगे हुए अङ्गोंवाला, भली-भाँति महान् प्रतिज्ञारूपी गहन सागर को पार कर चुका हुआ, क्रोधी क्षत्रिय हूँ। संग्रामरूपी अग्नि की लपट से अवशिष्ट क्षत्रिय वीरों, आप लोगों के इस भय से बस (अर्थात् आप लोगों को डरने की आवश्यकता नहीं) जो कि (आप लोगों के द्वारा) मारे गये हाथियों एवं घोड़ों से आड़ करके छिप कर बैठा गया है ॥ ६।३७ ॥

इत्यादि के द्वारा समस्त शत्रुओं के वध रूपी कार्य का संग्रह (समेटना, उपसंहार) किया गया है। अतः यहाँ आदान (नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे रत्नावली (४.१६-१७) में—

सागरिका—(चारों ओर देखकर) भाग्य से चारों ओर अग्निदेव जल रहे हैं। (यह) आज (मेरे) दुःखों का अन्त कर देंगे।

यहाँ यद्यपि कथन का तात्पर्य कुछ दूसरा ही है तो भी दुःख समाप्तिरूपी कार्य का संग्रह (समापन, समेटना) किया गया है। अतः यहाँ आदान (नामक अवमर्शाङ्ग) है।

और, जैसे (रत्नावली, ४-२०) में "स्वामी (उदयन) को चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति" (यौगन्धरायण के) इस (कथन) के द्वारा यह आदान ही दिखलाया गया है।

ये तेरह अवमर्श सन्धि के अङ्ग हैं। इनमें से अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान प्रधान हैं (अर्थात् किसी भी रूपक में इनका होना आवश्यक है)।

निर्वहण-सन्धि तथा उसके अङ्ग

अब निर्वहण (नामक) सन्धि (की परिभाषा दी जा रही) है—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज, वर्धसे, वर्धसे अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षितानामेकार्थतया योजनम् ।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूतिः–(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ।

वह निर्वहण-सन्धि है, जहाँ कि बीज से युक्त मुख आदि (अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ और अवमर्श) सन्धियों में नियमानुसार (यथायथं) बिखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (अर्थात् प्रधान) प्रयोजन के लिए एक साथ समेटना पाया जाता है (अर्थात् प्रधान प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है) ॥ ४८-४९ ॥

जैसे वेणीसंहार (६.३८-३९) में—

कञ्चुकी—(पास में जाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ) महाराज, (आप) बढ़ रहे हैं, बढ़ रहे हैं । दुर्योधन के रक्त से रञ्जित सकल शरीर एवं वस्त्रवाले (अतः) पहचानने में कठिन आकारवाले यह तो कुमार भीमसेन हैं ।

इत्यादि कथन के द्वारा अपने-अपने स्थानों पर (अर्थात् यत्र-तत्र) बोये गये, द्रौपदी के केश-संयमन आदि (यहाँ आदि पद से शत्रुओं का विनाश तथा चक्रवर्तित्व-प्राप्ति आदि को समझना चाहिये) बीजों को, जो कि मुखसन्धि आदि में निक्षिप्त किये गये हैं, एक प्रयोजन के साथ मिलितरूप से केन्द्रित किया गया है । अतः यहाँ निर्वहणसन्धि है ।

और, जैसे रत्नावली (४.१९-२०) में मुखसन्धि आदि में विकीर्ण सागरिका, रत्नावली, वसुभूति तथा बाभ्रव्य आदिरूप अर्थों का वत्सराज उदयन के एकमात्र कार्य (रत्नावली के साथ समागम) के लिए ही समाहार होता है ।

वसुभूति—(सागरिका को ध्यान से देख कर, दूसरी ओर मुँह करके) बाभ्रव्य, यह (लड़की) राजकुमारी (रत्नावली) के समान आकारवाली है ।

इत्यादि कथन के द्वारा (वसुभूति आदि ने वत्सराज का कार्य समाहृत हो सम्पन्न किया है)—यह (विभिन्न अर्थों का एक कार्यसाधकता के लिए समाहार) दिखलाया गया है । अतः यहाँ निर्वहणसन्धि है ।

यथायथम् = यथानियमम्, **विप्रकीर्णाः** = नाटककारेण यत्र तत्र उपन्यस्ताः, **बीजवन्तः** = पूर्वोक्तलक्षणबीजार्थसहिताः, **मुखाद्यर्थाः**—मुखाद्यानां चतुर्णां सन्धीनां ये अर्थाः = प्रारम्भाद्याः यत्र **एकार्थ्यम्** = एकप्रयोजनसाधकभावम्, उपनीयन्ते = उपस्थाप्यन्ते तत्र निर्वहणं नाम सन्धिः ॥

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्बीजोपगमनम्

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—बाभ्रव्य, सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवति यज्ञवेदिसंभवे, स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥ ५५ ॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ।

उस (निर्वहण) सन्धि के अङ्ग (निम्नलिखित) हैं—

१—सन्धि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषण, ६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषा, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार और १४. प्रशस्ति—ये चौदह (निर्वहणसन्धि के अङ्ग हैं) ॥ ४९-५० ॥

नाम-निर्देश के अनुसार क्रम से (इनके) लक्षण बतलाये जा रहे हैं—

१—सन्धि

(फलागम के समय) बीज का सन्धान (स्मरण) करना ही सन्धि है ।

जैसे रत्नावली (४.१९-२०) में—

वसुभूति—बाभ्रव्य, यह (लड़की) राजकुमारी (रत्नावली) की तरह है ।

बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही प्रतीत हो रहा है ।

इसके द्वारा नायिकारूप बीज का अनुसन्धान किया गया है । अतः यहाँ सन्धि (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४१-४२) में—

भीम—हे श्रीमती, यज्ञ की वेदी से उत्पन्न (द्रौपदी), याद कर रही हैं आप जो मैंने कहा था ? (मैंने कहा था कि)—

हे देवि, चञ्चल भुजाओं के द्वारा घुमाई गई प्रचण्ड गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दोनों जाँघों वाले दुर्योधन के चिकने, चिपके हुए, गाढ़े रक्त से लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशों को अलङ्कृत करेगा ॥ १।२१ ॥

इसके द्वारा मुखसन्धि में निक्षिप्त बीज का फिर से अनुसन्धान करने के कारण यहाँ सन्धि (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

अथ विबोधः—

विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव, कुत इयं कन्यका ? राजा–देवी जानाति। वासवदत्ता—अज्जउत्त, एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। [आर्यपुत्र, एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता, अत एव सागरिकेति शब्द्यते।'] राजा- (आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः— किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणि-

---

२—विबोध

अब विबोध (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(पीछे सम्पन्न या प्रतिज्ञा किये गये) कार्य का अन्वेषण विबोध कहा जाता है।

जैसे, रत्नावली (४. १९-२०) में—

वसुभूति—(ध्यान से देखकर) महाराज, यह लड़की कहाँ से ? (अर्थात् यह लड़की कहाँ से आई है ?)।

राजा—महारानी (इस बात को) जानती हैं।

वासवदत्ता—स्वामिन्, अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा यह कहकर—'यह सागर से मिली है'—मेरे हाथ में धरोहर रक्खी गई थी। यही कारण है कि यह 'सागरिका' कही जाती है।

राजा—(अपने आप) यौगन्धरायण के द्वारा धरोहर रक्खी गई ! यह (यौगन्धरायण) मुझसे बिना बतलाये कोई (कार्य) कैसे करेगा ?

इसके द्वारा रत्नावलीरूप कार्य का (जिसे फल भी कह सकते हैं) अन्वेषण किया गया है।

अतः यहाँ विबोध (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४०-४१) में—

भीम—छोड़ें-छोड़ें आर्य मुझे एक क्षण के लिए।

युधिष्ठिर—(अब) दूसरा क्या बाकी है (जिसके लिए आप जाना चाहते हैं) ?

भीम—बहुत महान् (कार्य) बाकी रह गया है। सर्वप्रथम दुर्योधन के रक्त से भीगे हुए इस (अपने) हाथ से दुःशासन के द्वारा खींचे गये द्रौपदी के केश-पाश को बाँधूँगा।

कार्यमार्गणम्– कार्यस्य = पूर्वप्रतिज्ञातस्य कर्तव्यविषयस्य मार्गणम् = अन्वेषणम् विशेषबोधविषयत्वाद्विबोधो नामाङ्गम्॥

तोक्षितेन पणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः–गच्छतु भवान् अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्। इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति!

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव, क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि, न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु, स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

अथ निर्णयः—

ऽनुभूताख्या तु निर्णयः॥ ५१॥

युधिष्ठिर—जायँ आप। (वह) बेचारी चोटी सँवारने के आनन्द का अनुभव करे।

इसके द्वारा केश-संयमनरूप कार्य का अन्वेषण किया गया है। अतः यहाँ विबोध (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

३—ग्रथन

अब ग्रथन (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

उस (कार्य) के उपसंहार को ग्रथन कहा जाता है।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में—

यौगन्धरायण—महाराज, क्षमा करें जो कि आपसे बिना निवेदन किये मैंने यह (रत्नावली को उसके पिताजी के घर से मँगाना आदि कार्य) कर डाला है।

इस कथन से वत्सराज (उदयन) के रत्नावली को प्राप्त करानेवाले कार्य का उपसंहार किया गया है। अतः यहाँ ग्रथन (नामक निर्वहणाङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.३७-३८) में—

भीम—पाञ्चालनरेश की पुत्री (द्रौपदी), दुःशासन के द्वारा छितराई गई चोटी मेरे जीते जी अपने हाथों से मत बाँधना। रुकिये, स्वयं ही मैं सँवार कर बाँधता हूँ (इस चोटी को)।

इस कथन के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन (चोटी सँवारना) रूप कार्य का उपसंहार करने के कारण यहाँ ग्रथन (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

४—निर्णय

अब निर्णय (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

अनुभव की गई बात का कहना ही निर्णय है (अर्थात् प्रमाणसिद्ध वस्तु का कथन ही निर्णय है)।

तदुपक्षेपः—तस्य=कार्यस्य उपक्षेपः=उपन्यासः, उपसंहार इति यावत्, ग्रथनं नाम निर्वहणाङ्गम्।

यथा रत्नावल्याम्—यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव, श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वर-दुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति सार्वभौमो राजा भविष्यति, तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातशत्रो, क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥ ५६ ॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में—

यौगन्धरायण—(हाथ जोड़े हुए) महाराज, सुनिये। जो यह सिंहलेश्वर की पुत्री (सागरिका है) उसके विषय में सिद्ध (महात्मा) ने कहा था कि—'जो (व्यक्ति) इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा।' तदनन्तर उस (सिद्धवाणी) में विश्वास करने के कारण हमारे द्वारा महाराज के लिए अत्यन्त प्रार्थना करने पर भी, महारानी वासवदत्ता के मानसिक क्लेश को बचाते हुए सिंहलाधिपति ने जब उसे न दी तब लावणिक (गाँव में लगी) आग से महारानी जल गई ऐसा समाचार फैलाकर उन (सिंहलेश्वर) के पास बाभ्रव्य को भेजा गया।

इसके द्वारा यौगन्धरायण ने अपनी अनुभव की गई बात का वर्णन किया है। अतः यहाँ निर्णय (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.३९) में—

भीम—महाराज अजातशत्रो, कहाँ (है) आज भी दुष्ट दुर्योधन ? उस दुरात्मा का मेरे द्वारा—

शरीर जमीन पर फेंक दिया गया है। यह (देवी अर्थात् रक्त) चन्दन के सदृश रक्त अपने शरीर पर लगाया गया है। चारों समुद्रों के जल की सीमावाली (अर्थात् चारों समुद्र ही हैं सीमा जिसकी ऐसी) पृथिवी के साथ (राज्य—) श्री आपमें स्थित हुई। सेवक, मित्र, योद्धा (तथा) यह समूचा कुरुकुल युद्धाग्नि में भस्म हो चुका है। हे राजन्, जिसे बोल रहे हो धृतराष्ट्र के पुत्र (उस दुर्योधन) का एकमात्र नाम (ही) अब बचा हुआ (है) ॥ ६।३९ ॥

अनुभूताख्या—अनुभूतस्य = प्रत्यक्षादिना पूर्वज्ञातविषयस्य आख्या = कथनम्, प्रमाणसिद्धस्य वस्तुनः कथनमित्यर्थः, निर्णीतविषयत्वान्निर्णयो नामाङ्गम् ॥

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम् । [कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्] 'वासवदत्ता-(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे, इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि । (अपवार्य) अज्जउत्त, लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि से बन्धणम् । ['एहि अयि निष्ठुरे, इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । आर्यपुत्र, लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम् ।'] राजा—यथाह देवी । (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूतिं निर्दिश्य), अज्ज, 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदम् !' ['आर्य, अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम् ।'] इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन ।' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योऽहसति पाण्डवदारान् ।' इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ।

इस कथन से (भीम के द्वारा) अपने अनुभूत अर्थ का कथन किया गया है । अतः यहाँ निर्णय (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

५—परिभाषण

अब परिभाषण (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

परस्पर की बातचीत को परिभाषा अथवा परिभाषण कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (४.१९-२०) में—

रत्नावली—(अपने आप) महारानी के प्रति अपराध करनेवाली (मैं इनको) मुख दिखलाने में समर्थ नहीं हूँ ।

वासवदत्ता—(आँखों में आँसू भरे हुई दोनों बाँहें फैला कर) अरी अतिनिष्ठुरे, आओ । भला अब भी बन्धु-प्रेम (बहन के प्रेम) का प्रदर्शन करो । (राजा के प्रति) आर्यपुत्र, मैं (अपनी) इस नृशंसता से लज्जित हो रही हूँ । तो अतिशीघ्र इसके बन्धन को खोलिये ।

राजा—जैसा महारानी का कहना (बन्धन खोलता है) ।

वासवदत्ता—(वसुभूति को इशारा करके) आर्य, मन्त्री यौगन्धरायण के द्वारा दुर्जन बनाई गई थी । जानते हुए भी जिस (यौगन्धरायण) के द्वारा (मुझसे रत्नावली के विषय में कुछ) नहीं कहा गया ।

यहाँ परस्पर भाषण करने के कारण परिभाषण (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४१) में—

भीम—"जिस मानव-पशु उस दुःशासन के द्वारा तुम राज-सभा में घसीटी गई थी ।" यहाँ से लेकर "कहाँ है वह भानुमती जो पाण्डव-स्त्रियों की हँसी उड़ाती थी ?"

अथ प्रसादः—

प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'देव, क्षम्यताम् ।' इत्यादिना दर्शितम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये, दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ?

अथानन्दः—

आनन्दो वाञ्छिताप्तिः

यथा रत्नावल्याम्—'राजा यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णाति)'

यथा च वेणीसंहारे—'दौपदी—णाध विसुमरिदह्मि एदं वावारं णाधस्स प्पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति) [नाथ, विस्मृतास्म्येतं व्यापारं,

---

यहाँ तक परस्पर बात-चीत है। अतः यहाँ परिभाषण (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

६—प्रसाद

अब प्रसाद (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

(नायक, नायिका अथवा किसी प्रधान पात्र की) आराधना (प्रसन्न करने का तरीका) ही प्रसाद कहलाता है।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में—

(यौगन्धरायण)—"महाराज, क्षमा करें।" इत्यादि के द्वारा (यह प्रसाद ही) दिखलाया गया है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४०-४१) में—

भीम—(द्रौपदी के पास में जाकर) देवि, पाञ्चालराज की बेटी, सौभाग्य से (आप) शत्रु-कुल के नाश से बढ़ रही हैं (अर्थात् शत्रु-कुल के नाश पर आपको बधाई है)।

इस कथन से भीमसेन के द्वारा द्रौपदी की आराधना (खुशामद) की गई है। अतः यहाँ प्रसाद (नामक निर्वहणाङ्ग) है।

७—आनन्द

अब आनन्द (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

अभीप्सित की प्राप्ति आनन्द कहलाती है।

जैसे, रत्नावली (४.२०-२१) में—

राजा—जैसा देवी कहें। (रत्नावली को स्वीकार करता है)।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४१-४२) में—

द्रौपदी—स्वामिन्, भूल गई हूँ इस कार्य को। नाथ, (आप) की कृपा से फिर से सीखूँगी।

वाञ्छिताप्तिः—वाञ्छितस्य = अर्थितस्य आप्तिः = प्राप्तिः, आगम इति यावत्, आनन्द-हेतुत्वादानन्दः ॥

नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि।'] इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।

अथ समयः—

समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए।' ['समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके।'] इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः ।

यथा च वेणीसंहारे 'भगवन्, कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्तिं
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥ ५७ ॥

यहाँ (रत्नावली वाले उदाहरण में) वत्सराज उदयन को अपनी अभीप्सित वस्तु रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है तथा (वेणीसंहारवाले उदाहरण में) द्रौपदी को केशबन्धन (चोटी सँवारना) की प्राप्ति हो जाती है। अतः यहाँ आनन्द (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

८—समय

अब समय (नामक निर्वहण-सन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

दुःख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है ॥ ५२ ॥

जैसे रत्नावली (४.१९-२०) में—

वासवदत्ता—(रत्नावली को गले लगाकर) "धीरज धारण करो, धीरज धारण करो प्यारी बहन।"

इसके द्वारा दो बहनों के परस्पर मिलन से दुःख समाप्त हो जाता है। अतः यहाँ 'समय' (नामक निर्वहणाङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४३) में—

युधिष्ठिर—(कृष्ण के प्रति) देव, जिसके लिए स्वयं भगवान् सनातन पुरुष नारायण मङ्गल की कामना कर रहे हैं, उसका (भला) विजय के अतिरिक्त और क्या (हो सकता है) ?

महान् महत्-तत्त्व आदि को उत्पन्न करनेवाली (अर्थात् प्रकृति) के संक्षोभ (Agitation) से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीरवाले (अथवा महत्-तत्त्वादि में किये गये महान्, क्षोभ = हल्चल से उत्पन्न पञ्चभूतमय शरीरवाले) सगुण, प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति (Maintenance) के कारण, अजन्मा, अमर, अचिन्त्य आप का ध्यान करके भी (कोई) दुःखी नहीं होता है; हे देव, देखकर फिर क्या (कहना) ? ॥ ४३ ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति।

अथ कृतिः—

कृतिर्लब्धार्थशमनम्

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—को देव्या प्रसादं न बहु मन्यते ? । वासवदत्ता—उज्जउत्त, दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदि।' ['आर्यपुत्र, दुरेऽस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।'] इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टय उपशमनात्कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे—'कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्तराज्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः।

अथ भाषणम्—

इस कथन के द्वारा युधिष्ठिर के दुःख का दूर होना दिखलाया गया है। (अतः यहाँ समय नामक निर्वहणाङ्ग है)।

९—कृति

अब कृति (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

उपलब्ध विषयों से (क्रोध आदि का) जो शमन है, उसे कृति कहते हैं, अथवा प्राप्त जो (क्रोध आदि) अर्थ हैं उनके शमन को कृति कहते हैं, अथवा प्राप्त वस्तु के स्थिरीकरण (ठीक से सँभालकर रखने) को कृति कहते हैं।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में—

राजा—कौन (व्यक्ति) महारानी के प्रसाद (कृपापूर्वक प्रदान की गई वस्तु) को अत्यन्त आदरपूर्वक नहीं ग्रहण करेगा ?

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसका पीहर (पितृ-गृह) दूर है। तो (आप) वैसा करें, जिससे (यह अपने) भाई-बन्धुओं की याद न करे।

इस पारस्परिक कथोपकथन से रत्नावली के मिल जाने पर राजा के भलीभाँति समागम के लिए (कोप या डाह, ईर्ष्या) का (वासवदत्ता के द्वारा) उपशमन किया गया है। अतः यहाँ कृति (नामक निर्वहणाङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार[१] (६.४४) में—

कृष्ण—"निश्चय ही, ये पूज्य व्यास, वाल्मीकि" यहाँ से लेकर "(आपके) अभिषेक का आरम्भ कर रहे हैं।"—यहाँ तक प्राप्त किये गये राज्य का अभिषेक के मङ्गल के द्वारा स्थायित्व दिखलाया गया है। अतः यहाँ कृति (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है।

लब्धार्थशमनम्—लब्धैः = प्राप्तैः अर्थैः = उपलब्धविषयैरित्यर्थः शमनम् = कोपादिनाशनम्, चेतोविकारान्निवार्य तत्स्थिरीकरणमित्यर्थः, कृतिर्नामाङ्गम्, अथवा—लब्धस्य = प्राप्तस्यापि अर्थस्य = क्रोधादेर्विषयस्य शमनं कृतिरिति॥

१. कस्यचित्पुस्तकस्यायमधिको भिन्नः पाठान्तरः प्रतिभाति।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिता कोशलाः
किं नास्ति त्वयिसत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ।। ५८ ।।

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद्भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने—

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ।। ५३ ।।

कार्यदर्शनं पूर्वभावः, यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय

१०—भाषण

अब भाषण (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

मान (Respect or honour) **की प्राप्ति भाषण कहलाती है ।**

जैसे रत्नावली (४.२१) में—

राजा—इससे भी अधिक प्रिय (कुछ) है ?

विक्रमबाहु अपनी समता को प्राप्त करा दिया गया (अर्थात् विक्रमबाहु को अपना सम्बन्धी बना दिया गया) । भूतल का सार, समुद्रपर्यन्त के भूमण्डल की प्राप्ति का एकमात्र कारण, यह प्रिया सागरिका पा ली गई । (अपनी) बहन की प्राप्ति से महारानी प्रसन्न हो गईं । कोसल (देश) जीत लिया गया । (इस तरह) आप (जैसे) मन्त्रिप्रवर के रहने पर (हमारे पास) क्या नहीं है, जिसके लिए कामना करूँ ।। ४।२१ ।।

इत्यादि के द्वारा काम (अभिलाषा), अर्थ (प्रभुता) तथा मान आदि का लाभ दिखलाया गया है । अतः यहाँ भाषण (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

११—पूर्वभाव, १२—उपगूहन

अब पूर्वभाव तथा उपगूहन (की परिभाषा दी जा रही) है—

कार्य (अर्थात् कर्तव्य) का दर्शन (अर्थात् स्पष्टतः बिना कहे समझ लेना) पूर्वभाव कहलाता है तथा (नायकादि को) अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है ।। ५३ ।।

कार्य का दर्शन पूर्वभाव है; जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में—

यौगन्धरायण—ऐसा समझकर बहन (सागरिका या रत्नावली) के प्रति जो

मानाद्याप्तिः—मानादीनाम् = सत्कृत्यादीनाम् आप्तिः = प्राप्तिर्भाषणमिति ।।

कार्यदृष्टिः पूर्वभावस्तथा अदभुतप्राप्तिरुपगूहनमितीरितम् । **कार्यदृष्टिः**—कार्यस्य = करणीयस्य परैरिङ्गितस्याभीप्सितस्य वा कार्यस्य दृष्टिः = दर्शनम्, ज्ञानमिति यावत्, पूर्वभावः । **अद्भुताप्तिः**—अद्भुतस्य = अपूर्वस्य वस्तुन आप्तिः = प्राप्तिर्नायकादिभिरिति यावदुपगूहनं कथितम् ।

भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति।' ['स्फुटमेव किं न भणसि? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति।'] इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभाव इति।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनं यथा वेणीसंहारे—(नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः॥ ५९॥

युधिष्ठिरः—'देवि, एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति। लब्धार्थशमनात्कृतिरपि भवति। अथ काव्यसंहारः—

कर्तव्य है, उसके विषय में महारानीजी प्रमाण हैं (अर्थात् महारानी को अधिकार है कि वे उसके साथ कैसा व्यवहार करें)।

वासवदत्ता—साफ ही क्यों नहीं कहते कि इनको (महाराज उदयन को) रत्नावली समर्पित कर दो।

यहाँ "वत्सराज (उदयन) को रत्नावली समर्पित कर दी जाय" यह कार्य (कर्तव्य) है, जो कि यौगन्धरायण के अभिप्राय के भीतर छिपा हुआ है (न कि शब्दतः कहा गया है), किन्तु (इसे) वासवदत्ता समझ लेती है। अतः यहाँ पूर्वभाव है।

अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है; जैसे वेणीसंहार (६.४२) में—

(पर्दे के पीछे)

महान् संग्रामरूपी अग्नि में जलने से बचे हुए क्षत्रिय-कुल का कल्याण हो।

जिसके खुलने के कारण क्रोधान्ध, राजाओं का विनाश करनेवाले, अतुलित बाहु-बलवाले, पाण्डु के पुत्रों के द्वारा प्रत्येक दिशा में राजाओं के रनिवास खुले केशोंवाले (अर्थात् रनिवास की स्त्रियों के केश खुले हुए) कर दिये गये, वह यह क्रुद्ध यमराज के सदृश, कुरुओं के लिए पुच्छलतारा (Comet) द्रौपदी का प्रशस्त केश-पाश सौभाग्य से बाँध दिया गया है। (अतः) प्रजाओं का विनाश बन्द हो। राजाओं के कुलों का कल्याण हो॥ ६।४२॥

युधिष्ठिर—महारानी, गगन-तल में विचरण करनेवाले सिद्धों के द्वारा तुम्हारा यह वेणी-संहार (चोटी का बाँधा जाना) अभिनन्दित किया जा रहा है (Is greeted)।

वराप्तिः काव्यसंहारः

यथा—'किं ते भूय, प्रियमुपकरोमि ।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः—

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

यथा वेणीसंहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ?
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ॥ ६० ॥

इति शुभशंसनात्प्रशस्तिः ।

यहाँ अद्भुत वस्तु (सिद्धों के अभिनन्दन) की प्राप्ति का वर्णन है । अतः यहाँ उपगूहन (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है । अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति तथा प्रजाओं के निधन (कष्ट) की समाप्ति की यहाँ सूचना दी गई है, अतः यह कृति (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) भी है ।

१३—काव्य-संहार

अब काव्य-संहार (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

वरदान (Boon) की प्राप्ति काव्य-संहार कहा गया है ।

जैसे—"और क्या तुम्हारा प्रिय उपकार करूँ ?"

इसके द्वारा काव्यरूप वस्तु का संहार (Conclusion) किया गया है, अतः यह काव्य-संहार (नामक निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

१४—प्रशस्ति

अब प्रशस्ति (नामक निर्वहणसन्धि के अङ्ग की परिभाषा दी जा रही) है—

शुभ (कल्याण) की आशंसा (Expressing) ही प्रशस्ति कहलाती है ।

जैसे वेणीसंहार (६.४६) में—

युधिष्ठिर—यदि आप प्रसन्न हैं, तो यह हो—प्रजा-जन कृपणता से हीन मतिवाले होकर इच्छानुसार पुरुष की आयु (अर्थात् सौ वर्ष) जियें (लोगों की) विष्णु में द्वैत-रहित भगवद्विषयक भक्ति हो । राजा विद्वानों का उपकारक, गुणों का विशेषज्ञ, निरन्तर पुण्य करनेवाला एवं भू-मण्डल को व्यवस्थित करनेवाला हो ॥ ६।४६ ॥

यहाँ शुभ (कल्याण) की कामना की गई है, अतः यह प्रशस्ति है (इसे ही भरत-वाक्य भी कहा जाता है) ॥

वराप्तिः—वरस्य = अभीप्सितवस्तुनः आप्तिः = कस्यचित्कथनात् प्राप्तिः, **काव्यसंहारः**—काव्यस्य = कविकर्मणो रूपकस्येत्यभिप्रायः संहारः—संह्रियते इति संहारः = उपसंहृतिः ॥

इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि। एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः।

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

कानि पुनस्तानि षट् प्रयोजनानि ? (तान्याह)—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयरागवृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति।

ये चौदह अङ्ग निर्वहणसन्धि के हैं। इस प्रकार ६४ अङ्गों से युक्त पञ्चसन्धियाँ प्रतिपादित की गई हैं।

विशेष—सन्धियों के विषय में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिये—(१) किसी एक सन्धि में बतलाया गया अङ्ग दूसरी सन्धि में भी मिल सकता है। (२) एक ही सन्धि में कोई भी एक सन्ध्यङ्ग एकाधिक बार आ सकता है। (३) प्रत्येक सन्धि के अङ्गों में सभी न तो प्रधान माने जाते हैं और न अनिवार्य ही। वस्तुतः नाटकों में इनका पूर्णांश में पालन नहीं किया गया है।

सन्धियों के अङ्गों का प्रयोजन

सन्धियों के इन अङ्गों का छः प्रकार का प्रयोजन है, यह बतला रहे हैं—

उक्त (सन्धियों के) अङ्ग चौसठ (६४) हैं तथा इनका प्रयोजन छः (६) प्रकार का है ॥ ५४ ॥

अच्छा वे छः (६) प्रयोजन कौन-कौन हैं ? उन्हें बतला रहे हैं—

(१) इष्ट अर्थ (बुद्धि में स्थिर की गई कथावस्तु) की रचना, (२) गोपनीय बात को गुप्त रखना, (३) (उस बात को) प्रकाशित करना (जो कथावस्तु को समृद्ध कर सके), (४) राग, (५) प्रयोग की अद्भुतता और (६) इतिवृत्त (अर्थात् कथानक) का विच्छिन्न न होना ॥ ५५ ॥

विवक्षित (Meditated or to be explained) अर्थ (अर्थात् कथावस्तु) की रचना, प्रकाशित न करने योग्य बात को छिपाना (कथानक से निकाल देना या बदल देना), प्रकाशित करने के योग्य वस्तु को प्रकाशित करना, अभिनय की जानेवाली वस्तु के प्रति राग (प्रेम) की वृद्धि (To exibit the emotions of

---

इष्टार्थस्य—इष्टः = वक्तुमभिष्टो योऽर्थः = घटना, कथा वा **रचना** = उपनिबन्धनम्, **गोप्यगुप्तिः**—गोप्यस्य = अनुचितप्रभावकारित्वादप्रकाश्यस्य गुप्तिः = गोपनम्, निःसार्य परिवर्त्य वा गोपनमिति भावः, **प्रकाशनम्**—प्रकाश्यस्य प्रकाशनम् = प्रकटनमित्यर्थः, **अभिनेयरागवृद्धिश्च**—अभिनेये = अभिनयेन प्रदर्शनीये वस्तुनि रागस्य = सामाजिकप्रेम्णः वृद्धिः = वर्धनम्, चमत्कारित्वम् = वैचित्र्यम् ॥

पुनर्वस्तुविभागमाह—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

---

acting), चमत्कारिता तथा काव्य की कथा-वस्तु का विस्तार—ये छः (६) प्रयोजन (सन्धि के इन) अङ्गों के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं ।

विशेष--अङ्गैः······सम्पाद्यन्ते—सन्ध्यङ्गों की योजनाओं से कथा-वस्तु सर्वात्मना सुडौल तथा चुस्त-दुरुस्त बन जाती है । पौराणिक या काल्पनिक कथानक के बेढङ्गे रूप को इन सन्ध्यङ्गों के साँचे में ढालकर दर्शनीय तथा आकर्षक बनाया जाता है । इन सन्ध्यङ्गों के माध्यम से (१) विचारित कथा-वस्तु की सुडौलता, (२) अप्रकाशनीय वस्तु को छिपा देना या कथावस्तु से उसे काट कर निकाल देना, (३) प्रकाशनीय वस्तु का प्रदर्शन (प्रकाशन), (४) अभिनय की जानेवाली कथा-वस्तु में दर्शकों की रुचि-वृद्धि, (५) सुपरिचित कथा-वस्तु में भी चमत्कार की प्रतीति, तथा (६) काव्य के इतिवृत्त (कथा-वस्तु) के विच्छेद आदि को हटाकर उसमें पूर्णता की योजना होती है ।

(कथावस्तु का अर्थप्रकृति, अवस्था तथा सन्धियों के रूप में अर्थात् नायक-व्यापार की दृष्टि से विचार करने के बाद अब) पुनः वस्तु का वर्णन की दृष्टि से विभाजन बतलाया जा रहा है—

यहाँ (रूपक में) सम्पूर्ण कथा-वस्तु का दो प्रकार से विभाग करना चाहिए; कथा-वस्तु का कुछ भाग एकमात्र सूच्य होना चाहिए और दूसरा भाग दृश्य तथा श्रव्य ॥ ५६ ॥

कैसा कथा-भाग सूच्य होना चाहिए और कैसा कथा-भाग दृश्य तथा श्रव्य होना चाहिये ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए बतला रहे हैं—

रूपक में नीरस तथा अनुचित कथा-वस्तु (रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित न करके केवल) स्पष्ट तथा सरल ढङ्ग से सूचित कर देनी भर चाहिये । किन्तु (कथा-वस्तु का जो भाग) देखने में मोहक, उदात्त (शिष्ट) तथा रस एवं भावों से पूर्ण हो उसे रङ्गमञ्च पर अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ५७ ॥

सूच्य वस्तु के प्रतिपादन का प्रकार बतला रहे हैं (अर्थात् किस प्रकार से सूच्य वस्तु की सूचना दी जाय—इसे बतला रहे हैं)—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

तत्र विष्कम्भः—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः, सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

---

(१) विष्कम्भक, (२) चूलिका, (३) अङ्कास्य, (४) अङ्कावतार और (५) प्रवेशक—इन पाँच अर्थोपक्षेपकों (कथावस्तु के सूचकों) के द्वारा सूच्य (कथा-भाग) का प्रतिपादन करना चाहिए ॥ ५८ ॥

१—विष्कम्भक (या विष्कम्भ)

अब विष्कम्भ (की परिभाषा दी जा रही) है—

व्यतीत हो चुके और आगे होने वाले कथा के अंशों का सूचक, संक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम दर्जे के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त (जो अर्थोपक्षेपक है वह) विष्कम्भक (कहा गया) है ॥ ५९ ॥

(१) अतीत तथा भावी (अर्थात् भविष्य में घटने वाले) कथा के अंशों को सूचित करने वाला, (२) मध्यम श्रेणी के एक अथवा दो पात्रों के द्वारा प्रयोजित (Acted) विष्कम्भक होता है ।

वह (विष्कम्भक) दो प्रकार का होता है—

(१) शुद्ध तथा (२) सङ्कीर्ण । इन्हें बतला रहे हैं—

एक अथवा अनेक (मध्यम पात्रों) के द्वारा सम्पादित (विष्कम्भक) शुद्ध कहलाता है तथा नीच एवं मध्यम श्रेणी के पात्रों के द्वारा मिलकर प्रयुक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है ।

एक अथवा दो मध्यमपात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहा गया है और मध्यम तथा अधम पात्रों के द्वारा, एक साथ, प्रयोजित विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहा गया है ।

विशेष—मध्यमाधमपात्रैः—रूपक में तीन तरह के पात्र होते हैं—(१) उत्तम = राजा, मन्त्री, पुरोहित आदि । ये सर्वदा संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं । (२) चोर, व्याध, सेविका, सेवक आदि अधम पात्र माने जाते हैं । ये प्राकृत भाषा का

अर्थोपक्षेपकैः—अर्थस्य = कथावस्तुनः उपक्षेपकैः = सूचकैः, **सूच्यम्** = निर्देश्यम् ॥

अथ प्रवेशकः—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः, अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र मध्यम पात्र माने गये हैं। मध्यम श्रेणी के शिक्षित पात्र संस्कृत तथा अशिक्षित पात्र शौरसेनी प्राकृत बोलते हैं।

विष्कम्भः—विष्कम्भक का वर्ण्य अर्थ संक्षिप्त होता है। काफी लंबी बात को भी इसके अल्प कलेवर में सूत्ररूप से आबद्ध कर दिया जाता है। विष्कम्भक कथा-वस्तु के टूटते अंश को—उसकी व्यतीत एवं भावी लड़ी को—जोड़ता है। यह अङ्क के आरम्भ में प्रयुक्त होता है। प्रथम अङ्क के आमुख के पश्चात् इसका प्रयोग हो सकता है। आचार्य कोहल का यह मत है कि विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही होना चाहिए, अन्यत्र नहीं।

२—प्रवेशक

अब प्रवेशक (की परिभाषा दी जा रही) है—

उसी तरह (अर्थात् विष्कम्भक की तरह भूत एवं भावी कथानक को जोड़ने वाला), नीच पात्रों के द्वारा निम्न भाषा (low language) से प्रयुक्त, दो अङ्कों के अन्तराल में स्थित, शेष (अर्थात् अभिनय के द्वारा अप्रदर्शित) अर्थ का सूचक (अर्थोपक्षेपक) प्रवेशक कहा गया है।

"तद्वदेव" (उसी प्रकार)—इस शब्द से (प्रवेशक के द्वारा) भूत तथा भविष्यत् अर्थ की सूचकता बतलाई गयी है) अर्थात् प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति भूत तथा भावी अर्थ का सूचक बतलाया गया है)। निम्न भाषा (low language) से एक नीच पात्र अथवा अनेक नीच पात्रों के द्वारा (प्रवेशक) प्रयोजित होना चाहिए—इस कथन के द्वारा (इसका) विष्कम्भक के लक्षण से भेद किया गया है। दो अङ्कों के बीच में—इस कथन के द्वारा प्रथम अङ्क में इसका निषेध किया गया है (क्योंकि प्रथम अङ्क में प्रवेशक तब हो सकता है, जब कि इसके भी पूर्व कोई अङ्क हो। तभी तो यह दो अङ्कों के बीच में हो सकता है)।

विशेष—विष्कम्भक एवं प्रवेशक की समताएँ तथा विषमताएँ—

विष्कम्भक	**प्रवेशक**
१—यह भूत तथा भावी कथा-भाग का सूचक होता है।	१—यह भी अतीत तथा आगे होने वाली घटनाओं का सूचक होता है।

अथ चूलिका

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयी-सूचनाच्चूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

२—इसमें एक या अनेक मध्यम पात्रों का प्रयोग होता है। कभी-कभी मध्यम पात्रों के साथ इसमें निम्न पात्रों का भी प्रयोग पाया जाता है।

३—इसकी भाषा प्रायः संस्कृत तथा नीच पात्र होने पर शौरसेनी प्राकृत होती है।

४—इसका प्रयोग रूपक के प्रथम अङ्क की प्रस्तावना के बाद तथा अन्य दो अङ्कों के बीच में भी हो सकता है।

५—यह कथानक की टूटती लड़ी को जोड़ कर विशाल अर्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

२—इसके सभी पात्र निम्नकोटि के होते हैं। यह भी एक पात्र या एकाधिक पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होता है।

३—इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होती। इसके पात्र नीच होते हैं। अतः वे प्राकृत भी निम्नकोटि की बोलते हैं।

४—इसका प्रयोग रूपक के प्रथम अङ्क में कभी नहीं होगा। यह सर्वदा दो अङ्कों के अन्तराल में ही प्रयुक्त होता है।

५—यह भी कथा-वस्तु की टूटती कड़ी को जोड़कर विशाल अर्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

३—चूलिका

अब चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक की परिभाषा दी जा रही) है—

जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा (किसी) अर्थ (बात) की सूचना 'चूलिका' (नामक अर्थोपक्षेपक) कहलाता है ॥ ६१ ॥

पर्दे के भीतर स्थित पात्र के द्वारा (किसी) अर्थ की सूचना 'चूलिका' है। जैसे उत्तररामचरित के दूसरे अङ्क के आरम्भ में—

(पर्दे के पीछे से) "तपस्विनी का स्वागत है।" (तदनन्तर तपस्विनी प्रवेश करती है)

यहाँ नेपथ्य में स्थित पात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी (के आगमन) की सूचना दी गई है। अतः यहाँ चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है।

अथवा, जैसे महावीरचरित नाटक के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में—

(पर्दे के पीछे) हे हे विमान से भ्रमण करनेवाले (देवों), आरम्भ कीजिये, आरम्भ कीजिये मङ्गल—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्त्रमधुना ।
विनेता क्षत्त्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥ '६१ ॥

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका ।

अथाङ्कास्यम्—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तरांङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः ।' इतरे क्व भगवन्तौ ?

कृशाश्व (मुनि) के शिष्य भगवान् विश्वामित्र उत्कर्ष को प्राप्त कर रहे हैं। सम्प्रति संसार में सहस्ररश्मि (सूर्य) के कुल में क्षत्र (अर्थात् क्षात्र धर्म) विजयी हो रहा है। क्षत्रियों के शत्रु (परशुराम) को नीचा दिखलाने वाले, संसार को अभयदान देने के व्रती, लोगों को शरण देनेवाले, सूर्य-कुल के चन्द्र (भगवान् राम) विजयी हो रहे हैं ॥ ४।१ ॥

यहाँ नेपथ्य में स्थित पात्र देवों के द्वारा "राम के द्वारा परशुराम जीत लिये गये"—इस बात की सूचना देने के कारण-यह चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है।

४—अङ्कास्य

अब अङ्कास्य (नामक अर्थोपक्षेपक की परिभाषा दी जा रही) है—

अङ्क के अन्त में अभिनय करनेवाले पात्रों के द्वारा (जिस अङ्क में वे पात्र हैं उस अङ्क से) विच्छिन्न (disconnected), आगे आनेवाले अङ्क के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अङ्कास्य कहलाता है।

अङ्क के अन्त में आनेवाला पात्र ही अङ्कपात्र कहलाता है। उसके द्वारा (पहले के अङ्क से) विच्छिन्न, अग्रिम अङ्क के प्रारम्भिक अर्थ का सूचक, (अग्रिम अङ्क की) सूचना देने के कारण अगले अङ्क की अवतारणा कराने वाला (अर्थोपक्षेपक) अङ्कास्य कहलाता है।

जैसे, महावीरचरित के दूसरे अङ्क के अन्त में—(प्रवेश करके)

सुमन्त्र—पूज्य वसिष्ठ एवं विश्वामित्र परशुराम के सहित आप लोगों को बुला रहे हैं।

अन्यलोग—कहाँ हैं पूज्य वे दोनों ?

अनुदात्तोक्त्या—अनुदात्ता = नीचा या उक्तिः = सम्भाषणं तया, **शेषार्थस्योपसूचकः**—शेषः = रङ्गमञ्चेऽनभिनीतः योऽर्थः = कथाभागस्तस्य उपसूचकः = निर्देशकः ॥ **अन्तर्जवनिकासंस्थैः**—जवनिका = नेपथ्यस्थानम् तस्याः अन्तः = अभ्यन्तरे संस्था = स्थितिर्येषां तैः, पात्रैरितिशेषः ॥ **अङ्कान्तपात्रैः**—अङ्कस्य अन्ते = अवसादेऽभिनयरतैः पात्रैः = नटैः, **अङ्कास्यम्**—अनन्तरमारभ्यमाणस्याङ्कस्य मुखभूतत्वादङ्कास्यमिति संज्ञा ॥

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः, इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति । अथाङ्कावतारः—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशक-विष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते 'विदूषकः—तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेथ अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि ।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थाप-यिष्यति ।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्त पात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्या-वतरणादङ्कावतार इति ।

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास ।

अन्यलोग—उनके अनुरोध के कारण वहीं चल रहे हैं ।

इस प्रकार अङ्क की समाप्ति हो जाने पर (तदनन्तर बैठे हुए वसिष्ठ, विश्वामित्र एवं परशुराम प्रवेश करते हैं)।

यहाँ पूर्व अङ्क (द्वितीय अङ्क) के अन्त में ही प्रविष्ट हुए सुमन्त्र नामक पात्र के द्वारा, शतानन्द एवं जनक की कथा के विच्छिन्न हो जाने पर अग्रिम (तृतीय) अङ्क के आरम्भिक अर्थ (वसिष्ठ एवं विश्वामित्र आदि के संवाद) की सूचना दी गई है, अतः यह अङ्कास्य है ।

५—अङ्कावतार

अब अङ्कावतार (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ (पूर्व) अङ्क की समाप्ति हो जाने पर (अगले) अङ्क का, कथा-प्रवाह को बिना रोके या बदले (अविच्छिन्न रूप से), अवतरण होता है, वह अङ्कावतार कहलाता है ।

जहाँ पहले अङ्क में प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचित किया गया, पहले अङ्क की कथा को बिना विच्छिन्न किये ही दूसरा अङ्क, अवतरित हो जाय वहाँ अङ्कावतार होता है । ध्यान रहे कि जिस अङ्क में यह अङ्कावतार होता है, उसमें प्रवेशक तथा विष्कम्भक आदि नहीं होते । जैसे, मालविकाग्निमित्र के प्रथम अङ्क के अन्त में—

विदूषक—"अतः आप दोनों ही देवी के प्रेक्षागृह में जाकर सङ्गीत की सामग्री इकट्ठी करके उन पूज्य के पास दूत को विदा कर दीजिये, अथवा मृदङ्ग का शब्द ही

अङ्कावतारस्त्विति—यत्र अङ्कान्ते = पूर्वाङ्कान्ते अङ्कस्य = उत्तरस्याङ्कस्य अविभागतः = अवि-च्छेदतः पातः = अवतरणं तत्र अङ्कावतारो ज्ञेयः ॥

एभिः संसूचयेत् सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

इस (दूत) को उठा देगा (अर्थात् विदा कर देगा) ।"—ऐसा उपक्रम करने पर मृदङ्ग का शब्द सुनाई पड़ने के पश्चात् सारे के सारे पात्र द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में प्रथम अङ्क में प्रविष्ट पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के द्वारा आरम्भ शिष्य-शिक्षाक्रम का दर्शन आरम्भ कर देते हैं । इस प्रकार प्रथम अङ्क के अर्थ को बिना भंग किये ही द्वितीय अङ्क की अवतारणा करने के कारण यहाँ अङ्कावतार (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

अङ्कास्य एवं अङ्कावतार का साम्य तथा वैषम्य—

अङ्कास्य	अङ्कावतार
१—इसमें अङ्क की समाप्ति पर अगले अङ्क के आरम्भ की कथावस्तु सूचित की जाती है ।	१—इसमें भी अङ्क की समाप्ति पर अगले अङ्क के आरम्भ की कथावस्तु सूचित की जाती है ।
२—इसमें कथानक के उस भाग की सूचना दी जाती है, जो अगले अंक में प्रारम्भ होगा तथा जो सम्प्रति प्रचलित कथा-भाग से कटकर अलग पड़ गया है ।	२—इसमें कथानक के उस भाग की सूचना दी जाती है जो अगले अंक में प्रारम्भ होगा तथा जो पूर्व अङ्क (अर्थात् प्रचलित अङ्क) से सम्बद्ध अन्तिमांश होगा । इसके माध्यम से एक अंक में समाप्त होनेवाली कथा का अविच्छिन्न सम्बन्ध अगले अंक में भी चलता रहता है ।
३—यह पूर्व अंक के अन्त में घटित होता है ।	३—यह भी पूर्व अंक के अन्त में घटित होता है ।

इन (विष्कम्भकादि अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा सूचित करने योग्य अर्थ को सूचित करना चाहिए तथा रङ्गमञ्च पर अभिनय करने योग्य अर्थ को अङ्कों के द्वारा (विभक्त करके) दिखलाना चाहिए ।

नाट्य-धर्म के अनुसार कथा-वस्तु के भेद

वस्तु (कथावस्तु) के विभाग को फिर तीन प्रकार का बतला रहे हैं—

नाट्य-धर्म (नाट्य के स्वभाव, अभिनय के नियम) की दृष्टि से भी यह वस्तु फिर तीन प्रकार की बतलाई गई है ॥ ६३ ॥

किस प्रकार से (रूपक-वस्तु) तीन प्रकार की होती है, यह बतला रहे हैं—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमिति-शब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

तत्र जनान्तिकमाह—

---

(१) सबके लिए सुनने योग्य (= सर्वश्राव्य), (२) कुछ नियत जनों को ही सुनने योग्य (= नियतश्राव्य) तथा, (३) किसी को भी न सुनने योग्य (अश्राव्य) ।

उनमें—

(क) प्रकाश, (ख) स्वगत—

सर्व को सुनने लायक वस्तु "प्रकाश" तथा अश्राव्य वस्तु "स्वगत" कही गई है ॥ ६४ ॥

जो वस्तु (अर्थात् बात) सबको सुनाने योग्य होती है उसे 'प्रकाश' कहते हैं । और जो किसी को भी सुनाने योग्य वस्तु (बात) नहीं होती वह 'स्वगत' इस शब्द से कही जाती है (अर्थात् उसे 'स्वगत' कहते हैं)।

विशेष—यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि कुछ बात (वस्तु) अश्राव्य (किसी को भी सुनाने लायक नहीं) है, तथा कुछ नियतश्राव्य (अर्थात् कुछ लोगों को ही सुनाने लायक) है,—यह जो कहा गया है, वह सब अभिनय करनेवाले पात्रों को ही ध्यान में रखकर कहा गया है । श्रोताओं को तो रूपक की एक-एक बात सुनाने के लिए है । तभी उन्हें रस का पूर्ण आस्वादन होगा । श्रोता-जन अश्राव्य तथा नितयश्राव्य—सब कुछ—सुनते हैं ।

नियतश्राव्य को बतला रहे हैं—

अन्य नाट्य-धर्म (अर्थात् नियतश्राव्य) दो प्रकार का है—(१) जनान्त (जनान्तिक) और (२) अपवारित ।

दूसरा (अर्थात्) नियतश्राव्य (१) जनान्तिक तथा (२) अपवारित भेद से दो प्रकार का होता है ।

१—जनान्तिक

उसमें जनान्तिक (की परिभाषा) को बतला रहे हैं—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

चल रहे संवाद के बीच में, त्रिपताकारूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा दूसरे (पात्रों) को बचाकर, कतिपय जनों के मध्य दो पात्र आपस में जो बात-चीत करते हैं—वह जनान्तिक कहलाता है ।

जिस (पात्र) को नहीं सुनाना है उसके (और अपने) बीच में अनामिका (तथा अँगूठा) को मोड़ कर बाकी सभी अँगुलियों को ऊपर की ओर उठा कर—इस प्रकार हाथ को त्रिपताका-रूप (मुद्रा) में करके दूसरे (पात्र) के साथ जो मन्त्रणा की जाती है, उसे जनान्तिक कहते हैं ।

विशेष—इसका बहुत कुछ रूप आज भी लोक में देखा जाता है । यह बात करने का एक चतुर तरीका है ।

४—अपवारित

अब अपवारित (की परिभाषा दी जा रही) है—

(बहुत पात्रों के रहते) जहाँ (किसी एक पात्र के द्वारा) मुँह दूसरी ओर करके दूसरे (पात्र) से गोपनीय बात कही जाती है, वह अपवारित (संवाद) कहलाता है ॥ ६६ ॥

मुँह दूसरी ओर करके दूसरे से गुप्त बात कहना ही अपवारित है ।

जनान्तिक तथा अपवारित में साम्य-वैषम्य—

जनान्तिक	अपवारित
१—यह गोपनीय कथन है ।	१—यह भी गोपनीय कथन है ।
२—इसमें त्रिपताका कर से मुँह को छिपाकर बात की जाती है ।	२—इसमें मुँह को दूसरी ओर फेरकर बात की जाती है ।
३—जनान्तिक जन-समूह में ही कहा जाता है ।	३—यह जन-समूह से एक ओर हटकर कहा जाता है ।

५—आकाशभाषित

नाट्य-धर्म (को बतलाने) के प्रसङ्ग से 'आकाशभाषित' को बतला रहे हैं—

अपवार्य=दूरीकृत्य, **अन्तरा**=कथामध्ये, **जनान्तिकम्**—जनानाम्=बहूनां पात्राणाम् अन्तिकम्=श्राव्यतया पार्श्वे यत्तज्जनान्तिकम् ।

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषामभारतीयत्वान्नाममालप्रसिद्धानां केषांचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः ॥६८॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु=वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः। रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य। तदनु=एतदुत्तरम्। नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषमानुगुण्याच्चित्राम्=चित्ररूपां कथाम्=आख्यायिकाम्। चारूणि यानि वचांसि प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रथयेत्। तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

जहाँ कोई एक ही पात्र किसी दूसरे पात्र के बिना ही बात करता है तथा किसी के बिना कुछ कहे भी मानो सुन कर ही "क्या कह रहे हो?"—इस प्रकार कथोपकथन करता है, वह आकाशभाषित होता है ॥ ६७ ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है।

कुछ (विद्वान्) लोगों के द्वारा 'प्रथमकल्प' इत्यादि दूसरे नाट्य-धर्म भी बतलाये गये हैं, किन्तु वे (नाट्य-धर्म) भरत के मतानुसार नहीं हैं तथा वे केवल कोश में ही प्रसिद्ध हैं (उनके लक्षण आदि नहीं किये गये हैं) एवं उनमें से कुछ (वस्तुतः) देश-भाषा रूप ही हैं (अर्थात् स्थानीय बोली मात्र हैं)। अतः वे नाट्य-धर्म नहीं हैं। यही कारण है कि उनका लक्षण नहीं किया गया है। अतएव उपसंहार कर रहे हैं—

इस तरह (रूपककार) वस्तु के समस्त भेद-प्रभेदों को तथा रामायण आदि एवं बृहत्कथा को भली-भाँति विचार करके नेता तथा रस के अनुकूल उचित और चारु कथनों के द्वारा विचित्र कथा की रचना करे।

॥ इस तरह धनञ्जय के द्वारा रचित दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ॥

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु का अर्थ है वर्णन की जानेवाली कथा, उसका विभेद-समूह अर्थात् भेद। रामायण आदि तथा गुणाढ्यनिर्मित बृहत्कथा को विभावित करके=भली-भाँति विचार करके। तदनु का अर्थ है—इसके पश्चात्। 'नेतृ' इत्यादि का अर्थ है—आगे जिसका लक्षण बतलाया जायगा ऐसा नेता और रस। उनके अनुरूप चित्र अर्थात् चित्र रूपवाली कथा=आख्यायिका को। चारु जो वचन, उन (वचनों) के प्रपञ्च=विस्तार से आसूत्रित करे अर्थात् निर्मित करे। उदाहरणार्थ—मुद्राराक्षस (रूपक) का मूल बृहत्कथा है—

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः । कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ॥
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः । चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥ ६२ ॥

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम् ।

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

"चाणक्य नामक उस (ब्राह्मण) ने शकटाल के घर में, एकान्त में, (मारण-कर्म की देवी) कृत्या (की प्रतिमा) को बनाकर पुत्रों के सहित राजा को सहसा मार डाला। तदनन्तर योगानन्द के केवल कीर्ति भर से ही अवशिष्ट रह जाने पर (अर्थात् मर जाने पर) महान् तेजस्वी चाणक्य ने पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनाया।"

यह बात बृहत्कथा में निर्दिष्ट की गई है। रामायण आदि में कथित रामकथा आदि जाननी चाहिए।

॥ इस प्रकार श्री विष्णु के पुत्र धनिक के द्वारा निर्मित दशरूपकावलोक में प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ॥

अथ द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते--

> नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
> रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥
> बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
> शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥ ६३ ॥

प्रकाश-सङ्गति—वस्तु, नेता तथा रस को रूपकों का भेदक तत्त्व कहा गया है— "वस्तुनेतारस्तेषां भेदकः" (प्रथम प्रकाश, कारिका ११) । प्रथम प्रकाश में वस्तु-भेद तथा उपभेद का वर्णन किया जा चुका है । अब यहाँ द्वितीय प्रकाश में नायक के स्वरूप, भेद एवं उपभेद का तथा भारती आदि वृत्तियों और प्रवृत्तियों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

रूपकों के परस्पर एक-दूसरे से भेद की सिद्धि के लिए वस्तु-भेद का विवेचन करके सम्प्रति नायक-भेद प्रदर्शित किया जा रहा है—

(रूपक का) नायक नम्र, मधुर, त्यागी, कुशल, प्रिय वचन बोलने वाला, लोक-प्रिय, पवित्र, बोलने में प्रवीण, सुविख्यात कुलवाला, स्थिर, युवक, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मरणशक्तिवाला, उचित-अनुचित का विचारक, कलाओं से सम्पन्न, मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रों के अनुसार कार्य करने वाला एवं धार्मिक होता है ॥ १-२ ॥

नेता अर्थात् नाटक का नायक विनय आदि (उक्त) गुणों से अलङ्कृत होता है ।

१—उनमें विनम्र (नायक का उदाहरण) जैसे 'महावीरचरित' (४-२१) में है—

(श्रीराम परशुराम से कह रहे हैं) ब्रह्मवादी ऋषियों के द्वारा जिनका वन्दनीय चरण सेवित होता रहता है, जो विद्या, तप एवं व्रत के आकर हैं, जो तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे आपके विषय में (अर्थात् आपके प्रति) दैवसंयोग से जो कि मैंने विनय का उल्लङ्घन किया है, उसके विषय में हे भगवन् ! प्रसन्न हों । (मैं) यह आपको हाथ जोड़ रहा हूँ ॥

विशेष—यहाँ रामचन्द्रजी की विनम्रता प्रकट हो रही है ।

मधुरः = प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव—

राम राम नयनाभिरामताभाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥' ६४ ॥

त्यागी = सर्वस्वदायकः । यथा—

'त्वचं कर्णः शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥' ६५ ॥

दक्षः = क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥ '६६ ॥

२—मधुर अर्थात् देखने में प्रिय लगनेवाला । (मधुर का उदाहरण) जैसे महावीरचरित (२-३७) में—

हे राम, हे राम, (अपने) हृदय के समान ही, नेत्रों को लुभानेवाली सुन्दरता को धारण करनेवाले, अकल्पनीय गुणों से मनोहर आप सब तरह से ही मेरे हृदय में स्थित हैं ॥

३—त्यागी अर्थात् अपना सब कुछ दान कर देने वाला । (त्यागी नेता का उदाहरण) जैसे·····

कर्ण ने (अपनी) त्वचा, शिवि ने (अपना) माँस, जीमूतवाहन ने (अपना) जीवन तथा दधीचि ने (अपनी) हड्डियाँ दे दीं । महात्माओं के लिए कुछ भी अदेय नहीं है (अर्थात् वे सब कुछ प्रदान कर सकते हैं) ॥

४—दक्ष अर्थात् पलक मारते ही कार्य करनेवाला । (दक्ष का उदाहरण) जैसे—

महावीरचरित (१।५३) में—

(पर्दे के पीछे)

कड़कड़ाते हजारों वज्रों से बना हुआ-सा, त्रिपुर (नामक असुर) का विनाशक, देवताओं के तेज से चमचमाता हुआ, शिव का धनुष राम के सामने प्रकट हो रहा है (अर्थात् लाया जा रहा है) । जैसे हाथी का बच्चा पर्वत के ऊपर सूँड़ को रख देता है, वैसे ही वत्स (राम) ने (अपना) भुजदण्ड उस (धनुष) पर रख ही दिया । गर्जन करती हुई प्रत्यञ्चावाले उस धनुष को (उन्होंने) खींच लिया तथा तोड़ भी डाला ॥

विशेष—यहाँ राम की क्षिप्रकारिता प्रकट हो रही है । धनुष अभी उनके सामने लाया ही गया था कि उसे उन्होंने फुर्ती से तोड़ भी डाला ।

५—प्रियम्वद अर्थात् प्रिय बोलनेवाला । (प्रियम्वद का उदाहरण) जैसे वहीं (महावीरचरित २।३६) में—

प्रियंवदः = प्रियभाषी। यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु-
वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥'६७॥

रक्तलोकः। यथा तत्रैव—

'त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज-
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात्।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः॥'६८॥

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम्। तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम्। यथा रघौ—

(रामचन्द्रजी परशुराम से कह रहे हैं)—

आपका जन्म जमदग्नि से हुआ है। त्रिलोकी-प्रसिद्ध, सब कुछ करने में समर्थ, तेजस्वी, पिनाक (नामक धनुष) को धारण करनेवाले (शङ्करजी आपके) गुरु हैं। जो (आपका) पराक्रम है, वह वाणी का विषय नहीं हो सकता, वह तो (आपके महान्) कार्यों से ही व्यक्त हो रहा है। सात समुद्रों की सीमावाली पृथिवी का निरपेक्ष-भाव से दान कर देने की अवधि तक (आपका) त्याग है (अर्थात् निरपेक्षभाव से आप सप्तद्वीपा वसुमती का दान करने वाले हैं)।

सत्य, ब्रह्म तथा तप के आकर आपका क्या नहीं लोकोत्तर है? (अर्थात् सब कुछ लोकोत्तर है)॥

विशेष—यहाँ राम ने अत्यन्त क्रुद्ध परशुराम को कितने मधुर वचनों से शान्त करने का प्रयास किया है।

६—रक्तलोक (अर्थात् लोकप्रिय)। (लोकप्रिय नेता का उदाहरण) जैसे वहीं (महावीरचरित ४।४४) में—

जो आपके यह वेदों के रक्षक पुत्र (राम) हैं, महाराज आपकी कृपा से हम लोग इन रामभद्र के द्वारा आज ही राजावाले होकर समस्त कामनाओं को पूर्ण करने की अभिलाषा रखते हैं (अर्थात् राम का राज्याभिषेक करके हम लोगों का उन्हें राजा बना दें। इससे हम लोग कृतार्थ हो जायगे।)॥ ४।४४॥

इसी तरह (नायक के अन्य गुणों) पवित्रता आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यहाँ शौच (पवित्रता) का अर्थ है—मन की निर्मलता आदि के द्वारा काम आदि (विकारों) से प्रभावित न होना। जैसे रघुवंश (१६ में कुश अपनी शुचिता का प्रकाशन करते हुए कह रहे हैं:—

"हे सुन्दरि, तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो, तुम्हारे मेरे पास आने का कारण

'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥' ६९ ॥

वाग्मी । यथा हनुमन्नाटके—

'बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥ '७० ॥

रूढवंशो यथा—

'ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ '७१ ॥

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचलः । यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ '७२ ॥

क्या है ? इन्द्रियों को वश में रखनेवाले रघुवंशियों के मन को परस्त्री-विमुख समझ कर (इन बातों का) उत्तर दो ॥" १६ ॥

७.—वाग्मी (बोलने में पटु) । जैसे हनुमन्नाटक (१।३८) में (रामचन्द्र परशुराम से कह रहे हैं)—

"मुझे (अपनी) भुजाओं के बल का अन्दाज न था, और न मैंने शिव के इस धनुष का महत्त्व (अर्थात् कमजोरी) ही जाना था । अतः हे परशुराम, मेरी इस चपलता को क्षमा कर दें, क्योंकि बालकों की चञ्चलताएँ बड़े लोगों की प्रसन्नता का कारण हुआ करती हैं ॥ १।३८ ॥

८—रूढवंश (अर्थात् प्रख्यात कुल में उत्पन्न नायक) जैसे (निम्न पद्य में रामचन्द्र की कुलीनता वर्णित की गई है)—

"सूर्यकुल की क्षत्रिय सन्तानरूपी मालतीमाला के सौरभभरे पुष्प-समूह के भ्रमर जो चार राजकुमार उत्पन्न हुए हैं, राम उनमें सबसे बड़े हैं । ये (राम) ताड़कारूपी कालरात्रि के प्रभात (अर्थात् ताड़का के वधकर्ता) तथा वह मूलकन्द हैं जिससे सुन्दर चरित्रवाली यश-गाथाओं की कन्दलियाँ (अङ्कुर) उत्पन्न हुई हैं ॥"

९—स्थिर अर्थात् वाणी, मन और क्रियाओं में दृढ़ (नायक) । जैसे वीरचरित (३।८) में (परशुराम विश्वामित्र से कह रहे हैं)—

"आप गुरुजनों का उल्लंघन कर रहा हूँ, अतः (मैं इसका) प्रायश्चित्त कर लूँगा । किन्तु शस्त्रग्रहणरूप महाव्रत का तो उल्लंघन नहीं ही करूँगा ॥" (३.८) ॥

यथा वा भर्तृहरिशतके—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ ७३ ॥

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥ ७४ ॥'

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह—

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

अथवा जैसे भर्तृहरि के नीतिशतक में (स्थिर नायक का उदाहरण देखा जा सकता है)—

"निम्नकोटि के व्यक्ति, विघ्नों के भय से ही, (कोई कार्य) नहीं प्रारम्भ करते । मध्यम कोटि के व्यक्ति कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु विघ्नों के द्वारा थपेड़ा खाकर उसे छोड़ देते हैं । परन्तु तुम्हारे जैसे उत्तम गुणवाले व्यक्ति, विघ्नों के द्वारा बार-बार प्रताड़ित किये जाने पर भी, प्रारम्भ किये गये कार्य को निभाते ही हैं ॥

युवा (का अर्थ तो) प्रसिद्ध ही है । (अतः उसकी व्याख्या आवश्यक नहीं है)। बुद्धि का अर्थ है— ज्ञान । प्रज्ञा बुद्धि के उस प्रकार को कहते हैं, जो कि सीखी हुई बात में विशिष्टता प्रदान करता है (अर्थात् सीखी गई बात में अपनी ओर से कुछ मिलाकर उसे विशिष्ट रूप देनेवाली बुद्धि का नाम है—प्रज्ञा) । प्रज्ञा का उदाहरण जैसे मालविकाग्निमित्र (१५) में—

"(नृत्यकला) के प्रयोग के विषय में मैंने जो-जो ढङ्ग (भाविक) उसे सिखलाया है, (वह) बाला उन-उन (भाविकों) को विशिष्टरूप से प्रस्तुत करके मानो मुझे (ही) फिर से सिखला रही है ॥"

(नायक के) बाकी भेद तो स्पष्ट ही हैं (अर्थात् नायक के बाकी गुणों के उदाहरण सरल ही हैं, अतः उनका उदाहरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है) ॥

नायक के भेद

नायक के भेद बतला रहे हैं—

यह (नायक) ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है ।

विशेष—नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इन भेदों के पूर्व धीर शब्द लगाते हैं—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत । धीर का अर्थ होता है—विकट परिस्थितियों में भी न विचलित होनेवाला ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अत एव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः ।

यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ ७५ ॥

नामनिर्देश के अनुसार (इनका) लक्षण बतलाया जा रहा है—

१—धीरललित

चिन्ता से मुक्त, (ललित) कथाओं का प्रेमी, सुखी तथा कोमल प्रकृति का (नायक) धीरललित कहलाता है ॥ ३ ॥

धीरललित नायक चिन्ता से मुक्त रहता है, क्योंकि उसका योग (अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) तथा क्षेम (अर्थात् प्राप्त वस्तु की रक्षा) मन्त्री आदि के द्वारा सम्पन्न किया जाता है (अर्थात् राज्य आदि का विस्तार तथा सञ्चालन मन्त्री आदि के द्वारा सँभाला जाता है) । चिन्ता से मुक्त होने के कारण ही वह गीत आदि कलाओं में आसक्त तथा भोग में संलग्न रहता है । प्रधानरूप से शृङ्गारपरक प्रवृत्ति होने के कारण उसका विचार एवं व्यवहार कोमल होता है ।

अतः (वह) मृदु (कहा गया) है । ऐसा नायक ही धीरललित नायक होता है । जैसे रत्नावली (१।९) में—

राजा—राज्य पराजित-शत्रुवाला है (अर्थात् राज्य के सभी शत्रु परास्त कर दिये गये हैं । राज-कार्य का) समस्त भार योग्य मन्त्री (यौगन्धरायण) पर सौंप दिया गया है । भली-भाँति पाली-पोसी गई प्रजाएँ सभी उपद्रवों से रहित (हैं) । प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता मेरी पत्नी) है । वसन्त-ऋतु का काल है । तुम (विदूषक मेरे मित्र) हो । इस तरह कामदेव (मदन-महोत्सव इस) नाम के द्वारा भले ही सन्तोष कर लें । किन्तु (मैं) समझता हूँ (कि यह) महोत्सव मेरा है ॥ १।९ ॥

निश्चिन्तः= विगतचिन्तः, **धीरललितः**—धीरश्चासौ ललितश्चेति धीरललितः, धीरो दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, **कलासक्तः**—कलासु = कोमले कलाविधावित्यर्थः सक्तः = संलग्नः, मृदुः = कोमलः ॥ **सामान्यगुणयुक्तः**—सामान्याः = साधारणाः, नायकसाधारणा इत्यर्थः, ये गुणाः = विनयादयो धर्माः तैर्युक्तः = अलङ्कृतः, **द्विजादिकः** = ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या इत्यर्थः । धनिककृतायां टीकायां "द्विजादिक इति" शब्दस्तु काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र पूर्वं पश्चाच्चान्वेतीति ॥

अथ शान्तः—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति । विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणं, विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसम्भवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं, यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः ।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ॥ ७६ ॥

इत्यादि । यथा वा—

२—शान्त (अर्थात् धीरशान्त)

सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि नायक धीरशान्त (नायक) कहा गया है ।

(इसी प्रकाश के आरम्भ में कहे गये) विनय आदि नायक के सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि धीरशान्त (नायक) कहा गया है । "द्विज आदि" यह कथन ब्राह्मण, वणिक् (व्यापारी) तथा मन्त्री आदि प्रकरण के नेताओं का उपलक्षण (अर्थात् सूचक) है । तथा यह व्याख्यान करना अभीष्ट भी है (अर्थात् यही कहना अभीष्ट भी है)। ऐसा मानने से निश्चिन्तता आदि गुणों के होने पर भी (प्रकरण के नायक) विप्र आदि में शान्तता ही होती है, लालित्य नहीं । उदाहरणार्थ जैसे कि मालतीमाधव एवं मृच्छकटिक आदि में क्रमशः माधव तथा चारुदत्त (धीरप्रशान्त नायक) हैं ।

विशेष—विवक्षितं चैतत्—"शान्ततैव" में प्रयुक्त 'एव' पद यह सूचित करता है कि प्रकरण के नायक विप्र आदि शान्त ही होते हैं । यदि कभी विप्र आदि में निश्चिन्तता आदि, जो कि धीरललित नायक के गुण हैं, हों तो भी वह धीरप्रशान्त नायक ही माना जायगा । इसके साथ ही यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि विप्र आदि धीरललित चाहे नहीं ही हों किन्तु क्षत्रिय (राजा) आदि धीरललित आदि होने के साथ ही धीरप्रशान्त भी नायक हो सकते हैं । उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि बुद्ध क्षत्रिय होते हुए भी धीरप्रशान्त नायक हैं ।

(जैसे मालतीमाधव में कामन्दकी माधव का वर्णन करती हुई कह रही है)—

कामन्दकी—(चतुर्दिक्) प्रसरित होते हुए गुणों की कान्ति से मनोहर, (नृत्य-गीत आदि) कलाओं में कुशल (चन्द्रमा के पक्ष में—सोलहों कलाओं से सम्पन्न), इस जगत् में नेत्रधारियों के आनन्द का कारण अर्थात् नेत्रधारियों को आनन्दित करनेवाला), यह (माधव) उस (देवरात) से उसी प्रकार पैदा हुआ है, जैसे उदयाचल से बाल चन्द्र उदित होता है ॥ इत्यादि । अथवा (जैसे मृच्छकटिक में)—

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' ॥ ७७ ॥ (इत्यादि)

अथ धीरोदात्तः—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥ ४ ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः = शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः, अविकत्थनः = अनात्मश्लाघनः, निगूढाहङ्कारः = विनयच्छन्नावलेपः, दृढव्रतः = अङ्गीकृतनिर्वाहकः, धीरोदात्तः । यथा नागानन्दे—'जीमूतवाहनः—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥ ७८ ॥

चारुदत्त—(दुःख के साथ अपने आप)

पहले, सैकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा कुल यज्ञ-सभा में तथा (निमन्त्रित व्यक्तियों से) भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद-पाठों से उज्ज्वल (प्रकाशित) रहा करता था । (वही मेरा कुल) मरने की हालत में मेरे विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा के स्थान पर (बुरे काम के साथ) घोषित किया जा रहा है ॥(मृच्छ० १०।१२)

विशेष—जिस समय घोषणा करते हुए चाण्डालों के द्वारा चारुदत्त फाँसी देने के लिए ले जाया जा रहा था, उस समय वह दुःख के साथ उक्त बातें कहता है ।

३—धीरोदात्त

अब धीरोदात्त (नायक का लक्षण बतलाया जा रहा) है—

विशाल एवं अविचल अन्तःकरणवाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्म-प्रशंसा न करनेवाला (अर्थात् डींग न हाँकनेवाला), अविचल, अभिमान को दबाकर रखनेवाला तथा दृढव्रती (नायक) धीरोदात्त कहा गया है ॥

महासत्त्व अर्थात् शोक एवं क्रोध आदि से अप्रभावित अन्तःकरणवाला, अविकत्थन अर्थात् आत्मप्रशंसा न करनेवाला, अप्रकट अहङ्कारवाला अर्थात् जिसका अहङ्कार विनय से छिपा हुआ है ऐसा, दृढव्रती अर्थात् अङ्गीकार किये हुए को निभानेवाला धीरोदात्त (नायक) होता है ।

जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन (धीरोदात्त नायक) है—

(निम्न उक्ति गरुड़ के प्रति जीमूतवाहन की है)

हे गरुड़, (रक्तवाहिनी) नाड़ियों के अग्रभाग से रक्त बह ही रहा है । अभी अब भी मेरे शरीर में माँस है । आपकी भी तो तृप्ति नहीं देख रहा हूँ । फिर आप (मुझको) खाने से क्यों रुक गये ? ॥ (५।१६) ॥

यथा च रामं प्रति—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥ ७९ ॥

यच्च केषांचित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्संकीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगिषुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा—

'तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः ॥' ८० ॥

और जैसे राम के प्रति कहा गया है—

(राजगद्दी पर बैठने के हेतु) अभिषेक के लिए बुलाये गये तथा वन के लिए भेज दिये गये उन (राम) के आकार में मुझे स्वल्प भी परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ा ॥

जो कि (नायक के) 'स्थिरता' आदि कुछ साधारण गुणों का भी (नायक के धीरोदात्त आदि) विशेष लक्षण में कहीं-कहीं उल्लेख कर दिया गया है, वह उन (विशेष प्रकार के नायकों) में उन (स्थिरता आदि गुणों) की प्रबलता बतलाने के लिए है ।

पूर्वपक्षी—अच्छा यह बतलाइये कि नागानन्द आदि नाटकों में जीमूतवाहन आदि (नायक) उदात्त (नायक) कैसे कहे जाते हैं ? क्योंकि उदात्त होने का भाव है—सबसे उत्कृष्ट होकर रहना । और यह उत्कृष्ट होकर रहने की भावना विजयी बनने की अभिलाषावाले व्यक्ति का ही भाव हो सकता है (अर्थात् विजय की अभिलाषावाले व्यक्ति में ही उत्कृष्ट रूप में रहने की भावना हो सकती है) । किन्तु कवि के द्वारा तो जीमूतवाहन विजय की अभिलाषा से शून्य ही वर्णित किया गया है । जैसे—(नागानन्द १।७ में जीमूतवाहन कहता है)—

——१

"(व्यक्ति) पिता के समक्ष भूतल पर बैठा हुआ जिस तरह शोभित होता है, उसी तरह क्या सिंहासन पर बैठा हुआ (भी) शोभित होता है ? (अर्थात् नहीं) । पिता के चरणों को दबानेवाले (व्यक्ति) को जो सुख (मिलता) है, क्या (वह) राज्य से मिल सकता है ? (अर्थात् नहीं) । पिता की जूठन खाने से जो सन्तोष

स्थिरो युवेति—नायकसामान्यलक्षणे नायकेषु स्थैर्यप्रतिपादनानन्तरं पुनर्धीरोदात्ते तत्प्रतिपादनं पुनरुक्तिमात्रमिति शङ्कां निरासयति—**यच्चेत्यादिना । तेषाम्**—सामान्यलक्षणे कथयित्वाऽपि विशेषलक्षणे निर्दिष्टानां स्थैर्यादीनामित्यर्थः, तत्रेति विशेषनायके ॥

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥' ८१ ॥

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ

मिलता है, क्या वह तीनों लोकों के भोग करने पर भी मिल सकता है (अर्थात् नहीं)। पिता का परित्याग करनेवाले के लिए राज्य तो केवल आयासमात्र है, क्या उसमें कुछ भी गुण है ? (अर्थात् नहीं) ॥" इसके द्वारा तथा (नागानन्द १।४)—

"माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं वंशपरम्परा से प्राप्त समृद्धि को छोड़कर यह बन को जा रहा हूँ, जैसे कि जीमूतवाहन चला गया था ॥"

इसके द्वारा भी (जीमूतवाहन को विजय की अभिलाषा से शून्य दिखलाया गया है)। अतः इसमें (अर्थात् नागानन्द के नायक में) अत्यन्त शमप्रधान होने से तथा परम दयालु होने से भी, वीतराग की भाँति, शान्तता ही है (अर्थात् यह धीरप्रशान्त ही नायक है, धीरोदात्त नहीं)।

(**सिद्धान्ती**—कवि ने बीच में मलयवती के प्रति जीमूतवाहन के अनुराग का भी वर्णन किया है। अतः उसे अत्यन्त शमप्रधान, परमदयालु तथा वीतराग नहीं कहा जा सकता।)

पूर्वपक्षी—मैंने जो पहले कहा है, उस पर (आपके द्वारा) जो उस प्रकार के राज्य-सुख आदि में निरभिलाष नायक (जीमूतवाहन) को लेकर मलयवती के प्रति उसके अनुराग की बात कही गई है वह यहाँ अनुपयुक्त है। (शान्तरस प्रधान नाटक में अनुराग की बात करना असङ्गत तथा बेढब है)।

सिद्धान्ती—(विनय आदि) सामान्यगुणों से युक्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) आदि, (जो कि प्रकरण के नायक होते हैं), धीरशान्त कहे गये हैं (अतः जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नायक नहीं हो सकता। वह धीरोदात्त ही नायक होगा)।

पूर्वपक्षी—(आपके द्वारा उद्धृत धीरशान्त का) यह लक्षण भी परिभाषिक होने के कारण अवास्तविक है (यथार्थ नहीं) अतः (यह) भेदक (अर्थात् अन्य नायकों से धीरशान्त का व्यावर्तक) नहीं हो सकता।

इस तरह वस्तु-स्थिति तो यह है कि बुद्ध, युधिष्ठिर तथा जीमूतवाहन आदि के व्यवहार शान्तता को प्रकट करते हैं (अतः उन्हें धीरप्रशान्त नायक ही मानना चाहिए)।

परिहीयते। न ह्येकरूपैव विजिगीषुता। यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुः, न यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः। तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः। रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः। जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेते, इत्युदात्ततमः। यच्चोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति, तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः, तदुक्तम्—

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छाययोपाश्रितानाम्॥ ८२॥' इत्यादिना।

इस पर अब कहा जा रहा है—

सिद्धान्ती—जो यह (आपके द्वारा) कहा गया है कि—सबसे उत्कृष्ट होकर रहना ही औदात्त्य (उदात्तता) है, तो (यहाँ यह ध्यान रखना है कि) जीमूतवाहन आदि में भी उस उदात्तता का अभाव नहीं है। (क्योंकि) विजय की अभिलाषा केवल एक तरह की ही नहीं होती है। (बल्कि) जो कोई व्यक्ति शौर्य, त्याग तथा दया आदि के द्वारा दूसरों को लाँघ जाता है, वह विजयाभिलाषी है, न कि (वह व्यक्ति विजयाभिलाषी है) जो दूसरों का अपकार करके धन आदि बटोरने में लगा हुआ है। यदि दूसरों का अपकार करके धन बटोरने में प्रवृत्त व्यक्ति को विजयाभिलाषी मान लिया जायगा तो राह चलतों को लूटनेवाले (डकैत) आदि भी धीरोदात्त होने लगेंगे (अर्थात् उनमें भी धीरोदात्तता माननी पड़ेगी)।

पूर्वपक्षी—यदि आपका कथन मान लिया जाय तब तो रावण आदि का वध करके उसका राज्य आदि छीननेवाले राम आदि भी उदात्त नायक न बन सकेंगे?

सिद्धान्ती—"जगत् का पालन करना है", इस विचार से दुष्टों के दमन में प्रवृत्त राम आदि को गौणरूप से राज्य आदि का लाभ हो जाता है। (उनमें किसी के धन आदि को लूटने का कलंक नहीं लगाया जा सकता। अतः राम आदि की उदात्तता में शङ्का करना ठीक नहीं है)।

ऐसी अवस्था में जीमूतवाहन आदि तो, प्राणों के द्वारा भी दूसरों का कल्याण करने के कारण, सबसे बढ़ कर हैं। इस तरह (वे) उदात्त नायकों में सबसे श्रेष्ठ हैं।

और तुम (पूर्वपक्षी) ने "तिष्ठन् भाति" इत्यादि के द्वारा जो यह कहा है कि—इससे जीमूतवाहन की विषय-विमुखता प्रकट होती है, तो वह (तुम्हारा कथन) ठीक ही है। विजयाभिलाषी व्यक्ति कृपणता (कातरता) को उत्पन्न करनेवाली अपने सुख की लालसा के प्रति अभिलाषारहित ही होते हैं। यह कहा भी गया है (शा० ५।६ में नायक दुष्यन्त के प्रति)—

"आप प्रतिदिन, अपने सुख के प्रति निरभिलाष होकर, प्रजा के (हित) के लिए

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति। शान्तत्वं चानहंकृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण। बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः। अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति।

अथ धीरोद्धतः—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥ ५ ॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

कष्ट सहन करते हैं। अथवा आपका जन्म ही इसीलिए हुआ है; क्योंकि वृक्ष अपने शिर पर तीव्र गर्मी को बर्दास्त करता है, किन्तु अपनी छाया से अपने आश्रित जनों के सन्ताप को शान्त करता रहता है॥" इत्यादि

और मलयवती के प्रति (जीमूतवाहन के) अनुराग का वर्णन तो शान्त रस के अनुकूल नहीं बन सकता, बल्कि वह नायक की शान्तता का ही निषेध करता है।

और, शान्तता का अर्थ है—अहङ्कार से रहित होना। उस (शान्तता) का विप्र आदि में होना उचित ही है (अर्थात् स्वाभाविक है)। अतः विप्र आदि में शान्तता यथार्थतः होती ही है, केवल अपने द्वारा निर्मित परिभाषामात्र से ही उनमें शान्तता नहीं मानी गई है।

यद्यपि बुद्ध और जीमूतवाहन की करुणा समान ही है, फिर भी (जीमूतवाहन में) सकाम करुणाभाव है और बुद्ध में निष्काम करुणाभाव है। यही दोनों की करुणा में भेद है। इस प्रकार जीमूतवाहन आदि धीरोदात्त ही नायक हैं।

विशेष—बुद्धजीमूतवाहनयोः—बुद्ध की करुणा निष्काम है। अतः वह धीरप्रशान्त नायक हो सकता है, किन्तु जीमूतवाहन की करुणा सकाम है। सकाम करुणा का आश्रय होने के कारण वह धीरप्रशान्त नायक न होकर धीरोदात्त नायक ही है। अतः करुणा का आश्रय होने के कारण पूर्वपक्षी ने जीमूतवाहन में धीरप्रशान्तता को सिद्ध करने का जो प्रयास किया था, इससे उसका खण्डन हो जाता है।

४—धीरोद्धत

अब धीरोद्धत (नायक की विशेष परिभाषा बतलाई जा रही) है—

घमण्ड और डाह की अधिकता से युक्त (अर्थात् अत्यन्त घमण्डी एवं प्रबल ईर्ष्यालु), माया और कपट से भरपूर, अहङ्कारी, अस्थिर, अत्यन्त क्रोधी तथा अपनी प्रशंसा करनेवाला (नायक धीरोद्धत नायक कहा गया है) ॥ ५ ॥

पारिभाषिकत्वात्—परिभाषायां न तु व्यवहारे भवं पारिभाषिकं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, [illegible] **म्**=अयथार्थम्, अस्वीकरणीयमिति यावत्, **अभेदकम्**=अव्यावर्तकम्। **वस्तुस्थित्या**—यथार्थतया। **वृत्तिः**=वर्तनम्, विजिगीषुत्वमेवौदात्त्यबीजमिति मत्वा पूर्वपक्षोपन्यासः। **धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः**=धीरोदात्तताप्रसङ्गः। **नान्तरीयकत्वेन**=आनुषङ्गिकगत्येत्यर्थः। **अशान्तरसाश्रयम्**—शान्तरसस्य आश्रयः=अवलम्बनं यस्मिन् तत् शान्तरसाश्रयं न शान्तरसाश्रयमशान्तरसाश्रयम्। **प्रत्युतेति**=वस्तुतः॥

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म = वञ्चनामात्रम्, चलः = अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, स्वगुणशंसी—विकत्थनो, धीरोद्धतो भवति यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय' इत्यादि। यथा च रावणः-'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य।' इत्यादि।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सवृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातेनरपायित्वात्, यथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः—

दर्प अर्थात् अपनी शूरता आदि का घमण्ड, मात्सर्य अर्थात् असहनशीलता, अविद्यमान भी वस्तु को मन्त्र के बल से प्रकट करना ही माया है, किसी को छलना ही छद्म कहलाता है, चल अर्थात् अस्थिर चित्तवाला, चण्ड अर्थात् अत्यन्त क्रोधी, अपने-गुणों की प्रशंसा करनेवाला व्यक्ति विकत्थन कहा गया है। ऐसा नायक धीरोद्धत नायक होता है। जैसे (महावीरचरित २।१६ में) परशुराम के "कैलासोद्धार" आदि कथन से उनकी धीरोद्धतता प्रकट होती है। और, जैसे रावण के "रावण की भुजाएँ त्रिलोकी के ऐश्वर्य की लक्ष्मी का जबर्दस्ती हरण करनेवाली हैं"—इस कथन से उसकी धीरोद्धता प्रकट होती है।

(**शङ्का**—अच्छा, यह बतलाइए कि कहीं-कहीं देखने में आता है कि एक ही नायक किसी महाकवि के द्वारा कहीं धीरोद्धत के गुणों से युक्त वर्णित किया गया है तो कहीं धीरप्रशान्त के गुणों से अलङ्कृत। यह कैसे हो सकता है ? एक व्यक्ति एक ही तरह का नायक हो सकता है, न कि कई तरह का।)

समाधान—धीरललित आदि शब्द ठीक उसी तरह यथोक्त (निश्चिन्तता आदि) गुणों से युक्त अवस्था को बतलानेवाले हैं, जैसे कि वत्स (बछड़ा), वृषभ (बैल) तथा महोक्ष (साँड़) आदि शब्द एक ही व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं को बतलाते हैं। जाति के द्वारा निश्चित रूपवाला कोई ललितादि नहीं होता (अर्थात् जैसे गौ में गोत्व जाति शाश्वतरूप से रहती है उस तरह उसमें वत्सत्व, वृषभत्व तथा महोक्षत्व आदि जातियाँ नहीं हुआ करती हैं। वत्स आदि शब्द गुणों के आधार पर किसी की विभिन्न अवस्था को बतलानेवाले हुआ करते हैं। ठीक इसी प्रकार नायक में नायकत्व जाति रहती है, उदात्त, ललित आदि उसके गुण हैं। गुण अस्थायी तथा बदलनेवाले हुआ करते हैं। (अतः एक ही नायक गुणों के आधार पर धीरोदात्त तथा धीरोद्धत भी बन सकता है)। यदि ललितत्व आदि, गोत्व आदि जाति की तरह, नियत (सर्वदा रहनेवाला) होता तो महाकवियों के प्रबन्धों में एक ही नायक में (धीरोदात्त) आदि परस्पर विरुद्ध अनेक रूपों का कथन असङ्गत होता, क्योंकि जाति तो नष्ट होनेवाली नहीं है। (अतः एक ही व्यक्ति में दो विरुद्ध जातियाँ नहीं रह सकती हैं)। यही कारण है कि भवभूति ने एक ही परशुराम को—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ॥
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ ८३ ॥'

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार—' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः–'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः। न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात्। अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यं, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति।

वक्ष्यमाणानां च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः' इति नित्यसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम्।

"ब्राह्मण के अतिक्रमण का त्याग आपके ही कल्याण के लिए होगा। अन्यथा आपका मित्र जामदग्न्य खिन्न हो जायगा" (वीरचरित २।१०) ॥

इस कथन के द्वारा रावण के प्रति धीरोदात्तरूप में तथा "कैलासोद्धारसार०" (वीरचरित २।१०) इत्यादि के द्वारा राम आदि के प्रति धीरोद्धतरूप में और आगे "पुण्या ब्राह्मणजातिः" अर्थात् "ब्राह्मण-जाति पवित्र है" (वीरचरित ४।२२) इत्यादि के द्वारा धीरशान्त के रूप में वर्णित किया है (अर्थात् एक ही परशुराम तीन स्थानों पर तीन रूपों में वर्णित किये गये हैं)।

"एक ही नायक में एक अवस्था का वर्णन करके पुनः उसमें दूसरी अवस्था का वर्णन करना उचित नहीं है" ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं; क्योंकि जो अङ्गभूत (अर्थात् अप्रधान (नायक होते हैं, उनका अन्य नायकों के प्रति महासत्त्व आदि (नायक के गुणों से युक्त) होना नियत नहीं रहता (अर्थात् एक ही नायक एक व्यक्ति के प्रति उदात्त हो सकता है तो दूसरे के प्रति उद्धत एवं अन्य के प्रति प्रशान्त)। किन्तु जो प्रधान नायक राम आदि हैं, उनकी एक प्रबन्ध में वर्णित सभी पात्रों के प्रति एकरूपता ही होनी चाहिए। अतः (प्रधान नायक की जिस उदात्त आदि) अवस्था का आरम्भ में ग्रहण किया जाय उससे (उसकी) दूसरी अवस्था का ग्रहण (उसी प्रबन्ध में) अनुचित है। जैसे उदात्त (धीरोदात्त) नायक के रूप में अभिमत राम का छल से बालि का वध करना, महासत्त्वता के प्रतिकूल होने के कारण, अपनी (धीरोदात्त) अवस्था का परित्याग ही है (जिसे, उस प्रबन्ध में, उचित नहीं कहा जा सकता)।

किन्तु (शीघ्र ही) आगे बतलाई जानेवाली दक्षिण आदि (नायक की) अवस्थाओं में पूर्वगृहीत अवस्था से भिन्न किसी अन्य अवस्था का वर्णन करना तो प्रधान नायक तथा अप्रधान नायक-दोनों—के लिए अनुचित नहीं है (अर्थात् प्रधान या अप्रधान कोई भी नायक यदि आरम्भ में दक्षिण नायक है तो वह बाद में शठ या धृष्ट नायक के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है)।

"दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट किया गया नायक, जो कि अबतक दक्षिण नायक

अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः —

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्ययाहृतः ॥ ६ ॥

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।

था, अब प्रथम नायिका के प्रति शठ या धृष्ट नायक कहलाता है।" इस कथन के अनुसार ये (दक्षिण आदि) अवस्थाएँ सर्वदा ही सापेक्ष (परस्पर एक दूसरी की अपेक्षा से उत्पन्न होनेवाली) हैं। अतः एक (अवस्था) के विना दूसरी (अवस्था) का होना ही असम्भव है। (इसलिए यह कहना उचित ही है कि प्रधान या अप्रधान-दोनों-तरह के नायकों में एक अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था भी हो सकती है)।

विशेष—धनिक के अनुसार धीरोदात्तत्व आदि नायक की अवस्थाएँ हैं न कि उसकी जातियाँ। यही कारण है कि एक (अप्रधान) नायक एक से अधिक अवस्थाओं में चित्रित किया जा सकता है। यदि धीरोदात्तत्व आदि जातियाँ होतीं तो यह बात संभव न थीं। क्योंकि जिस व्यक्ति में एक जाति रहती है उसमें कभी भी दूसरी जाति नहीं रह सकती। उदाहरणार्थ गौ में केवल गोत्व जाति ही होगी न कि अश्वत्व या महिषत्व जाति। यहाँ यह ध्यान रखना है कि अङ्गभूत (अर्थात् अप्रधान) नायक में ही एक से अधिक अवस्थाएँ होती हैं। प्रधान नायक में एक ही अवस्था हुआ करती है। एक ही नायक में, चाहे वह प्रधान हो या अप्रधान, दक्षिण आदि एक से अधिक अवस्थाएँ हुआ करती हैं।

नायक की श्रृङ्गाररस विषयक अवस्थाएँ

अब नायक की श्रृङ्गाररस विषयक अवस्थाओं का वर्णन किया जा रहा है—

जो नायक दूसरी (नायिका) के द्वारा वशीभूत कर लिया जाता है, वह (अपनी) पहली नायिका के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट (प्रकृति का) कहलाता है ॥ ६ ॥

नायक का प्रकरण होने के कारण (यहाँ 'सः' का अर्थ है—नायक)—दूसरी नवीन नायिका के द्वारा आकृष्ट किये गये चित्तवाले (नायक) की पहली नायिका के प्रति तीन अवस्थाएँ होती हैं। और, आगे कहे जानेवाले ('अनुकूल' नामक) भेद को लेकर उसकी चार अवस्थाएँ हुआ करती हैं। इस तरह पीछे बतलाये गये (धीरोदात्त आदि) चारों में प्रत्येक की (दक्षिण आदि) चार अवस्थाओं के हो जाने के कारण नायक सोलह प्रकार का हो जाता है। उनमें—

बालिवधाद् अमहासत्त्वतया—अमहासत्त्वतया = धीरोदात्तनायकबीजाभिघाततयेत्यर्थः, **स्वावस्थापरित्यागः**—स्वस्य = धीरोदात्तस्येत्यर्थः या अवस्था तस्याः परित्यागः = मोचनम्, तत्त्वनुचितमिति वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ **नित्यसापेक्षत्वेन** = अन्योन्याश्रयत्वेन, **अविनाभावात्** = अनुत्पद्यमानत्वादित्यर्थः ॥

सः—प्रसङ्गादत्र नायको गृहीतः **अन्यया** = स्वातिरिक्तया नायिकयेत्यर्थः, **हृतः** = हृदयेन गृहीतः, **पूर्वां** = स्वकीयां परिणीतां नायिकां प्रति ॥

तत्र—

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः । यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।
सविश्रम्भः कश्चित्कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥ ८४ ॥'

यथा वा—

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥ ८५ ॥'

१—दक्षिण नायक

इस (पूर्व नायिका) के प्रति कोमल-हृदय रहने वाला नायक दक्षिण नायक होता है ।

जो (नायक दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट किया गया चित्तवाला होकर भी) इस ज्येष्ठ (अर्थात् पूर्व) नायिका के साथ हृदय के साथ व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक माना गया है । जैसे मेरा (धनिक का) ही उदाहरण है—

प्रसङ्ग—नायिका से उसकी सखी ने आकर कहा कि—"नायक आज-कल अमुक सुन्दरी के प्रेमपाश में आबद्ध हो गया है ।" यह सुनकर भी नायिका को यह विश्वास नहीं होता कि यह बात सच भी हो सकती है । वह कहती है कि—

"(वे) मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते हैं । उनकी काम-क्रियाएँ कुछ (विशेष ढंग से) प्रेम से भरी हुई हुआ करती हैं । इनका विनय कुछ (अनिर्वचनीय रूप से) प्रतिदिन अपूर्व हुआ करता है । किन्तु कोई विश्वासपात्र परिजन उनके विषय में यदि कुछ (उनका किसी अन्य सुन्दरी से प्रेम-व्यवहार आदि) कहता है, तो (भी) मैं उनके किसी तरह परिवर्तन का विश्वास नहीं करती हूँ ॥"

अथवा, जैसे—(मालविकाग्निमित्र ३.३ में राजा कहता है)—

"प्रेम को तोड़ लेना ही अधिक उचित है । क्योंकि (प्रेम की) समाप्ति के अनेक कारण देखे गये हैं । यद्यपि (कुछ लोगों के द्वारा) मानिनी नायिकाओं के प्रति किया जाने वाला आदर-सत्कार पहले से भी अधिक होता है, किन्तु (वस्तुतः) वह भाव-विहीन हुआ करता है ॥"

विशेष—दक्षिणो । वस्तुतः दक्षिण नायक बहुत ही चालाक नायक होता है । वह नवीन प्रेयसी में हृदय से आकृष्ट रहता है । किन्तु अपनी पूर्व नायिका के प्रति इतनी

अस्याम्=परिणीतायां नायिकायामित्यर्थः, सहृदयः=मानवबुद्ध्या कर्तव्यबुद्ध्या च तत्रापि पूर्ववद्व्यवहर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥

अथ शठः—

—गूढविप्रियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा—

'शठोऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयं त्वद्बहुवचो—
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥ ८६ ॥'

अधिक तन्मयता से काम-क्रीडाओं को अभिव्यक्त करता है कि उस नायिका को यह भान ही नहीं हो पाता कि इनका मन किसी अन्य सुन्दरी में भी आसक्त है । सच तो यह है कि वह नायिका के साथ सरस व्यवहार करते समय उसमें अपनी नवीन प्रेयसी की छाया ही देखता है ।

२—शठ-नायक

अब शठ-नायक का लक्षण दिया जा रहा है—

(पूर्व नायिका का) छिपे रूप से अप्रिय करनेवाला नायक शठ-नायक कहलाता है ।

यद्यपि दक्षिण नायक का भी चित्त दूसरी (नवीन) नायिका के द्वारा हर लिया जाता है । इस तरह वह भी शठ-नायक की ही तरह (पूर्व नायिका का) अप्रिय करता है । किन्तु दक्षिण नायक (अपनी पूर्व नायिका के प्रति) सहृदय बना रहता है, यही शठ-नायक से उसका अन्तर है ।

विशेष—पूर्वनायिका का अप्रिय (अर्थात् नवीन नायिका से प्रेम) शठ और दक्षिण दोनों तरह के नायक समान रूप से करते हैं । इस प्रकार दोनों में ही एक जैसा विप्रियकारित्व पाया जाता है । फिर भी दक्षिण नायक पूर्व नायिका का दिल नहीं दुखाना चाहता । किन्तु शठ में यह विशेषता नहीं पाई जाती । यही दोनों में भेदकतत्त्व है ।

उदाहरण—जैसे (अमरुशतक १०९ में नायिका की एक चतुर सखी नायक को उलाहना देती हुई कह रही है)—

"हे शठ, (मेरी प्रिय सखी का) आलिङ्गन करते हुए ही, अन्य नायिका की करधनी की मणि के शब्द को सुन कर जो तुमने सहसा ही, अपने भुजबन्धन को ढीला कर दिया था, इस बात को कहाँ कहूँ ? घृत और शहदमय (अर्थात् विष का काम करनेवाले चिकने-चुपड़े) तुम्हारे वचनरूपी विष से चक्कर खाती हुई मेरी सखी कुछ भी नहीं जान पाती ॥"

गूढविप्रियकृत्—गूढम् = गुप्तं यथा तथा विप्रियम् = अपराधम् , अन्यनायिकारमणरूपमपराधमित्यर्थः करोतीति तादृशः ॥

अथधृष्टः—

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

यथाऽमरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥ ८७ ॥'

भेदान्तरमाह—

—ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७ ॥

अब धृष्ट (नायक का लक्षण दिया जा रहा) है—

जिसके अङ्गों में (अन्य नायिका के साथ रमण करने के) चिह्न स्पष्टरूप से प्रतीत होते हों; वह धृष्ट नायक कहा गया है।

जैसे अमरु० ६० में "(रात्रि के सहवास के समय रूठी हुई अन्य नायिका के चरणों पर शिर रखने के कारण) प्रातःकाल प्रिय के ललाट-पट्ट के चारों ओर महावर का चिह्न, गले में (रति-श्रान्त अतः वक्षःस्थल पर शिर रख कर सोई हुई प्रेमिका की बाहों में स्थित) केयूर (बाजूबन्द) की छाप, (नायिका के नेत्रों का चुम्बन लेने के कारण) मुख पर काजल की कालिमा, (तथा नायिका के द्वारा उसके नेत्रों का चुम्बन करने के कारण) नेत्रों पर दूसरे तरह की पान की लालिमा इत्यादि कोप उत्पन्न करने वाले (नायक के इस) मण्डन को देर तक देख कर मृगनयनी के श्वांस लीलाकमल के मध्य में ही समाप्त हो गये ॥"

विशेष—धृष्ट नायक रात भर नवीन प्रेयसी के साथ था। सुबह होने पर वह ज्येष्ठा नायिका के पास आया है। उसके शरीर पर रमण करने के अनेक चिह्न अब भी मौजूद हैं। किन्तु वह इतना धृष्ट है कि ज्येष्ठा नायिका के समक्ष जाने में उसे जरा-सी भी हिचक नहीं होती।

श्वासाः समाप्तिं गताः—रमण के चिह्नों से अलंकृत नायक प्रातःकाल ज्येष्ठा नायिका के सामने उपस्थित हुआ। उसने उसके शरीर के इन चिह्नों को देखा। वह दुःख एवं क्रोध के मारे कुछ बोल न सकी। हाथ में लिए गये कमल को वह कस-कस कर सूँघने लगी। कमल सूँघने के बहाने श्वांसों को उसने इस तरह ऊपर चढ़ाया कि वे सर्वदा के लिए समाप्त ही हो गये।

(नायक के) अन्य भेद को बतला रहे हैं—

४—अनुकूल नायक

जिस नायक की एक ही नायिका होती है, उसे अनुकूल नायक कहा गया है।

व्यक्ताङ्गवैकृतः—व्यक्तानि = सुस्पष्टानि अङ्गेषु = अवयवेषु वैकृतानि = विकाराणि, चिह्नानीति यावत, यस्य तादृशो नायको धृष्ट इति ॥

यथा—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥ ८८ ॥'

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते—पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः। ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधार्ष्ट्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च—

जैसे, (उत्तर रामचरित १।३९ में सीता का स्पर्श करते हुए राम कहते हैं)—

"जो सुख तथा दुःख में समान भाव से रहने वाला है, जो सभी अवस्थाओं में अनुगत है, जिसमें हृदय का विश्राम होता है, जिसमें प्रीति वृद्धावस्था के द्वारा भी नहीं हटाई जा सकती, जो कि समय के द्वारा, विवाह से लेकर मृत्युतक, परिनिष्ठित प्रेमतत्त्व में स्थित रहने वाला है, उस दाम्पत्य का अद्वितीय वह कल्याण किसी तरह ही (अर्थात् बड़े भाग्य से ही) प्राप्त किया जाता है ॥"

पूर्वपक्षी—अच्छा, (रत्नावली) नाटिका का नायक वत्सराज (उदयन) आदि इन (नायक-प्रकारों) में से किस प्रकार का नायक होगा ?

सिद्धान्ती—पहले तो, जब कि उसने दूसरी नायिका से प्रेम करना नहीं आरम्भ किया है तब वह, अनुकूल नायक है, किन्तु बाद में (जब कि सागरिका से प्रेम करता है तब) दक्षिण नायक है ।

पूर्वपक्षी—अच्छा, यह बतलाइये कि जब कि वह (अन्य नायिका से प्रेम करता हुआ अपनी पूर्व नायिका वासवदत्ता का) गुप्त रूप से अप्रिय करता है, और जब कि उसका यह गुप्त अपराध प्रकट भी हो जाता है तब वह क्रमशः शठ एवं धृष्ट नायक क्यों नहीं होता ?

सिद्धान्ती—नहीं, यद्यपि वत्सराज (उदयन) आदि उस प्रकार का अप्रिय आचरण करते हैं तो भी प्रबन्ध की परिसमाप्ति पर्यन्त (वे) ज्येष्ठ नायिका (वासवदत्ता) के प्रति सहृदय ही बने रहते हैं, अतः उनमें दक्षिणता ही मानी जायगी (अर्थात् वे दक्षिण नायक ही माने जाँयगे) ।

पूर्वपक्षी—नायक का स्नेह ज्येष्ठा नायिका तथा कनिष्ठा नायिका—दोनों से ही (एक साथ) नहीं हो सकता । (अतः उदयन आदि दक्षिण नायक नहीं हो सकते) ।

सिद्धान्ती—नहीं, (आप) ऐसा नहीं कह सकते । (ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों से एक साथ प्रेम होने में कोई) विरोध नहीं है । और, महाकवियों के प्रबन्धों में

एकनायिकः—एका = केवला नायिका = प्रेयसी यस्य तादृशो नायकोऽनुकूल इत्यभिधीयते ॥

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥ ८९ ॥'

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।

तथा च भरतः—

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्येत स तु भवेज्ज्येष्ठः ॥ ९० ॥

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति । अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति ।

षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति ।

"स्नाता०" आदि में (एक ही नायक का) सभी नायिकाओं के साथ पक्षपात-रहित प्रेम का वर्णन उपनिबद्ध भी किया गया है—

(यहाँ कञ्चुकी राजा के विषय में कह रहा है)

"कुन्तलाधीश की पुत्री (मासिक धर्म के अनन्तर) स्नान करके बैठी हैं। अङ्ग-देश के राजा की बहन की आज बारी है। कमला ने (आज की) यह रात जुएँ में जीत ली है। आज देवी (महारानी) को भी प्रसन्न करना है।"—इस प्रकार जब मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों के प्रति, जान कर, राजा को सूचित किया तब महाराज कुछ निश्चय न कर सकने के कारण किंकर्तव्य विमूढ मन से दो-तीन पल स्तब्ध रहे ॥

इसके अतिरिक्त भरत ने भी ऐसा ही कहा है—"ज्येष्ठ (नायक) मधुर तथा त्यागी होता है। वह (किसी एक में) विशिष्ट रूप से अनुरक्त नहीं होता। वह काम के वशीभूत भी नहीं होता है। नारी के द्वारा अपमानित होने पर वह विरक्त हो जाता है ॥"

यहाँ पर (आचार्य भरत के इस श्लोक में) "विशिष्ट रूप से अनुरक्त नहीं होता", "काम के वश में नहीं होता है" इस कथन के द्वारा दक्षिण नायक के किसी एक नायिका में अतिशय स्नेह का निषेध किया गया है। इसलिए वत्सराज (उदयन) आदि का (रत्नावली आदि) प्रबन्ध की परिसमाप्ति पर्यन्त दक्षिण नायक होना निश्चित रहता है।

(पीछे बतलाये गये) सोलह प्रकार के नायकों में से प्रत्येक (नायक) के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम भेद होने से नायक के १६ × ३ = ४८ भेद हो जाते हैं।

किमवस्थः—किम् = का अवस्था यस्य सः, किंप्रकार इत्यर्थः। **अनुपजातनायिकान्तरानुरागः**—अनुपजातः = अनुत्पन्नः नायिकान्तरे = अन्यस्यां नायिकायामित्यर्थः, अनुरागः = प्रेम यस्य तादृशः ज्येष्ठायां नायिकायां सहृदयत्वमेव दक्षिणत्वमूलम् ॥

सहायानाह—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥ ८ ॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः । यथा मालतीमाधवे मकरन्दः, रामायणे सुग्रीवः ।

सहायान्तरमाह—

एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः । हास्यकारी विदूषकः । अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विटः । विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

नायक के सहायक (पीठमर्द आदि)

(अब नायक के) सहायकों को बतला रहे हैं—

(प्रधान नायक के सहायकों में) प्रमुखतम पताका नायक होता है । इसे पीठमर्द कहते हैं । यह काफी चतुर होता है । उस (प्रधान नायक) का यह (पीठमर्द) अनुचर तथा भक्त होता है और उसके (अर्थात् प्रधान नायक के) गुणों से कुछ कमगुण वाला होता है ॥ ८ ॥

पहले (१.१३) में कहा गया है कि—

प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है । उस (पताका) का नायक पीठमर्द कहलाता है । यह (पीठमर्द) प्रधान इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है । उदाहरणार्थ जैसे—मालतीमाधव में मकरन्द तथा रामायण में सुग्रीव है ।

विशेष—प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः–कथानक के दो भेद होते हैं—आधिकारिक (प्रधान) और प्रासङ्गिक (अप्रधान) । प्रासङ्गिक कथानक (वस्तु) भी दो प्रकार का होता है—प्रताका और प्रकरी । प्रासङ्गिक का नायक पीठमर्द कहलाता है ।

(प्रधान नायक के) अन्य सहायकों को बतला रहे हैं—

दूसरा (सहायक नायक की उपयोगिनी) किसी एक विद्या का जानकार होता है और विदूषक हास्य उत्पन्न करने वाला (उसका दूसरा सहायक) होता है ।

विट नायक की उपयोगिनी गीत आदि विद्याओं में से किसी एक विद्या का ज्ञाता होता है । हँसी को उत्पन्न करने वाला (पात्र) विदूषक होता है । विदूषक की शारीरिक बनावट तथा वेष आदि विकृत हुआ करते हैं—यह बात उसके हास्यकारक होने से ही प्रकट होती है । जैसे नागानन्द नाटक में 'शेखरक' विट है । विदूषक तो प्रसिद्ध ही है ।

अन्वयः—अनेन प्रधाननायकस्य सहायकेषु पीठमर्दस्य प्राधान्यं निर्दिष्टम् । **तस्यैव**=प्रधाननायकस्यैव, **ऊनः**=न्यूनः, **तद्गुणैः**—तस्य=प्रधाननायकस्य गुणैः=विशिष्टताभिः, प्रधाने इतिवृत्ते पताकाया गत्याधायकत्वात्तन्नायकस्याप्यप्राधान्यमिति ॥

अथ प्रतिनायकः—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥ ९ ॥

तस्य नायकस्येत्थंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति। यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनौ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः ॥ १० ॥

तत्र (शोभा यथा)—

नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

विशेष—विटः—भरत के नाट्यशास्त्र (३५.५५) में विट का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥

विदूषकः—वहीं (नाट्य० ३५.५७ में) विदूषक का लक्षण यह दिया गया है—

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥

प्रतिनायक

अब प्रतिनायक (का लक्षण किया जा रहा) है—लालची, धीरोद्धत, स्तब्ध (घमण्डी, हठी), पाप करनेवाला, व्यसनी (बुरी लत वाला) तथा (प्रधान नायक का) शत्रु (व्यक्ति) प्रतिनायक होता है ॥ ९ ॥

उस (प्रधान) नायक का इस तरह का प्रतिनायक हुआ करता है। जैसे राम और युधिष्ठिर के रावण तथा दुर्योधन प्रतिनायक हैं।

नायक के सात्त्विक गुण

अब नायक के सात्त्विक गुणों को बतलाया जा रहा है—

(१) शोभा (२) विलास (३) मधुरता (४) गम्भीरता (५) स्थिरता (६) तेजस्विता (७) ललित (८) उदारता—ये आठ पुरुषों (नायकों) के गुण हैं ॥ १० ॥

(१)—इनमें शोभा यह है, जैसे—

नीच के प्रति घृणा, अपने से विशिष्ट के प्रति स्पर्धा, शूरता तथा दक्षता (किसी कार्य को करने की निपुणता)—ये शोभा में हुआ करते हैं।

(अर्थात् ये जहाँ रहते हैं वहीं शोभा नामक सात्त्विक गुण होता है)।

नीच के साथ घृणा यह है जैसे वीरचरित (१.३७) में—

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥ ९१ ॥'

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरः स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते—
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥ ९२ ॥'

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्सन्तर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥ ९३ ॥'

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक—
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥ ९४ ॥'

"विशाल ताल (वृक्ष) के समान ऊँची ताडका के उपद्रव को देख कर भी (राम) भयभीत नहीं हुए, किन्तु उसके वध के लिए नियुक्त किये जाने पर उसके स्त्री होने के कारण सन्देह में पड़ गये ॥"

[यहाँ राम में नीच अर्थात् स्त्री ताडका के प्रति घृणा दिखलाई गई है]

स्पर्धा

अधिक गुणों से युक्त व्यक्तियों के प्रति स्पर्धा यह है, जैसे—

"सामने की इस स्थली को देखिये, यहाँ ही अर्जुन ने अपने धनुष के द्वारा लीलापूर्वक किरात (भील) के वेश को धारण किये हुए शिव के मस्तक पर तेजी से प्रहार किया था। हिमालय में सुभद्रा के प्रति (अर्जुन) की इस तरह अद्भुत कथा को सुनकर जिस (महादेव) ने अपनी दोनों बाहुओं को धीरे-धीरे मण्डलाकार बनाया—(उनकी जय हो) ॥"

[यहाँ अर्जुन के विलक्षण पराक्रम को सुनकर महादेव में स्पर्धा का वर्णन किया गया है]

शौर्य—शोभा का उदाहरण जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

"अपनी अँतड़ियों से ही संयत चरणाग्रवाला (अर्थात् पेट में लगे बाण के घाव में से निकल कर बाहर फेंका गई अँतड़ियों से जिसके पैर का अग्र भाग फँस रहा है ऐसा), अपने अङ्गों में प्रचुर घावों तथा बाणों से व्याप्त, मूर्च्छा के समाप्त होते ही

अथ विलासः—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११ ॥

यथा—

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥ ९५ ॥'

अथ माधुर्यम्—

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा—

(अपने) रोमाञ्च को ही कवच बनाते हुए (जो योद्धा) हारते (अपने योद्धाओं) को उत्साहित करता हुआ तथा शत्रु-योद्धाओं को कठोरतापूर्वक धमकाता हुआ (आगे बढ़ता है)—ऐसा प्रशंसनीय योद्धा विजय-लक्ष्मी का निवास-स्थान बन कर विशाल युद्धरूपी स्तम्भ पर पताका के समान फहरा रहा है ॥" दक्ष-शोभा, जैसे वीर-चरित (१, ५३) में "स्फूर्जद्" इत्यादि इसी प्रकार के आरम्भ में 'दक्ष नायक' के उदाहरण के अवसर पर उद्धृत है ।

२—विलास

अब विलास (नामक नायक के दूसरे सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

विलास (नामक सात्त्विक गुण) में धैर्ययुक्त गति एवं धैर्ययुक्त दृष्टि होती है, तथा वचन मुस्कराहट के साथ बोले जाते हैं ॥११॥

जैसे (उत्तररामचरित ६।२९ में लव को देख कर राम कहते हैं)—

"इसकी दृष्टि त्रिलोकी के बल के उत्कर्ष को तृणवत् समझने वाली है, धीरोद्धत चाल पृथिवी को झुका-सी दे रही है, कुमारावस्था में भी पर्वत के समान गौरव को धारण करता हुआ यह साक्षात् वीर रस ही आ रहा है अथवा दर्प ॥"

३—माधुर्य

अब माधुर्य (नामक नायक के तीसरे सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही)है—

अत्यन्त महान् संक्षोभ (great agitation) **उत्पन्न होने पर भी मधुर विकार का उत्पन्न होना माधुर्य कहलाता है ।**

विकार के महान् हेतु (संक्षोभ) के रहने पर भी मधुर विकार होना माधुर्य कहा गया है । जैसे (हनुमन्नाटक १।१९ में)—

विलासं लक्षयति—**गतिरिति** । विलासे सात्त्विके गुणे सति पुरुषस्य **दृष्टिः** = विलोकनम्, **सधैर्या**—चाञ्चल्यरहिता, **गतिः** = गमनम्, **च** = अपि, सधैर्येत्यन्वयः, **वचः** = वचनम् **सस्मितम्** = स्मितेन = ईषद्धास्येन सहितं सस्मितं भवतीति शेषः ॥

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥ ९६ ॥'

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥ १२ ॥

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् ।

यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥ ९७ ॥'

अथ स्थैर्यम्—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

"रघुकुल के तिलक (परिवृढः) राम हस्ति-शावक के दाँतों की कान्ति का हरण करने वाले जानकी के गण्डस्थल में मुस्कराहट से युक्त तथा कपोलस्थल पर उभरे हुए रोमाञ्च से युक्त अपने मुखकमल को बार-बार देखते हुए तथा राक्षस-सेना के कल-कल को सुनते हुए जटाजूट की ग्रन्थि को कस रहे हैं ॥"

४—गाम्भीर्य

अब गाम्भीर्य (नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

जिस (गुण) के प्रभाव से (चेहरे पर मानसिक) विकार नहीं दिखलाई पड़ता वह गाम्भीर्य कहलाता है ॥१२॥

मृदु विकार की उपलब्धि से विकारों की अनुपलब्धि भिन्न होती है, अतः माधुर्य से गाम्भीर्य भिन्न है । जैसे (राम के प्रति कहा गया है)—

"अभिषेक के लिए बुलाकर वन के लिए भेजे गये राम में मुझे जरा भी विकार (परिवर्तन) नहीं दिखलाई पड़ा ॥"

५—स्थैर्य

अब स्थैर्य (नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

विघ्न-समूह से भी (अर्थात् विघ्नों का पहाड़ टूटने पर भी) निश्चय से (अर्थात् आरम्भ किये गये कार्य से) विचलित न होना स्थैर्य है ।

जैसे (वीरचरित (३।८) में परशुराम विश्वामित्र से कह रहे हैं)—

माधुर्यं लक्षयति—**संक्षोभ इति । संक्षोभे** = उद्वेगकारणे, महद्विकारहेतावित्यर्थः, **श्लक्ष्णः** = सुकोमलः ॥ गाम्भीर्यं लक्षयति—**गाम्भीर्यमिति । यत्प्रभावेन**—यस्य गुणस्य प्रभावेन, **विकारः** = चित्तक्षोभः, नोपलक्ष्यते तद्गाम्भीर्यमिति ॥

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ ९८ ॥'

अथ तेजः—

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३ ॥

यथा—

'ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥ ९९ ॥'

अथ ललितम्—

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः, तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा ममैव—

"आप पूज्य जनों का मैंने अतिक्रमण किया है, अतः प्रायश्चित्त कर लूँगा। किन्तु (अपने) शस्त्र-ग्रहण रूप महाव्रत को इस तरह दूषित न होने दूँगा ॥"

६—तेज

अब तेज (नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

प्राणों के विनाश होने की स्थिति में भी (अर्थात् प्राणों की बाजी लगा कर भी) तिरस्कार आदि को न सहन करना तेज कहलाता है ॥१३॥

"बतलाओ (तो सही कि), ये मनस्वी व्यक्ति कुम्हड़े की बतियों (नवीन फलों) के क्या लगते हैं ? जो ये अँगुली दिखलाने मात्र से ही जीवित नहीं रहते (अर्थात् जैसे अँगुली दिखलाने पर कुम्हड़े की बतिया मर जाती है, उसी तरह मनस्वी जन भी दूसरे लोगों के अँगुलीदर्शन आदि इशारों पर नहीं जीते हैं) ॥"

७—ललित

अब ललित (नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

शृङ्गार के अनुकूल सहज तथा मृदु (कोमल) चेष्टाओं को करना ही ललित कहा गया है ।

स्वाभाविक (अर्थात् सहज) शृङ्गार मृदु होता है। स्वाभाविक शृङ्गार चेष्टा ही ललित कहलाती है। जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—

स्थैर्यं निरूपयति—व्यवसायादिति । विघ्नानाम् = प्रत्यवायानम् कुलात् = समूहात्, अपीति दार्ढ्यें, व्यवसायात् = उद्यमात् निश्चयाद्वा, आरब्धकर्मण इत्यर्थः, **अचलनम्** = अप्रच्यवनम् , स्थैर्यमिति । तेजो निरूपयति—**अधिक्षेपादीति । प्राणात्ययेऽपि** = जीवननाशसम्भावनेऽपि, **अधिक्षेपाद्यसहनम्**—अधिक्षेपादीनाम् = भर्त्सनादीनाम् , आदिपदेन अन्यकारकापमानादीनां बोधः, असहनं तेजः इति ॥

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥ १०० ॥

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥ १४ ॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥ १०१ ॥'

सदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुः ॥ १०२ ॥'

"हे सखि, (वह नायक) सौन्दर्य तथा कामचेष्टा के स्वाभाविक सुकोमल एवं मनोहर स्फुरण के द्वारा (अर्थात् क्रिया-कलाप के द्वारा) जिस प्रकार मुझमें असह्य सन्ताप उत्पन्न करता है, उसी तरह, जो मुझे उपदेश देने वाला है, उसके हृदय में भी विषम ताप नहीं उत्पन्न कर सकता है क्या ? (अर्थात् उस नायक की सुन्दरता-सुकुमारता तथा मनोहरता ऐसी है कि वह मुझे ही कामपीडित नहीं करता, बल्कि किसी भी देखने वाली सुन्दरी के मन को सन्तप्त कर सकता है ॥"

८---औदार्य

अब औदार्य (नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा दी जा रही) है—

(१) प्रिय वचनों के साथ जीवन भर दान देना तथा (२) सज्जनों को (अपने आचरण से) अपना बना लेना ही औदार्य (नामक सात्त्विक गुण) है ॥१४॥

(१) प्रिय वचन के साथ जीवनपर्यन्त दान देना तथा (२) सज्जनों का (अनुकूल) संग्रह ही औदार्य है । जैसे नागानन्द (५।१६) में (जीमूतवाहन कह रहा है)—

हे गरुड, मेरी धमनियों के अग्रभाग से रक्त बह ही रहा है, मेरे शरीर में अभी अब भी मांस है ही तथा आपकी तृप्ति भी नहीं दिखलाई पड़ती है, तो फिर मांस-भक्षण से आप क्यों विरक्त हो गये ?"

[यहाँ जीमूतवाहन का जान रहने तक दान देने की बात का वर्णन है । इससे उसके औदार्य की अभिव्यक्ति होती है ।]

सज्जनों को अपना बना लेने का उदाहरण यह है जैसे—

"यह हम लोग हैं, ये स्त्रियाँ हैं, कुल का जीवनभूत यह लड़की है; इनमें से किससे तुम्हारा कार्य (सिद्ध होता) है, बतलाओ । बाहरी वस्तुओं में हमारी आस्था नहीं है (अतः हम सहर्ष इन्हें आपको सौंप सकते हैं ॥")

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री परसाधारण-स्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

शीलं = सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एन्ते ॥ १०३ ॥'

('कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ॥')

नायिका-भेद

अब नायिका (का भेद के सहित वर्णन किया जा रहा) है—

उस (नायक) के (सामान्य) गुणों से युक्त नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) स्वकीया (२) परकीया तथा (३) साधारण स्त्री (वेश्या आदि) ।

"तद्गुणा" का अर्थ है—नायिका नायक के कहे गये सामान्य गुणों से यथासंभव युक्त हुआ करती है । वह (नायिका) अपनी स्त्री, दूसरे की स्त्री तथा साधारण स्त्री के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

१—स्वकीया

उन (तीन प्रकार की नायिकाओं) में स्वकीया का विभाग के सहित साधारण लक्षण बतला रहे हैं—

स्वकीया नायिका शील तथा नम्रता से युक्त होती है, (यह स्वकीया का सामान्य लक्षण हुआ) यह (१) मुग्धा (२) मध्या तथा (३) प्रगल्भा—इस भेद से तीन तरह की होती है ॥१५॥

शील अर्थात् अच्छा आचरण । अतः स्वकीया नायिका पतिव्रता, सरला, लज्जा-वती तथा पति की सेवा में निपुण होती है ।

इनमें शीलवती (का उदाहरण) जैसे—

"सुन्दर कुल में उत्पन्न युवती के यौवन, सौन्दर्य, विभ्रम तथा विलास को देखिये । प्रिय के विदेश चले जाने पर (उसके यौवनादि) मानो (स्वयं भी) विदेश चले जाते हैं तथा उसके घर आ जाने पर मानों (वे भी) वापस घर आ जाते हैं ॥"

नायकभेदं निरूप्याधुना नायिकाभेदं निरूपयति—**स्वान्येत्यादिना । तद्गुणा**—तस्य = नायकस्येत्यर्थः गुणाः = सामान्यगुणाः ते सन्त्यस्यामिति तदगुणा, नायकगुणानां मध्ये दक्षतेत्यादीनां त्रयाणमेव नायिकायामनभिलषितमत एव दक्षतादयो नायकस्यैव सात्त्विका गुणाः निरूपिताः । **अन्या** = परकीया । **साधारणी** = सर्वोपभोग्या वेश्यादिः ॥

आर्जवादियोगिनी यथा—

'हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअम् ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणम् ॥ १०४ ॥'
('हसितमविचारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ॥')

लज्जावती यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥ १०५ ॥'
('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥')

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेदात्त्रिविधा ।

तत्र—

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

सरलता आदि से युक्त (स्वकीया नायिका) का उदाहरण जैसे—

"भाग्यशाली जनों के घर में नारियों की हँसी स्वभावतः भोलेपन से युक्त, गति-विलास (नाजनखरे) से रहित होने पर भी शोभायुक्त तथा बात-चीत स्वभावतः सरल हुआ करती है ॥"

लज्जावती का उदाहरण जैसे—

"भाग्यशाली जनों के घरों की नारियाँ लाजरूपी पर्याप्त आभूषणों से युक्त हुआ करती हैं (अर्थात् विशेष लज्जावाली हुआ करती हैं), पर-पुरुषों से (काम-क्रीड़ा के द्वारा होने वाली) तृप्ति के प्रति अभिलाषा नहीं रखती हैं तथा उद्दण्डता से रहित होती हैं ॥"

और वह इस प्रकार की (स्वकीया नायिका) क—मुग्धा, ख—मध्या तथा ग—प्रगल्भा के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

क—मुग्धा नायिका

उनमें—

जो अवस्था तथा कामवासना—दोनों ही दृष्टियों से नवीन होती है, जो रति-क्रीडा से कतराती रहती है और जो क्रोध करने में भी कोमल होती है, वह मुग्धा नायिका है ।

यौवन तथा काम-वासना की प्रथम अवतारणा से युक्त, रमण से कतराने वाली तथा क्रोध में कोमल (अर्थात् क्रोध करने के बाद मनाने पर आसानी से मान जाने वाली) होती है, वह मुग्धा नायिका है ।

'विस्तारो स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥ १०६ ॥'

यथा च ममैव—

'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखामाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥ १०७ ॥'

काममुग्धा यथा—

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥ १०८ ॥'

रतवामा यथा—

उनमें वयोमुग्धा यह है, जैसे—"यह स्तन-भार बढ़नेवाला है, किन्तु अभी अपनी भरपूर उन्नति को नहीं प्राप्त हुआ है। यह त्रिवलि (पेट की तीन रेखाएँ) रेखाओं से प्रकट तो हो रही हैं, किन्तु अभी स्पष्ट रूप से ऊँची-नीची नहीं हुई है। इसके (उदर के मध्य में सीधी, विस्तृत तथा आधी कपिश वर्ण की रोमपंक्ति बन गई है। इस प्रकार यौवन और शैशव के संसर्ग से मिश्रित इसकी रमणीय अवस्था है ॥"

[यहाँ नायिका की नवीन आ रही तरुणाई का वर्णन किया गया है।]

और जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही (पद्य) है—"इसके दोनों स्तन, जिनके मण्डल के किनारे की रेखाएँ उभर रही हैं तथा जो कली बाँध रहे हैं (अर्थात् कली का रूप धारण कर रहे हैं), वक्षःस्थल की वृद्धि की अपूर्णता को बतला रहे हैं ॥"

[यहाँ स्तनों के उभार के वर्णन से यौवन की अवतारणा सूचित होती है]

काममुग्धा यह है, जैसे—

"(अब यह) बाला अलसाई आँखों को धारण करती है (अर्थात् अब इसकी दृष्टि पहले की तरह चञ्चल न होकर अलसाई रहती है), बच्चों की क्रीडा में अभिरुचि नहीं रखती है, सखियों के द्वारा की जा रही सम्भोग की बातों में कानों को लगाती रहती है, पहले की भाँति अब पुरुषों की गोद में निःशंक होकर नहीं बैठ जाती है। इस प्रकार यह (बाला) धीरे-धीरे नव-यौवन के संसर्ग से संयुक्त हो रही है ॥"

यहाँ नायिका में शनैः शनैः होने वाले काम के सञ्चार का वर्णन किया गया है]

सुरत-क्रीडा में वाम (विपरीत) नायिका यह है, जैसे (कुमारसंभव ८।२)

नववयःकामा—नवौ = प्रथमावतीर्णौ वयःकामौ = तारुण्यमदनविकारौ यस्यां तादृशी। **रतौ** = रमणे, **वामा** = विपरीता, **क्रुधि** = कोपे, मृदुः = सुखोपायप्रसादना **मुग्धा** = अनभिज्ञात-रतिसुखोपचर्या। मुग्धत्वस्य कामोत्तेजकत्वात्प्रथमोपन्यासोऽत्र ज्ञेयः ॥

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ १०९ ॥'

मृदुः कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥ ११० ॥'

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः, यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते ।
न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥ १११ ॥'

"(शङ्कर के द्वारा कुछ) कहने पर (पार्वती ने) उत्तर न दिया । वस्त्र पकड़ने पर (वे वहाँ से) जाने के लिए तत्पर हो गईं । (शङ्कर के साथ वे) दूसरी ओर मुख करके शय्या पर सोती थीं । फिर भी वे शङ्कर को आनन्द प्रदान करने वाली थीं ॥"

[इस श्लोक में पार्वती की रति-क्रीडा के प्रति विमुखता वर्णित की गई है ।]

कोप में मृदु यह है, जैसे—

"(पति के दूसरी स्त्री के साथ रमण करने पर) पहले पहल के उत्पन्न कोप में वह बाला बिगड़ना नहीं जानती थी । भुजाओं को नीचे किये हुई, किसी प्रकार की बनावटी शृङ्गार-चेष्टाओं से अनभिज्ञ, रोती हुई वह बाला उस धूर्त-चरितवाले नायक के द्वारा (अपनी) गोद में खींच कर (उसकी) ठोढी और मस्तक को ऊपर उठाकर आँसुओं से भीगे ओठ पर चूम ली गई ॥"

[इस श्लोक से यह प्रकट होता है कि नायिका मुग्धा है और वह मान करना नहीं जानती है । यदि उसने कुछ थोड़ा मान किया भी तो वह धूर्त नायक के द्वारा आसानी से प्रसन्न कर ली जाती है ।]

इसी प्रकार लज्जा से संवृत अनुराग वाली मुग्धा की अन्य चेष्टाओं का वर्णन करना चाहिए । जैसे—

"(यह) बाला (पान-पात्र में प्रियतम की परछाई देखने के) बीच में पुष्प के संस्कार को भी (अर्थात् छोटे से छोटे विघ्न को भी) सहन नहीं करती, सुन्दर भौंहों वाली वह अपने श्वास के द्वारा (पेय वस्तु में) तरङ्गों के विघ्न को भी नहीं उत्पन्न करती, वह नव-परिणीता प्रियतम के आनन की परछाई को (पेय वस्तु में) चित्रित-

---

लज्जासंवृतानुरागनिबन्धनाः—लज्जया = व्रीडया संवृतः = आच्छादितो योऽनुरागः = पतिविषयकः प्रेम तन्निबन्धनाः = तत्कारणाः व्यवहारा वर्णनीयाः ।

अथ मध्या—

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तयातं
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ॥ ११२ ॥'

सा देखती है, उसे रोमाञ्च उत्पन्न हो गया है तथा वह न तो (पेय वस्तु को) भी पी ही रही है और न पात्र को हिला ही रही है ॥"

विशेष—नायिका अभी-अभी विवाहित होकर पति-गृह आई है। प्रियतम को देखने की उत्कण्ठा उसे विह्वल बना रही है। सुरा से भरा हुआ पात्र उस सुन्दरी के हाथ में पकड़ा दिया गया है। उसने यह देखने का साहस भी न किया कि इस पात्र का उदार दाता कौन है। पात्र की स्वच्छ सुरा में उसे एक प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ा। जरा ध्यान से देखने पर प्रतीत हुआ कि यह वह ही होगा। इसके लक्षण इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। वह तन्मय हो उसे देखने में संलग्न हैं। बस कवि इसी बात का वर्णन यहाँ कर रहा है।

(२) मध्या—

अब मध्या (नायिका) का लक्षण यहाँ दिया जा रहा है—

जिसमें जवानी और काम (के आवेग) उदित हो रहे हैं और जो मूर्च्छित हो जाने तक रति-क्रीडा करने में समर्थ है—वह मध्या नायिका है ॥१६॥

मध्या (नायिका) वह है जिसमें तरुणाई तथा काम सवार हो चुके हैं और जो मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रमण कर सकती है।

उनमें यौवन से युक्त (नायिका यह है) जैसे—

"उसके भ्रूविलास ने वार्तालाप को कम कर दिया है, उसकी चाल हाथों की मटकान से सुशोभित होती है, मध्य भाग में नीचा नितम्ब अपनी विशालता से नीवी की गाँठको तनिक शिथिल कर रहा है, इसके कुचों का अग्रभाग विकसित हो रहे (वक्षस्थल) के पार्श्वभाग से समृद्ध हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही अन्तःकरण में पधारे हुए कामदेव ने अपने धनुष की कोर से मृगशावकनयनी की यौवन-शोभा का स्पर्श कर दिया है ॥"

[इस वर्णन के द्वारा यह प्रतीत होता है कि नायिका यौवन की शोभा से सम्पन्न हो रही है तथा इसका सौन्दर्य कामोद्दीपक है]

मध्यां नायिकां निरूपयति—**मध्येत्यादिना**। **उद्यद्यौवनानङ्गा**—उद्यतौ = अधिरूढावित्यर्थः यौवनानङ्गौ = तारुण्यकामौ यस्या यस्यां वा तादृशी, **मोहान्तसुरतक्षमा**—मोहान्तम् = अचेतनावस्थां यावत् सुरते = रमणे क्षमा = समर्था मध्या भवति। इति मध्यालक्षणं कथितम्।

कामवती यथा—

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्याराद‌पूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥ ११३ ॥'

मध्यासम्भोगो यथा—

'ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ॥ ११४ ॥'
('तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥')

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

अथास्या मानवृत्तिः—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्याः मध्या, साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

काम (के आवेश) से युक्त नायिका यह है, जैसे—

"कामरूपी नवीन नदी के प्रवाह में बहते हुए प्रेमीजन यद्यपि गुरु (जन) रूपी बाँध के द्वारा अवरुद्ध अतः अपूर्ण मनोरथ होकर निकट में ही स्थित हैं, तथा चित्र-लिखित-से अङ्गों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख होकर नेत्ररूपी कमलनाल से खींचे गये रस को पी रहे हैं ॥"

[यहाँ प्रेमियों की विशेषतः प्रेमिका की, काम-भावना का वर्णन किया गया है ।]

मध्या की रति-क्रीडा इस प्रकार होती है, जैसे—रतिकाल के समय स्त्रियों की काम चेष्टाएँ तभी तक शोभित होती है, जब तक कि नीलकमल की पँखुड़ी के समान निर्मल कान्ति वाले (उनके) नेत्र मुकुलित नहीं हो जाते ॥

[इस वर्णन के द्वारा नायिका की मूर्च्छावस्था तक रति की क्षमता प्रकट होती है ।]

इसी तरह धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण दिया जा सकता है ।

विशेष—कोप के समय मध्या नायिका के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन रूप पाये जाते हैं । कोप में मृदु = 'कोपे मृदुः, तथा आसानी से मनाने योग्य = सुखोपायप्रसादना' होने के कारण मुग्धा नायिका में इस तरह का कोई भेद नहीं पाया जाता ।

अब इस (मध्या नायिका) के मान-व्यवहार (का दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा) है,—

मध्या धीरा ताने से युक्त वक्रोक्ति के द्वारा, धीराधीरा आँखों में आँसु भर कर ताने सहित वक्रोक्ति के द्वारा तथा अधीरा क्रोधपूर्वक कठोर वचनों से अपराध करने वाले (अर्थात् अन्य नायिका के पास जाकर लौटे हुए) प्रियतम का दिल दुखाती है ॥ १७॥

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्। यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम्।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥ ११५ ॥'

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ ११६ ॥

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम्, यथा—

मध्या धीरा अपराध करने वाले प्रियतम को ताने के सहित वक्रोक्ति के द्वारा खिन्न करती है। जैसे, माघ काव्य (७।५३) में—

[रसिक नायक समूची यामिनी को किसी अन्य कामिनी के पास व्यतीत कर सूर्य की प्रथम किरणों के साथ घर लौटा है। ज्येष्ठा नायिका नाराज न हो, अतः वह उसे प्रसाधनार्थ एक सुकोमल पल्लव युक्त टहनी देता है। उसकी इस चातुरी पर हृदय में सुलगती हुई वह कहती है—]

"निश्चय ही हम इस दान के पात्र नहीं हैं, जो वह एकान्त में तुम्हारा पान करती तथा रक्षा करती है, जाओ, इस टहनी को उसी को दे दो; जिससे इन दोनों समान वस्तुओं का चिरकाल के लिये संयोग हो जाय॥"

विशेष—विटप शब्द के दो अर्थ होते हैं १—टहनी, डाली, २—विट अर्थात् कामुक या उपपति का पान या रक्षा करने वाली।

धीराधीरा आँखों में आँसू भर कर फटकार-गर्भित वक्रोक्ति के द्वारा (अपराध युक्त प्रियतम को खिन्न (अर्थात् परेशान) करती है। जैसे अमरुशतक (५७) में—

"(नायक)—बाले, (नायिका)—नाथ, (नायक)—मानिनी (तुम) कोप को छोड़ दो। (नायिका) कोप से मैंने (आपका) क्या दिगाड़ लिया ? (नायक) —हमारे भीतर खेद उत्पन्न कर दिया, (नायिका)—आपने मेरे प्रति कोई अपराध नहीं किया है, सब मेरे ही अपराध हैं। (नायक)—तो फिर हिचकियाँ भर कर क्यों रो रही हो ? (नायिका)—किसके सामने रो रही हूँ ? (नायक)—अरे, यह मेरे ही (सामने रो रही हो), (नायिका)—मैं आपकी कौन होती हूँ (जो कि आपके सामने रोऊँगी) ? (नायक)—प्राणवल्लभा (हो), (नायिका)—(आपकी प्राणवल्लभा) नहीं हूँ, यही कारण है कि रो रही हूँ ॥"

अधीरा (नायिका) आँखों में आँसू भर कर कठोर वचनों से (अपराधी नायक को फटकारती है), जैसे—

[**विशेष**—नायक नवीन प्रेमिका के पास रात बिताकर नायिका के पास आया

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥ ११७ ॥

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भः कणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।
दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय-
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ॥ १८ ॥

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः ।

है । काम की गर्मी से उबलती हुई नायिका उसे खूब खरीखोटी सुनाती है । खिन्न हो वह वापस जाने लगता है । बिगड़ती हुई इस अवस्था को देख कर नायिका की सखी उसे मनाने का प्रयास करती है । इस पर नायिका कहती है—]

"हे सखि, इसे जाने दो, जाने दो, इसके रुकने से क्या (लाभ) ? छोड़ो-छोड़ो, इसका आदर मत करो । (दूसरी रमणी के द्वारा) काटे गये ओष्ठ से कलङ्कित प्रिय को हम (फूटी) आँखों से (भी) देख नहीं सकतीं ॥"

इसी तरह अन्य भी व्यवहार मध्या नायिका के होते हैं, जो लज्जारूपी आवरण से ढके नहीं होते तथा (सुरत व्यापार में) स्वयं नायिका की ओर से उसकी प्रवृत्ति न कराने वाले होते हैं । अर्थात् काम के आवेग से मतवाली होती हुई भी नायिका अपनी ओर से सम्भोगार्थ चेष्टा न करके चाहती है कि नायक स्वयं पहले हठात् काम-व्यापार आरम्भ करे) । जैसे—

"(काम के आवेग से) मुख के पसीनों की बूँदों से व्याप्त होने पर भी, (शरीर पर) रोमाञ्चों के निकल आने पर भी, (एकान्त होने से) पूरी निश्चिन्तता होने के कारण विशाल पयोधरों के कम्पन के बढ़ जाने पर भी, हृदय के दुर्निवार काम से व्याप्त हो जाने पर भी (उस) कृशाङ्गी के द्वारा (उसका) प्रिय काम-व्यापार में नहीं लगाया गया, यद्यपि वह हठात् केशकर्षण तथा गाढ़ आलिङ्गन रूपी अमृत की लालची थी (अर्थात् जबर्दस्ती आलिङ्गन कराने की प्रबल इच्छुक थी) ॥

हठात् बाल पकड़ कर खींचने तथा आलिङ्गन रूप अमृत के विषय में प्रबल अभिलाषा से युक्त-सी उस नायिका के द्वारा (प्रियतम पकड़ कर के नहीं आलिङ्गित किया गया)—इस उत्प्रेक्षा की प्रतीति से (नायिका का) स्वतः संयोगार्थ उद्योग न करना सिद्ध होता है ।

व्रीडानुपहिताः—व्रीडया = लज्जया अनुपहिताः = अनाच्छादिताः, स्फुटा इति यावत्, **स्वयमनभियोगकारणः**—स्वयम् = नायिकयेत्यर्थः अभियोगे = सम्भोगचेष्टायां कारणाः = हेतवः तादृशा न भवन्तीति सुरते स्वकीय (मध्या) प्रवृत्त्यप्रयोजकाः । प्रियः स्वयमेव सुरतकर्मणि प्रवर्तेतेति मध्या समीहते ॥

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्के ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनुरतीवगुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥ ११९ ॥'

यथा च—

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥ १२० ॥'

भावप्रगल्भा यथा—

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥ १२१ ॥'

३—प्रगल्भा

अब प्रगल्भा (का लक्षण किया जा रहा) है—

प्रगल्भा नायिका वह है, जो जवानी से अन्धी-सी, काम से उन्मत्त-सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अङ्गों में प्रविष्ट होती हुई-सी तथा रति-क्रिया के आरम्भ में भी चेतना विहीन हो जाती है ॥१८॥

गाढ जवानी वाली (अर्थात् जवानी में अन्धी-सी) यह है, जैसे मेरा (धनिक का) उदाहरण है—

"उस अद्भुत जवानी वाली का वक्षःस्थल उभरे स्तनों वाला है, नेत्र विशाल हैं, भौंहें टेढ़ी हैं, वचन तो उनकी अपेक्षा भी अधिक टेढ़े हैं, कटि भाग अत्यन्त पतला है तथा नितम्ब अति विशाल एवं चाल विलक्षण ढंग से मन्द है ॥"

और भी जैसे—

"यह स्तन-तट काफी उभरा हुआ है, मध्य-भाग नीचा है, तथा जघन-स्थल पर्याप्त ऊँचा है, इस प्रकार मृगशावकनयनी के नीचे-ऊँचे इस नवीन शरीर में कौनसा (व्यक्ति) स्खलित न होगा ॥"

विशेष—"सावधान से सावधान व्यक्ति के भी ऊँची-नीची भूमि कर फिसलने की आशङ्का बनी ही रहती है। ठीक इसी प्रकार गाढे यौवन से गठित रमणी के इस निम्नोन्नत शरीर पर सतर्क से भी सतर्क व्यक्ति के फिलने की सम्भावना है,"—यह है" 'विषये·····न स्खलति' का अभिप्राय।

भाव प्रगल्भा (अर्थात् भावों में प्रगल्भा यानी स्मरोन्मत्ता यह है) जैसे—

"(कोई नायिका अपनी सखी से कह रही है) प्रियतम के सामने आने पर तथा

रतप्रगल्भा यथा—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्-
वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः॥ १२२॥

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणा वैदग्ध्यप्रायाः प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्याः। यथा—

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः' ॥ १२३ ॥

अथास्याः कोपचेष्टा—

प्रिय वचन बोलने पर न जाने क्यों मेरे सम्पूर्ण अवयव ही नेत्र बन जाते हैं अथवा श्रोत्र बन जाते हैं (अर्थात् प्रियतम के पास आकर प्रियवचन बोलने पर मैं सब ओर उन्हें ही देखती हूँ और सर्वत्र उनकी ही वाणी सुनती हूँ) ॥"

रत-प्रगल्भा (रमण कार्य में लीन, अचेत हो जाने वाली) यह है, जैसे (अमरुशतक १०१ में नायिका अपनी सखी से कह रही है)—"प्राणवल्लभ के शय्या पर आते ही (मेरी साड़ी की) गाठ का बन्धन स्वयं ही खुल गया, ढीली हो गई करधनी की लड़ी से रोका गया वस्त्र भी किसी तरह थोड़ा-सा नितम्ब पर ही ठहरा रहा। हे सखी, मैं तो केवल इतना ही भर जानती हूँ। तदनन्तर उनके अङ्गों के सम्पर्क में आने पर तो "वह कौन हैं", "मैं क्या हूँ" तथा "किस तरह रमण किया गया" इत्यादि किसी भी बात की स्वल्प भी स्मृति मुझे नहीं रही ॥"

इसी प्रकार और भी प्रगल्भा के व्यवहारों को जानना चाहिये। उसके इन व्यवहारों में लज्जा की बेड़ी हटा दी जाती है तथा विदग्धता की अधिकता रहती है। जैसे अमरुशतक (१०७) में—

"प्रच्छदपट (बिछाने की चादर) नायिका की सब प्रकार की रति-क्रीडा को (अर्थात् रमण के समय धारण किये गये सब तरह के आसनों को) प्रकट कर रहा है—वह कहीं पान के रंग से रँगा हुआ है, कहीं अगर के धब्बों से मलिन है, कहीं गन्ध के चूर्णों से भरा हुआ है और कहीं महावर लगे पैरों के चिह्नों से युक्त है तथा कहीं केशों से गिरे हुए मसल गये (मृदित) पुष्पों से अलंकृत है ॥"

विशेष—इस पद्य में कामशास्त्रोक्त कई—धेनुक तथा विपरीत आदि—आसनों की ओर सङ्केत कर नायिका की लज्जाहीनता आदि को दर्शाया गया है, क्योंकि लज्जा के आवरण के रहने पर काम-क्रीडा में कामिनी का सर्वविध सहयोग नहीं मिल सकता।

अब इस (प्रगल्भा) की कोपचेष्टा (का प्रकार बतलाया जा रहा) है—

सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा।
सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ १९॥

सहावहित्थेन = आकारसंवरणेनादरेण च = उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्था-दरा, रतावुदासीना क्रुधा कोपेन भवति।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः' ॥ १२४ ॥

रतावुदासीना यथा—

धीरा प्रगल्भा अवहित्था (अर्थात् आकार-संवरण) एवं अत्यधिक आदर के साथ व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति-क्रिया में उदासीन रहती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध के साथ (अपराधी नायक को) धमका कर मार देती है। धीराधीरा (मध्या) प्रगल्भा धीराधीरा मध्या के समान उस (नायक) से बात-चीत करती है ॥१९॥

सावहित्थादरा उसे कहते हैं जो आकार को छिपा कर (अर्थात् हँसी आदि के द्वारा आकार पर झलकते क्रोध आदि वास्तविकता को छिपाकर) अत्यधिक बनावटी (औपचारिक) आदर के साथ व्यवहार करती है। (वह) कोपवश रति-क्रीडा में उदासीन रहती है (अर्थात् प्रेमी के साथ सहयोग नहीं करती है)।

सावहित्थादरा यह है, जैसे अमरुशतक (१८) में—[नायक अपराध करके अर्थात् प्रेमिका के साथ रमण आदि करके नायिका के पास आया है। नायिका अपने कोप को बड़ी ही चतुरता के साथ प्रकट करती है। उसका कोप नायक को तो ज्ञात हो जाता है पर वह (कोप) पूर्ण रूप से प्रकट भी नहीं हो पाता है। इसी भाव को अगले पद्य में प्रकट किया गया है।]

"(आते हुए नायक की) दूर से ही अगवानी करके एक आसन पर (साथ-साथ) बैठने को बचा दिया, पान लाने के बहाने से (नायक के द्वारा प्रारम्भ) वेगपूर्वक आलिङ्गन में भी विघ्न कर दिया, (नायक के) पास सेवक-सेविकाओं को काम में लगाती हुई उसने (नायक से) बात-चीत भी न की। (इस तरह) प्रियतम के प्रति औपचारिकता के द्वारा उस (प्रगल्भा) चतुर नायिका ने अपना कोप सफल कर लिया॥"

रति में उदासीन यह है, जैसे (अमरुशतक १०६ में नायक नायिका के प्रति सोचता है)—

सावहित्थादरा—अवहिः स्थितिरित्यवहित्था, आकारस्य शोकादिजनितमुखम्लानादेर्गोपनम् ("अवहित्थाकारगुप्तिः" इत्यमरः) आदरः = सम्मानना ताभ्यां सहितेति तादृशी। क्रुधा = कोपेन, अन्यनायिकया सह प्रियतमस्य रतिव्यवहारं ज्ञात्वा कोपेनेत्यर्थः।

'आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः' ॥ १२५ ॥

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति। यथाऽमरुशतके—

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन्' ॥ १२६ ॥

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या। यथा तत्रैव—

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः' ॥ १२७ ॥

"थकी हुई सी वह वस्त्र खिसकाने पर पहले की तरह नोक-झोंक (कलह) नहीं करती है, केश-ग्रहण के समय भृकुटियाँ टेढ़ी करके अधर को नहीं काटती है। (अपने) अङ्गों को स्वयं अर्पित कर देती है तथा जबर्दस्ती आलिङ्गन करने पर विरोध (भी) नहीं करती है। तन्वी (नायिका) ने इस समय (न जाने) कहाँ से यह अनूठा कोप का तरीका सीख लिया है? ॥"

दूसरी अर्थात् अधीर प्रगल्भा तो कुपित हो जाने पर धमका कर मारती भी है। जैसे अमरुशतक (पद्य ९) में (कवि कहता है)—

"रोती हुई प्रियतमा के द्वारा, कोपवश कोमल काँपती हुई (अपनी) बाहुलता के पाश से प्रियतम को दृढता के साथ बाँध कर सायंकाल रमण-भवन में लाकर सखियों के सामने ही "फिर भी ऐसा ही (करोगे)" इस प्रकार की लड़खड़ाती सुरीली वाणी से उसके अपराध को सूचित कर के, (अपने अपराध को) छिपाने में तत्पर हँसता हुआ सौभाग्यशाली वह प्रियतम पीटा गया ॥"

धीराधीरा प्रगल्भा धीराधीरा मध्या की तरह उस (नायक) से ताना पूर्ण बक्रोक्ति के साथ बातें करती है। जैसे वहीं (अमरुशतक ३८ में नायिका नायक से कह रही है)—

"जिस प्रेम में (कभी) भौंहें टेढ़ी करना (ही) कोप था; मौन ही दण्ड था, एक-दूसरे के प्रति मुसकाना ही अनुनय था, देखना ही प्रसन्नता थी देखो तो उस प्रेम का अब यह कैसा विनाश हुआ हैं कि तुम मेरे पैरों की उँगलियों पर लोट रहे हो और मुझ दुष्टा का कोप ही नहीं दूर हो रहा है ॥"

पुनश्च—

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति। मुग्धा त्वेकरूपैव। ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति' ॥ १२८ ॥

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्तथोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे। एषां च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीरप्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठा-कनिष्ठाभेदाद् द्वादशानां वासवदत्तारत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्त्तव्यानि।

और भी—

(मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाएँ) दो तरह की होती हैं—ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा। इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाएँ बारह प्रकार की कही गई हैं (अर्थात् मुग्धा के अलावा दूसरी नायिकाएँ—तीन तरह की मध्या तथा तीन तरह की प्रगल्भा—ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा इस प्रकार दो तरह की होती हैं—इस तरह कुल मिला कर ये बारह १२ प्रकार की होती हैं) ॥

मध्या तथा प्रगल्भा (नायिका के इन) भेदों में प्रत्येक के ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा के भेद से (दोनों के) के कुल बारह भेद हो जाते हैं। मुग्धा नायिका तो एक ही प्रकार की होती है। ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा (का उदाहरण) जैसे अमरुशतक (१९) में (कवि वर्णन कर रहा है)

"एक (ही) आसन पर बैठी हुई (ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा) दोनों प्रियतमाओं को देख कर आदरपूर्वक पीछे से जा कर क्रीडा करने के बहाने से एक (अर्थात् ज्येष्ठा नायिका) की आँखें ढँक कर रोमाञ्चित उस धूर्त (नायक) ने (अपनी) गर्दन को कुछ टेढ़ी करके प्रेम से हुलसते हुए हृदय वाली तथा आन्तरिक हास से सुशोभित कपोलतल वाली दूसरी (अर्थात् कनिष्ठा नायिका) को चूम लिया ॥"

इन दोनों के साथ क्रमशः दाक्षिण्य और प्रेम से युक्त ही व्यवहार होता है, ऐसी बात नहीं है (अर्थात् नायक का ज्येष्ठा के प्रति केवल दाक्षिण्य का ही व्यवहार पाया जाता हो और प्रेम कनिष्ठा के प्रति हो, ऐसा मानना उचित न होगा) बल्कि (नायक का ज्येष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार देखा जाता है। और (उसका) यह (प्रेम ज्येष्ठा नायिका के प्रति) जैसे होता है, यह दक्षिण नायक के लक्षण के अवसर पर ('सहृदयत्वेन शठाद् विशेषः' इत्यादि) बतलाया जा चुका है।

इन धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या तथा धीर-प्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा एवं

अथान्यस्त्री—

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः' ॥ १२९ ॥

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति प्रपञ्चिता ।

धीराधीर प्रगल्भा में प्रत्येक भेद के जेष्ठा और कनिष्ठा—दो भेद—होने से सब बारह १२ भेद होते हैं। इन भेदों का रत्नावली आदि प्रबन्ध की वासवदत्ता (ज्येष्ठा नायिका) तथा रत्नावली (कनिष्ठा नायिका) आदि के रूप में महाकवियों के प्रबंधों में उदाहरण खोज लेना चाहिए।

विशेष—मुग्धा नायिका का एक भेद तथा मध्या नायिका के बारह भेदों को मिला कर स्वकीया नायिका के इस प्रकार १३ तेरह भेद होते हैं।

अब परकीया (अन्य स्त्री का लक्षण बतलाया जा रहा) है—

अन्यस्त्री (परकीया) दो प्रकार की होती है—अविवाहिता (कन्या) तथा दूसरे व्यक्ति की परिणीता स्त्री (विवाहिता)। अङ्गी (प्रधान रस) के आलम्बन के रूप में विवाहिता (परोढा) का वर्णन कभी नहीं करना चाहिए (अर्थात् विवाहिता स्त्री प्रधान रस की नायिका कभी नहीं होनी चाहिए)। कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छा के अनुसार प्रधान वा अप्रधान रस का आलम्बन बना सकता है (अर्थात् कन्या प्रधान रस की नायिका हो सकती है और अप्रधान रस की भी यह कवि की इच्छा पर निर्भर है) ॥ २०-२१ ॥

दूसरे नायक की विवाहिता स्त्री अन्योढा कहलाती है, जैसे—"हे पड़ोसिन, थोड़ी देर इस हमारे घर पर भी दृष्टि रखना। इस बालक का पिता (अर्थात् हमारा पति) कुएँ के स्वाद-विहीन जल को नहीं पीता है। अतः यह उचित ही है कि मैं अकेली होकर भी तमाल के वृक्षों से घिरे हुए झरने पर यहाँ से जाऊँ। (वहाँ जाने में) भले ही प्राचीन खण्डों वाली नल (नामक वृक्षों) की सघन गाठें मेरे शरीर को खरोंच डालें॥"

यह (अन्योढा स्त्री) तो अङ्गी अर्थात् प्रधान रस में कभी भी (आलम्बन के रूप में) वर्णित नहीं की जानी चाहिए। यही कारण है कि (यहाँ) इसका विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया गया।

विशेष—दृष्टिमित्यादि—इस कथन से यह प्रतीत होता है कि नायिका किसी उपपति से मिलने के लिए जा रही है। वहाँ रमण के समय जो नखक्षत तथा दन्तक्षत लगेंगे उसके लिए वह नल की गाँठों से शरीर के छिलने का पूर्व बहाना बना रही है।

कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा माल्त्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः। यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिका-मलयवत्यनुराग इति।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकादि प्रबन्धों में अन्योढा को रस का आलम्बन नहीं बनाया जाता क्योंकि इस तरह का वर्णन अनुचित एवं अनैतिक है। साहित्य सत्यं शिवं सुन्दरं के प्रचार के लिए होता है। किन्तु लोक में यतः इस प्रकार का प्रेम-व्यवहार देखा जाता है, अतः रस-शास्त्र में ऐसा उदाहरण दिया गया है। केवल मुक्तक काव्यों में ही इन परकीयाओं की चेष्टाओं के वर्णन कवियों की लेखनी के विषय होते हैं।

यद्यपि कन्या अविवाहिता होती है, फिर भी उसे अन्य-स्त्री कहा जाता है, क्योंकि वह पिता आदि के अधीन होती है। उस (कन्या) में छिपे रूप से प्रेम का व्यवहार चलता है; क्योंकि (पहले तो) वह पिता आदि के द्वारा प्राप्त ही नहीं होती है, (दूसरे) प्राप्त होने पर भी दूसरों के द्वारा विघ्न तथा अपनी कान्ता का भय होता है। जैसे मालती में माधव का (दूसरों के विघ्न के कारण) तथा सागरिका में वत्सराज उदयन का (अपनी कान्ता वासवदत्ता के भय के कारण) प्रेम-व्यवहार छिपे-छिपे चलता है। उसके (अर्थात् कन्या के) अनुराग को स्वेच्छा से प्रधान या अप्रधान रस के आलम्बन के रूप में वर्णित करना चाहिए। जैसे रत्नावली तथा नागानन्द में सागरिका तथा मलयवती का अनुराग क्रमशः प्रधान तथा अप्रधान रस के आलम्बन के रूप में) वर्णित किया गया है।

विशेष—रत्नावलीनागानन्दयोरिति—रत्नावली का प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में ही वहाँ सागरिका का वर्णन हुआ है। अतः वहाँ प्रधान रस के सन्दर्भ में कन्या के अनुराग का वर्णन किया गया है। नागानन्द का प्रधान रस दयावीर है। उसमें शृङ्गार रस अप्रधान है। यहाँ शृङ्गार के सन्दर्भ में मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है। अतः उसमें कन्या का अनुराग अप्रधान रस का आश्रय हुआ है।

साधारण स्त्री (अर्थात् सामान्य नायिका)

गणिका (वेश्या) साधारण स्त्री कही गई है। यह कला, प्रगल्भता तथा धूर्तता से युक्त हुआ करती है ॥ २१ ॥

अङ्गिरसे—अङ्गी=प्रधानश्चासौ रसस्तस्मिन्, **अन्योढा—**अन्येन=अपरेण ऊढा=कृतविवाहा, क्वचिदपि नालम्बनमिति वक्तव्यशेषांशः। **अङ्गाङ्गिसंश्रयम्—**अङ्गस्य=अप्रधानस्य अङ्गिनश्च=प्रधानस्य च संश्रयम्=आलम्बनम् कुर्यात् कविरिति। **कन्यका त्वित्यादि।** अनेन प्रेमास्पदनायकापेक्षया अन्यजनाधीनत्वं परकीयात्वमिति लक्षणं सूचितमिति॥

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निदर्शितः। दिङ्मात्रं तु—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत्॥ २२॥

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुखार्थः अप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः, स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहंयुरहङ्कृतः, पण्डको वातपण्डादिः, एतान्बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्—तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः, गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय। इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम्।

रूपकेषु तु—

रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये।

उस (साधारण स्त्री) का व्यवहार (वात्स्यायन आदि के कामसूत्र आदि) अन्य शास्त्रों में विस्तार से दिखलाया गया है। (उसके व्यवहार का यहाँ) दिग्दर्शनमात्र तो यह है—

वह छिप कर काम-तृप्ति करने वाले, आराम से पैसा पैदा करनेवाले अथवा आसानी से पैसा दे देने वाले, बेवकूफ, स्वच्छन्द, अभिमानी और नपुंसक आदि को सम्पत्तिशाली बने रहने तक अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती है, तथा धन-क्षीण हो जाने पर इन्हें (अपनी) माता के द्वारा निकलवा देती है॥ २२॥

जो लोग छिप करके काम-तृप्ति करते हैं वे 'छन्नकाम' कहलाते हैं, जैसे वेदपाठी, व्यापारी तथा संन्यासी आदि। 'सुखार्थ' का अर्थ है—अनायास धन प्राप्त करनेवाले अथवा मौज-पानी के लिए ही धन कमाने वाले व्यक्ति। 'अज्ञ' मूर्ख को कहते हैं। 'स्वतन्त्र' का अर्थ है—निरङ्कुश = जिस पर किसी का शासन न हो। 'अहंयु' अभिमानी को कहते हैं। 'पण्डक' का अर्थ है—वातपण्ड आदि रोगों से पीडित नपुंसक। जब तक ये प्रभूत सम्पत्तिशाली रहते हैं तब तक सम्पत्ति के लिए इनसे अनुरक्ता के समान प्रेम-व्यवहार चलाती है, क्योंकि उसकी वृत्ति (अर्थात् वेश्यावृत्ति) धनप्रधान हुआ करती है (अर्थात् धन के लिए ही हुआ करती है)। जब इनकी पूरी-सम्पत्ति वह खींच लेती है तो कुट्टिनी आदि के द्वारा निकलवा देती है, ताकि वे फिर भी मिल सकें। (अर्थात् स्वयं न निकाल कर दूसरों के द्वारा इसलिए निकलवा देती है, ताकि ठुकराये गये कामुक धन कमाने पर यह सोच कर कि वह वेश्या तो हमें प्यार ही करती है फिर आकर उसकी आराधना करें)। यह उन (गणिकाओं) का सामान्य रूप है।

रूपकों में तो—

(रूपक के एक भेद) प्रहसन से भिन्न अन्य रूपकों में (अर्थात् रूपक के भेद

साधारणीं लक्षयति—**साधारणस्त्रीति**। **गणिका** = वेश्या, **कलेत्यादिः**—कलाः = नृत्यगीतादयः प्रागल्भ्यम् = धाष्टर्यम् धौर्त्यम् = धूर्तता तानि युञ्जतीति युक्, **साधारणस्त्री** = सामान्यनायिकेत्यर्थः॥ **छन्नकामेत्यादिः**—छन्नः = अप्रकटः कामः = कामव्यापारः यस्य स तादृशः, सुखार्थः—सुखेन = अनायासेन अर्थः = सम्पत्तिः यस्य स तादृशः, अथवा सुखेन अर्थो अर्थप्राप्तिर्यस्मात् स

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया। यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य। प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात्। नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः। नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्था-रूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय। अष्टाविति न्यूनाधिकव्य-वच्छेदः।

में प्रहसन को छोड़ कर शेष में) गणिका को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही चित्रित करना चाहिए। जिस रूपक का आश्रय (अर्थात् नायक) कोई स्वर्गीय देव आदि या राजा हो तो उसमें इस (गणिका) का निबन्धन नहीं करना चाहिए।

प्रहसन को छोड़ कर अन्य प्रकरण आदि में इस (गणिका) को अनुरक्ता के रूप में ही चित्रित करना चाहिए। जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति अनुरक्ता के रूप में ही चित्रित की गई है। प्रहसन में तो अरक्ता (अर्थात् नायक में प्रेम न करने वाली) भी चित्रित की जा सकती है, क्योंकि प्रहसन हास्य का कारण हुआ करता है। नाटक आदि में, जहाँ कि दिव्य प्राणी या राजा आदि नायक हुआ करते है, गणिका का चित्रण (नायिका के रूप में) नहीं ही करना चाहिए।

अब (नायिकाओं के एक प्रकार के) अन्य भेदों को बतलाया जा रहा है—

इन (सभी तरह की नायिकाओं) की 'स्वाधीनपतिका' आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं ॥ २३ ॥

१. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितप्रिया तथा ८. अभिसारिका—ये आठ अवस्थाएँ स्वकीया (परकीया, सामान्य) आदि नायिकाओं की हुआ करती हैं। (अर्थात् स्वकीया आदि सभी तरह की नायिकाओं की ये आठ अवस्थाएँ हुआ करती हैं)।

तादृशः, अज्ञः = अज्ञानी स्वतन्त्रः = स्वच्छन्दः अनेन तस्य निरङ्कुशता सूचिता अहंयुः = अभिमानी पण्डकः = नपुंसकः तान्, **आढ्यान्** = सम्पत्तिशालिनः, **निःस्वान्** = निर्धनान् ॥

मात्रेति। इदमुपलक्षणम्। तेन कुट्टिन्याद्यन्यद्वाराऽपि बोध्यम्। **प्रतिसन्धानाय** = पुनः सन्धानायेत्यर्थः, मय्यनुरक्तोऽयं सर्वं स्वविभवजातं मां समर्प्य निर्गलितो जातः, अथ यद्येनं निःसारयिष्ये तर्हि येन केनापि रूपेण पुनः धनमुपार्ज्य मामुपैष्यतीत्यभिलाषेत्यर्थः। पुनर्धनप्राप्तौ मातरि दोषं दत्त्वा परिग्रहणाय मात्रादिभिर्निःसारणं बोध्यम् ॥

नैषा दिव्यनृपाश्रये—दिव्यः = देवादिः नृपः = राजा तौ आश्रयौ = नायकावित्यर्थौ यस्मिन् तस्मिन् नाटकादौ एषा = गणिका न = नायिकारूपेण नालम्बनीया। **आसाम्** = स्वकीयादिना-यिकानामित्यर्थः। **स्वाधीनपतिका**—स्वस्या अधीनः = आयत्तः भर्त्ता यस्याः सा तथोक्ता।

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डि-

---

यद्यपि नायिका होना आदि (अथवा स्वकीया नायिका होना आदि) भी (स्त्रियों की) अवस्था रूप ही है (अर्थात् नायिका अथवा स्वकीया आदि नायिका होना भी स्त्रियों की एक अवस्थाएँ ही हैं), फिर भी (स्वाधीनपतिका आदि) दूसरे तरह की अवस्थाओं का अभिधान पहले की अवस्थाओं में धर्मित्व के प्रतिपादन के लिए है (अर्थात् पहले की अवस्थाएँ धर्मी = विशेष्य तथा बाद की स्वाधीनपतिका आदि अवस्थाएँ धर्म = विशेषण हैं। बाद की ये अवस्थाएँ पहले की अवस्थाओं की भी अवस्थाएँ ही हैं)। "अष्टौ" इस पद का अभिप्राय है कि ये अवस्थाएँ आठ ही हैं, न कम और न अधिक।

पूर्वपक्षी—वासकसज्जा (आनेवाले प्रिय के लिए अपने आप को वास-भवन में सजाने वाली) आदि का स्वाधीनपतिका आदि में अन्तर्भाव हो जायगा।

(अतः नायिका की ये अवस्थाएँ पूरी आठ नहीं होंगी।)

सिद्धान्ती—नहीं, (वासकसज्जा का स्वाधीन-पतिका में अन्तर्भाव नहीं हो सकता)। क्योंकि वासकसज्जा का प्रिय उसके पास में नहीं होता है, अतः वह स्वाधीनपतिका नहीं हो सकती (स्वाधीनपतिका का प्रिय उसके पास में रहता है)।

पूर्वपक्षी—वासकसज्जा का प्रिय यद्यपि संप्रति उसके पास में नहीं है, पर फिर भी वह शीघ्र ही उसके पास आनेवाला है। अतः वासकसज्जा का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिका के अन्तर्गत ही हो जायगा।

सिद्धान्ती—यदि आनेवाला है प्रिय जिसका ऐसी वासकसज्जा भी स्वाधीनपतिका है तो फिर प्रोषितप्रिया (जिसका पति परदेश गया है ऐसी नायिका) को भी स्वाधीन-पतिका से अलग नहीं मानना चाहिए (क्योंकि उसका भी पति आने ही वाला है)।

पूर्वपक्षी—नहीं, प्रोषितपतिका नायिका वासकसज्जा की भाँति स्वाधीनपतिका नहीं हो सकती, क्योंकि वासकसज्जा का पति अति शीघ्र ही भविष्य में आनेवाला है (अर्थात् पति के साथ उसके मिलन में कम समय का व्यवधान है) और प्रोषितपतिका का अतिशीघ्र भविष्य में आनेवाला नहीं है (अर्थात् पति के साथ उसके मिलन में अधिक समय का व्यवधान है)। (अतः वासकसज्जा का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिका में मान लेने से कोई आपत्ति खड़ी नहीं होगी)।

सिद्धान्ती—(समय या स्थान कृत) इतना व्यवधान होने पर समीपता मानी जायगी (और इतने से अधिक का व्यवधान होने पर दूरी मानी जायगी)—ऐसा नियम बनाना संभव नहीं है। (अतः वासकसज्जा का स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है)।

वासकसज्जा—वासके = वासवेश्मनि सज्जा यस्यास्तथोक्ता, **विरहोत्कण्ठिता**—विरहेण =

तात्वम् । नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम् । स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम् । एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः । औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा । तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः,

---

पूर्वपक्षी—ठीक है, यदि वासकसज्जा का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिका में नहीं हो सकता तो खण्डिता आदि में ही मान लिया जाय।

सिद्धान्ती—नहीं, वासकसज्जा नायिका खण्डिता नायिका नहीं हो सकती है। क्योंकि वासकसज्जा को अपने प्रिय के किसी अपराध (व्यलीक = किसी अन्य प्रेमिका में आसक्ति) का पता नहीं रहता है (जब कि खण्डिता को अपने प्रियतम का अपराध स्पष्ट रूप से ज्ञात रहता है)।

पूर्वपक्षी—अच्छा, वासकसज्जा को प्रोषितपतिका के अन्तर्गत ही मान लिया जाय (क्योंकि दोनों ही पति या प्रियतम से अलग हैं)।

सिद्धान्ती—नहीं, वासकसज्जा का अन्तर्भाव प्रोषित पतिका में नहीं हो सकता। क्योंकि वह अर्थात् वासकसज्जा रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त है (और प्रोषितपतिका रति तथा भोग की इच्छा में प्रवृत्त नहीं है। अर्थात् वासकसज्जा रमण की तैयारी में है, जब कि प्रोषितपतिका में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती)।

पूर्वपक्षी—अच्छा, वासकसज्जा का अभिसारिका में अन्तर्भाव मान लिया जाय (क्योंकि दोनों ही प्रिय से मिलने तथा रमण करने की तैयारी में रहती हैं। दोनों ही में रति और भोग की इच्छा होती है)।

सिद्धान्ती—वासकसज्जा और अभिसारिका दोनों एक नहीं हो सकतीं। क्योंकि अभिसारिका स्वयं ही नायक के पास जाती है अथवा नायक को ही अपने पास आने की प्रेरणा देती है। किन्तु वासकसज्जा में ऐसी कोई भी बात देखने को नहीं मिलती है। (अतः वासकसज्जा का अन्तर्भाव अभिसारिका में नहीं हो सकता है)।

विशेष—इस प्रकार जिन-जिन अवस्थाओं में वासकसज्जा के अन्तर्भाव की सम्भावना थी, उनमें इसका अन्तर्भाव संभव नहीं है। अतः वासकसज्जा एक स्वतन्त्र तथा पूर्ण प्रभुतासम्पन्न अवस्था है।

सिद्धान्ती—इसी तरह उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) भी पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न ही है। (इसका भी किसी में अन्तर्भाव नहीं हो सकता)।

पूर्वपक्षी—विरहोत्कण्ठिता का अन्तर्भाव वासकसज्जा में ही मान लेना चाहिए (क्योंकि दोनों ही प्रियतम की प्रतीक्षा में रहती हैं, दोनों में रति एवं रमण का भाव पाया जाता है)।

दैवकृतप्रतिबन्धेन उत्कण्ठिता = उत्सुका, **खण्डिता**–खण्डितः = अन्यस्याः नायिकायाः सम्भोगचिह्नेन युक्तो नायको यस्याः सा तादृशी, **कलहान्तरिता**—कलहेन अन्तरिता = व्यवहिता या सा तथोक्ता, **विप्रलब्धा** = विशेषेण प्रलब्धा = वञ्चिता तादृशी, **प्रोषितप्रिया**—प्रोषितः = विदेशं गतः प्रियः = भर्ता यस्याः सा तादृशी, **अभिसारिका**—अभिसारयति अभिसरति वा या सा अभिसारिका॥

—उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टावस्था इति।

तत्र—

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

सिद्धान्ती—नहीं, वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता दोनों एक नहीं हो सकतीं। क्योंकि विरहोत्कण्ठिता प्रिय के आगमन के उचित समय के बीत जाने पर व्याकुल (उत्कण्ठित) होने वाली है, (जब कि वासकसज्जा आने वाले प्रियतम के लिए तैयारी करने वाली है)।

विशेष—अतः वासकसज्जा के अन्तर्गत विरहोत्कण्ठिता का समावेश सम्भव नहीं है।

सिद्धान्ती—इसी तरह विप्रलब्धा भी, वासकसज्जा की ही भाँति, पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न है।

पूर्वपक्षी—विप्रलब्धा का अन्तर्भाव वासकसज्जा अथवा उत्कण्ठिता में ही मान लेना चाहिए (क्योंकि वासकसज्जा अथवा विरहोत्कण्ठिता की ही भाँति विप्रलब्धा भी अपने प्रियतम के आगमन के प्रति उत्सुक रहती है)।

सिद्धान्ती—नहीं, विप्रलब्धा वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता—दोनों ही—से भिन्न है, क्योंकि विप्रलब्धा का प्रियतम वादा करके भी नहीं आता है। इस प्रकार वहाँ प्रतारणा (धोखा) की अधिकता पाई जाती है (किन्तु वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता के साथ प्रतारणा की ऐसी कोई बात नहीं होती है)।

पूर्वपक्षी—अच्छा, कलहान्तरिता का अन्तर्भाव खण्डिता में मान लिया जाय, क्योंकि कलहान्तरिता तथा खण्डिता—ये दोनों ही—अपने प्रियतम के (पटनारी-सम्भोग रूप) अपराध को जानती रहती हैं)।

सिद्धान्ती—कलहान्तरिता तो यद्यपि (खण्डिता की भाँति अपने प्रियतम के) अपराध को जानती है, तथापि (भेद यह है कि) वह। (अर्थात् कलहान्तरिता पहले) प्रियतम के द्वारा किये गये अनुनय-विनय से मानती ही नहीं है और बाद में (जब हैरान होकर प्रियतम चला जाता है तब) पश्चात्ताप के द्वारा अपनी प्रसन्नता को प्रकट करती है (खण्डिता में यह बात नहीं पाई जाती)। अतः कलहान्तरिता खण्डिता से भिन्न ही है। इस पर यह निश्चित हुआ (स्थितम्) कि नायिकाओं की आठ ही अवस्थाएँ हैं।

१—स्वाधीनपतिका (स्वाधीनभर्तृका)—

जिस नायिका का पति समीप में रहता है तथा उसके अधीन होता है, तथा जो (नायक की समीपता के कारण) प्रसन्न रहा करती है—वह स्वाधीनपतिका कहलाती है।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः' ॥ १३० ॥

अथ वासकसज्जा--

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः' ॥ १३१ ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता—

जैसे—(कोई सखी किसी स्वाधीनभर्तृका के अभिमान को देख कर कह रही है—

हे सखि, (तूँ) इस के लिए गर्व मत कर कि प्रियतम के स्वयं अपने हाथ से चित्रित मञ्जरी (पत्रावली) मेरे कपोल-तल पर विराजमान है । दूसरी स्त्री भी क्या इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र नहीं हो सकती यदि कम्पन विघ्न न करे (अर्थात् तुम्हारी ही तरह मैं भी स्वाधीनपतिका हूँ । मेरा पति भी मेरे कपोलों पर पत्रावली बनाना आरम्भ करता है । किन्तु मेरा स्पर्श पाकर उसका शरीर काँपने लगता है । अतः पत्रावली नहीं बन पाती। इससे स्पष्ट है कि मेरा प्रियतम तुम्हारे प्रियतम की अपेक्षा अधिक प्यार करता है । तुमसे मैं अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ) ॥

२—वासकसज्जा—

अब वासकसज्जा (की परिभाषा दी जा रही) है—

प्रियतम (शीघ्र) आयेंगे—ऐसी आशा होने पर जो बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने आप को सजाती है, वह वासकसज्जा है ॥२४॥

प्रिय के आने वाला होने पर (अर्थात् प्रिय के आगमन के समय) प्रसन्नता के साथ अपने आपको तथा अपने घर को सजाने वाली नायिका वासकसज्जा कही गई है। जैसे (माघ ९।५२ में)

"कोई दूसरी सुन्दरी नवीन पत्ते की तरह कोमल अपने हाथ के अग्रभाग से स्खलन के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उठी हुई मुख-कमल की श्वासों के द्वारा धीरे से अपने मुख की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हुई ॥"

३—विरहोत्कण्ठिता

अब विरहोत्कण्ठिता (की परिभाषा दी जा रही) है—

आसन्नायत्तरमणा—आसन्नः = समीपे वर्तमानः आयत्तः = स्वाधीनश्च रमणो यस्याः सा तथा, अतः **हृष्टा** = प्रसन्ना, **स्वाधीनभर्तृका**—स्वाधीनः = स्ववशे स्थितः पतिर्यस्याः सा तादृशी । **एष्यति** = आगमनोन्मुख इत्यर्थः, **मुदा** = हर्षेण ॥

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

'सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते' ।। १३२ ।।

अथ खण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।। २५ ।।

यथा

'नवनखरदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन् नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्' ।। १३३ ।।

प्रिय (अर्थात् पति) के अपराधी न होने पर भी, देर करने पर, जो नायिका उत्कण्ठित होती है, उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं ।

जैसे (किसी नायिका के प्रियतम के आने का समय बीत रहा है । आधी रात बीतने चली, किन्तु वह अभी तक नहीं आया है । इससे नायिका बड़ी उत्कण्ठित हो कर अपनी सखी से कह रही है ।)

"हे सखी, ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दूसरी स्त्री के द्वारा वीणा-वादन में उसे जीत लिया गया है । निश्चय ही उन दोनों ने समूची रात क्रीडा करने की शर्त लगा ली है (पणितम्) । यदि ऐसी बात न होती तो हरश्रृङ्गार (शेफाली) के फूलों के झड़ जाने तथा चन्द्रमा के आकाश के मध्य चढ़ जाने पर भी मेरे प्रियतम विलम्ब क्यों करते ? ।।"

४—खण्डिता

अब खण्डिता (नायिका की परिभाषा दी जा रही) है—

(प्रियतम को) अन्य स्त्री के सहवास से विकृत (चिह्नित) देख कर जो ईर्ष्या से कलुषित हो उठती है, वह खण्डिता (नायिका) है ॥२५॥

जैसे—(माघ ११।३४ में अपराधी नायक से नायिका कहती है)—

"तुम अपने दुपट्टे से (अन्य नायिका के) नखों के ताजे खरोंच वाले अङ्ग को छिपा रहे हो तथा (उसके) दाँतों से कटे हुए (अपने) ओठ को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु चारों ओर फैलता हुआ, दूसरी स्त्री के संसर्ग की सूचना देने वाला, यह नूतन परिमल-गन्ध किस से छिपाया जा सकता है ? (अर्थात् इस को तुम छिपा नहीं सकते) ।।"

अव्यलीके = अनपराधे नायके इति शेषः, **चिरयति** = विलम्बे कृते, **उन्मनाः** = उत्कण्ठिता । **अन्यासङ्गविकृते** = अन्यस्याः = परस्याः नायिकायाः आसङ्गेन = संश्लेषेण विकृते = लाञ्छिते, **ईर्ष्याकषायिता**—ईर्ष्यया कषायिता = कलुषिता खण्डिता भवति ।

अथ कलहान्तरिता—

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

यथा—

'निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः' ।। १३४ ।।

अथ विप्रलब्धा—

विशेष—नवनखरदमङ्गं''''''दन्तदष्टम्—प्रेमी तथा प्रेयसी मिलन के समय ओठ पर परस्पर एक दूसरे को काटते हैं, नख से एक-दूसरेके शरीर पर खरोंचते हैं। नायक ने अन्य रमणी के साथ जम कर रमण किया है। फलतः उसके शरीर पर नख-क्षत एवं दन्त-क्षत के ताजे चिह्न हैं। जिन्हें वह अपनी ज्येष्ठा नायिका के सामने छिपा रहा है। किन्तु आलिङ्गन-प्रत्यालिङ्गन के समय, नायिका के शरीर का जो सुगन्धित लेप नायक के शरीर में लगता है उसकी गन्ध को भला वह किससे छिपा सकता है ?

५—कलहान्तरिता

अब कलहान्तरिता (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

(प्रियतम के अपराध करने पर उसका) जो क्रोध से तिरस्कार करती है, तथा बाद में (प्रियतम के चले जाने पर अपने व्यवहार के विषय में) पश्चात्ताप करके दुःखित होती है, उसे कलहान्तरिता कहते हैं।

जैसे (अमरुशतक ९२ में अपराधी प्रियतम का तिरस्कार करके कोई नायिका पश्चात्ताप व्यक्त करती हुई सखियों से कह रही है)—

"(प्रियतम के अपमान के पश्चात्ताप से जनित गरम-गरम निःश्वास मुख को जला रहे हैं, हृदय जड़ से हिल रहा है (उन्मथित हो रहा है), नींद भी नहीं आती है, प्रियतम का मुख भी नहीं दिखलाई पड़ता (क्योंकि वे तिरस्कृत होकर लौट गये हैं), रात-दिन रोती रहती हूँ, अङ्ग सूख रहे हैं,—क्योंकि पैरों पर पड़े हुए प्रियतम का (मैंने) तिरस्कार कर दिया है। हे सखियों, (अच्छा, यह तो बतलाओ कि) किस भलाई को सोच कर तुम लोगों ने प्रियतम के विषय में हमसे मान (रूठना) करवाया था ?।।"

६—विप्रलब्धा

अब विप्रलब्धा (की परिभाषा दी जा रही) है—

अमर्षात् = कोपात् **विधूते** = तिरस्कृते, प्रियतमे इति शेषः, **अनुशयार्तियुक्**—अनुशयेन = पश्चात्तापेन आर्तियुक् = दुःखिता नायिका कलहान्तरिता निगद्यते ।। **उक्तसमयम्** = दत्तकालम्, अप्राप्ते = अनागते, नायके इति शेषः, **अतिविमानिता** = अतितिरस्कारमनुभवन्तीत्यर्थः ।। **कार्यतः** = कार्यवशात्, जीविकावशाद्व्यापारवशाद्वा, प्रिये **दूरदेशान्तरस्थे** = दूरदेशे प्रव्रजिते सति, उत्कण्ठिता नायिकेति शेषः, प्रोषितभर्तृकेति निगद्यते ।।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः' ॥ १३५ ॥

अथ प्रोषितप्रिया—

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम्' ॥ १३६ ॥

अथाभिसारिका—

निश्चित समय पर (अर्थात् दिये समय पर) प्रियतम के न आने से अत्यधिक अपमान अनुभव करने वाली (नायिका) विप्रलब्धा कहलाती है॥ २६॥

जैसे (कोई नायिका सङ्केत-स्थल पर बड़ी देर तक नायक की निष्फल प्रतीक्षा के बाद ऊब कर अपनी दूती से कह रही है)—

"हे दूती, उठो चलें, एक पहर बीत गया फिर भी वह नहीं आया। जो (नायिका) इसके पश्चात् भी जीवित रहे वह तो उसी का प्राणनाथ होगा (अर्थात् अब मेरा तो जीवन-धारण करना कठिन है) ॥"

७—प्रोषितप्रिया

अब प्रोषितप्रिया (की परिभाषा दी जा रही) है—

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया (प्रोषितभर्तृका) कहलाती है।

जैसे अमरुशतक (७६) में—

[किसी नायिका का पति विदेश गया है। वह कई दिनों से उसकी प्रतीक्षा कर रही है। वह रोज दरवाजे पर खड़ी होकर एक टक उसकी राह देखा करती है।]

"जहाँ तक उसकी दृष्टि पहुँच सकती थी वहाँ तक वह दुःखित नायिका प्रिय का पथ निहारती रही। दिन के ढल जाने पर, अन्धकार के फैल जाने पर, राहों के सूनी हो जाने पर, उस पथिक (अर्थात् परदेशी) की स्त्री ने दुःख के साथ घर की ओर एक पग रक्खा (अर्थात् घर की ओर मुड़ी) किन्तु फिर बड़ी जल्दी से (अपनी) गर्दन को घुमाकर (इसलिये पीछे की ओर मुड़कर) देखा कि—'कहीं वह इसी समय आ न गया हो' ॥"

८—अभिसारिका

अब अभिसारिका (की परिभाषा दी जा रही) है—

कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥ २७ ॥

यथाऽमरुशतके—

'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षते' ॥ १३७ ॥

यथा च—

'न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे' ॥ १३८ ॥

तत्र— चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥ २८ ॥

काम से पीडित होकर जो नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है, वह अभिसारिका है ॥२७॥

जैसे अमरुशतक (३१) में (अभिसरण के लिए जाती हुई नायिका से कवि कह रहा है)—

"(तूने) वक्षःस्थल पर चञ्चल हार पहन रक्खा है, मोटे जघनस्थल पर कल-कल शब्द करने वाली करधनी है, पैरों में झंकार करनेवाले मणिनूपुर (मणि के पायल) हैं । हे भोली-भाली, यदि तुम इस प्रकार डङ्के की चोट पर (अर्थात् ढिंढोरा पीट कर) अभिसरण कर रही हो तो अधिक भय से कम्पित होकर चारों ओर देख क्यों रही हो ? ॥"

और जैसे (माघ ९।५६) "किसी नायिका ने (अपनी) दूती से यह कहा कि— इस (नायक) के पास जाकर ऐसी चालाकी से कहना कि जिससे वह मेरी लघुता (गरज) न समझे और मेरे ऊपर करुणा भी करे ॥"

विशेष—अवलोककार धनिक माघ के इस पद्य की नायिका को अभिसारिका मानते हैं । किन्तु मल्लिनाथ के मत का समर्थन करते हुए मेरा मत है कि निश्चय ही इस पद्य की नायिका 'कलहान्तरिता' है न कि 'अभिसारिका' ।

(उन आठ प्रकार की नायिकाओं) में—

अन्तिम छः (१. विरहोत्कण्ठिता, २. खण्डिता, ३. कलहान्तरिता, ४. विप्रलब्धा, ५. प्रोषितप्रिया तथा ६. अभिसारिका) चिन्ता, निश्वास, खेद, अश्रु, वर्ण का फीका पड़ जाना, ग्लानि एवं अभूषण (दीनता) से युक्त होती हैं, और प्रारम्भ की दो (१. स्वाधीनपतिका तथा २. वासकसज्जा) क्रीडा, उज्ज्वलता एवं हर्ष से युक्त होती हैं ॥२८॥

अभिसारिकालक्षणं निरूपयति-**कामार्तेति** । कामेन = मदनेन आर्ता = भृशं पीडिता, **कान्तम्** = प्रियतमम्, अभिसरेत् = रमणं गच्छेत्, वा तं **सारयेत्** = स्वाभिमुखं दूत्यादिना प्रापयेत् सा अभिसारिका मता ॥

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति व्यवस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति-अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येवं धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनानन्तरम् 'राजा—

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशा निबन्धनाः' ॥ १३९ ॥

इत्यादि, तत्र न खण्डिताऽनुनयाभिप्रायेण; अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति।

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वम्—अनायत्तप्रियत्वादेवेति।

विशेष—...**अभूषणैः**—अभूषणयुक्ता का अर्थ है—शोभारहिता अर्थात् दीन। उपर्युक्त छः नायिकाओं में से प्रत्येक में चिन्ता आदि का होना आवश्यक नहीं है। ये यथावसर इन नायिकाओं में मिलते हैं, बस यही यहाँ अभिप्राय प्रतीत होता है।

कन्या एवं (अन्य की) विवाहिता—ये दो तरह की परकीया नायिकाएँ हैं। ये दोनों (किसी स्थान पर गुप्त-मिलन के लिये दिये गये) संकेत के पूर्व विरहोत्कण्ठिता और बाद में विदूषक आदि की सहायता से अभिसार करती हुई अभिसारिका तथा किसी कारण से नायक के संकेत-स्थान पर न पहुँचने पर विप्रलब्धा नायिका होती हैं। इनकी यही व्यवस्था मानी गई है। इनकी अन्य अवस्थाएँ नहीं होती हैं, क्योंकि इनका प्रिय इनके अधीन नहीं हुआ करता है।

किन्तु जो 'मालविकाग्निमित्र' आदि में 'जो राजा इतना धीर है, वह भी महारानी के सामने देख लिया गया' (अर्थात् 'तुम इतने धीर हो पर महारानी के सामने तुम्हारी क्या हालत थी यह मैंने देख लिया है')—मालविका के ऐसा कहने पर राजा कहता है—

"हे बिम्ब (फल) की तरह (लाल) ओष्ठवाली (मालविके), दक्षिण होना नायकों का कुल क्रमागत व्रत है। परन्तु मेरे जो प्राण हैं वे तो तुम्हारी ही आशा पर निर्भर हैं (अर्थात् मेरे प्राण तो तुम्हारे ही हाथों में हैं॥ इत्यादि (है)।

यह खण्डिता नायिका को मनाने के अभिप्राय से नहीं कहा गया है, अपितु "मेरा पूर्णरूप से महारानी के अधीन होना समझ कर तुम्हें निराशा न हो" इस प्रकार कन्या (मालविका) को विश्वास दिलाने के लिए कहा गया है। (अतः यह कहना ठीक नहीं है कि कन्या भी खण्डिता नायिका होती है। जैसे कि मालविका है)।

इसी तरह (परकीया) नायिका का जब तक नायक के साथ समागम नहीं हुआ रहता तभी यदि वह (नायक) परदेश चला जाय तो भी उत्कण्ठितापन ही माना जायगा, न कि प्रोषितप्रियापन (अर्थात् समागम होने के पूर्व ही यदि नायक परदेश

अभूषणा-अभूषणयुक्ता नाम शोभारहिता दीना इति यावदिति प्रभाकाराः। **संकेतात्** =सुरताय स्थाननिर्देशात्, **अभिसरन्त्यौ**—उपलक्षणमिदं तेन दूत्यादिना परपुरुषाभिसार—

अथासां सहायिन्यः—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

चला जाय तो भी परकीया नायिका उत्कण्ठिता ही कहलायेगी, न कि प्रोषितप्रिया), क्योंकि प्रिय (अर्थात् नायक) उसके अधीन नहीं होता है। (अतः परकीया की प्रोषितप्रिया अवस्था नहीं मानी जायगी)।

विशेष—उपर्युक्त विवेचन से यह बात तय पाई गई कि परकीया नायिका (अर्थात् कन्या एवं पर-स्त्री) विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धा ही हो सकती है खण्डिता आदि नहीं, क्योंकि प्रिय उसके अधीन नहीं हुआ करता। जिसका प्रिय अपने अधीन होता है, उनकी ही स्वाधीनपतिका आदि आठों अवस्थाएँ हुआ करती हैं।

साहित्यदर्पण के प्रसिद्ध टीकाकार सिद्धान्त वागीश अपनी टीका में इसकी जो— व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उसका अभिप्राय यह है—परकीया अर्थात् कन्या एवं पर-स्त्री के पास उनका कोई प्रियतम सर्वदा उनके पास नहीं रह सकता, अतः वे स्वाधीन-पतिका नहीं कही जा सकतीं। वे खण्डिता भी नहीं हो सकतीं क्योंकि वे यह भलीभाँति जानती हैं कि नायक की एक पत्नी है, और इसके शरीर पर लक्षित सम्भोग के चिह्न उसी के साथ किये गये समागम के फल हैं। यही कारण है कि वे कलहान्तरिता भी नहीं हो सकतीं। वे (अर्थात् कन्या और पर-स्त्री) प्रोषितपतिका भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका प्रिय तो सर्वदा ही उनसे दूर रहता है। अतः उसके परदेश जाने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। जिसका नायक कार्यवश कभी परदेश चला जाय वही प्रोषितपतिका कही गई है। पिता या पति के घर में प्रिय की प्रतीक्षा में अपने आपको वासकक्ष में सजाना-सँवारना तो कन्या एवं पर-स्त्री के लिए संभव ही नहीं है। अतः वे वासकसज्जा भी नहीं हो सकतीं।

सहायिकाएँ

अब इन नायिकाओं के (नायक के साथ समागम कराने वाली) सहायिकाएँ (बतलाई जा रही) हैं—

दूतियाँ, दासी, सखी, (नाइन, धोबिन आदि) नीच जाति की स्त्रियाँ, धाय की बेटी, पड़ोसिन, संन्यासिनी, शिल्पिनी (गूँथने पिरोने वाली औरतें) और स्वयं नायिका ही (स्वयं दूती के रूप में)। ये दूतियाँ आदि सभी नायक के मित्र (पीठमर्द, विट तथा विदूषक आदि) के गुणों से युक्त हुआ करती हैं ॥२९॥

यन्त्यावपि अभिसारिके स्याताम्। **व्यवस्थिता**=सुनिश्चिता ॥

अनुपसंजातनायकसमागमायाः—अनुपसञ्जातः=अनुपसंपन्नः नायकेन=प्रियेण समागमः=संसर्गो यस्याः सा तस्याः, **देशान्तरव्यवधाने**=प्रिये प्रोषिते सतीत्यर्थः, **अनायत्तप्रियत्वात्**—अनायत्तः=न स्वाधीनः प्रियो यस्याः सा तस्या भावः तस्मात् ॥

दासी = परिचारिका। सखी = स्नेहनिबद्धा। कारूः = रजकीप्रभृतिः। धात्रेयी = उपमातृसुता। प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी। लिङ्गिनी = भिक्षुक्यादिका। शिल्पिनी = चित्रकारादिस्त्री। स्वयं चेति च दूतीविशेषाः नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः। तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति--

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु' ॥ १४० ॥

तत्र सखी यथा—

'मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते' ॥ १४१ ॥

दासी का अर्थ है—परिचारिका। स्नेहरूपी पाश में बँधी हुई स्त्री ही सखी होती है। कारू का अर्थ है—धोबिन आदि। धाय की बेटी को धात्रेयी कहते हैं। घर के बगल में रहने वाली पड़ोसिन को प्रतिवेशिका कहते हैं। भिक्षुणी आदि ही लिङ्गिनी हैं। चित्रकार आदि की स्त्री ही शिल्पिनी है। स्वयं का अर्थ है स्वयं नायिका ही। विशेष प्रकार की ये दूतियाँ नायक के मित्र पीठमर्द आदि के निसृष्टार्थता आदि गुणों से युक्त हुआ करती हैं। जैसे मालतीमाधव (३।११) में कामन्दकी के विषय में कहा गया है—

विशेष--निसृष्टार्थत्वादिना—दूत तीन प्रकार के होते हैं– १. निसृष्टार्थ, २. मितार्थ तथा ३. सन्देशहारक। १. जो नायक या नायिका के भावों की स्वयं कल्पना करके किसी एक को उत्तर देता है तथा सुचारुरूप से कार्य सम्पन्न करता है वह निसृष्टार्थ कहा गया है। २. जो कम बोलता है तथा कार्य को सिद्ध करता है, वह मितार्थ या मितार्थक है। ३. एकमात्र कहे गये सन्देश को ही कहने वाला सन्देशहारक है। (साहित्यदर्पण—३।४७–४९) ॥

"शास्त्रों में श्रद्धा का होना, स्वाभाविक ज्ञान, प्रगल्भता, गुण-गर्भित वाणी, समय के अनुरूप प्रतिभा का (उदित) होना—ये गुण (किसी भी व्यक्ति को) सभी क्रियाओं में इच्छित सफलता को दिलानेवाले होते हैं ॥"

विशेष—यहाँ यह ध्यान रखना है कि उक्त भाव को माधव ने कामन्दकी के प्रति व्यक्त किया है। कामन्दकी बौद्ध संन्यासिनी थी और वह दूती का कार्य कर रही थी।

उनमें सखी (का दूती बनना यह है) जैसे (नायिका की सखी नायक के पास जाकर कह रही है कि)—

मृग-शावक-नयनी उस (मालती) के सन्ताप का वर्णन कैसे करूँ ? (अर्थात् उसके विरह-ताप का वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं) क्योंकि मैंने कभी

निसृष्टार्थत्वादिना—त्रिविधाः दूताः—निसृष्टार्थाः, मितार्थास्तथा सन्देशहारकाश्चेति। दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥

यथा च—

'सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से' ॥ १४२ ॥
('सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ॥')

स्वय दूती यथा—

'महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअम्।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का' ॥ १४३ ॥
('मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम्।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ॥')

इत्याद्यूह्यम्।

चन्द्रमा की मूर्ति को पावक के मध्य पड़ी हुई देखा नहीं है। (यदि उसे देखा होता तो मैं कह सकती कि वह दहन में लिपटी चन्द्रमा की कला जैसी हो गई है)। हाँ, मैं इतना जानती हूँ, कि वह नारीसौन्दर्य सारे संसार की आँखों के लिए अमृत है। किन्तु तुम्हारी शठता के कारण (ऐसा प्रतीत होता है कि) विधाता की रचना का उत्कृष्टतम (वह नमूना) बर्बाद हो जायगा ॥

और जैसे (कोई सखी आदि नायक से नायिका की विरह-जनित दशा का वर्णन करती हुई कह रही है कि)—

"यह बात देखने में ठीक प्रतीत होती है कि समान व्यक्ति के प्रति किया गया प्रेम सुशोभित होता है। (और उसने तुम्हारे जैसे योग्य व्यक्ति से प्रेम किया, यह ठीक भी है। अब यदि वह) मर भी जाय तो तुम्हें कुछ नहीं कहूँगी। क्योंकि (योग्य व्यक्ति से प्रेम करके उसके विरह में) उसका मर जाना भी प्रशंसनीय ही होगा ॥"

स्वयं (नायिका ही) दूती (का कार्य कर रही) है, जैसे—

"हे रोकने वाले वायु, यद्यपि तुम मेरा वस्त्र (अर्थात् अञ्चल) खींच रहे हो (किन्तु इससे क्या लाभ)? फिर आओ। हे सुन्दर, (सम्भोग के लिये यहाँ) मैं किसकी आराधना करूँ? क्योंकि गाँव (अर्थात् बस्ती) दूर है और मैं यहाँ अकेली हूँ ॥"

विशेष—यहाँ यह ध्यान रखना है कि इस पद्य में सम्भोग चाहने वाली नायिका ही स्वयं दूती का कार्य कर रही है। निर्जन स्थान में किसी पथिक (अर्थात् बहुत दिनों के बाद विदेश से लौटते हुए व्यक्ति) को देख कर वह बहाने से वायु के प्रति कह रही है। वस्तुतः वह वायु के बहाने पथिक को ही सम्भोगार्थ आमन्त्रित कर रही है।

इसी प्रकार अन्य दूतियों को भी समझना चाहिये।

अथ योषिदलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति ।

तत्र—

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥ ३१ ॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजाः सप्त ।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।

मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥ ३२ ॥

विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।

तानेव निर्दिशति—

नायिकाओं के अलङ्कार

युवावस्था में स्त्रियों के सत्त्व से उत्पन्न होने वाले बीस अलङ्कार होते हैं ।

जवानी की अवस्था में सत्त्व से पैदा होने वाले बीस अलङ्कार स्त्रियों के होते हैं ।

विशेष—बाह्य शारीरिक अलङ्कारों की भाँति ही शरीर के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देने वाले कुछ शारीरिक विकार (अर्थात् परिवर्तन) हुआ करते हैं । शरीर की शोभा का वर्द्धक होने के कारण इन्हें भी अलङ्कार कहा गया है ।

सत्त्वजाः—शीघ्र आगे ३३ वीं कारिका में सत्त्व का भाव समझाया जायगा । उन (सत्त्व से उत्पन्न होने वाले अलङ्कारों) में—

१. भाव, २. हाव तथा ३. हेला—ये तीन शरीरज (शारीरिक) अलङ्कार हैं । १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. प्रगल्भता, ६. औदार्य एवं ७. धैर्य ये सात भाव अयत्नज (अर्थात् बिना प्रयास के उत्पन्न होने वाले) अलङ्कार हैं (यानी इन्हें प्रदर्शित करने में नायिकाओं को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है) ॥३१॥

इन में १. हाव, २. भाव और ३. हेला—ये तीन अङ्गज = शरीरज अलङ्कार हैं । १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. प्रगल्भता, ६. उदारता तथा ७. धैर्य—ये सात ऐसे अलङ्कार हैं, जिन्हें प्रदर्शित करने में स्त्रियों को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता ।

१. लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विभ्रम, ५. किलकिञ्चित, ६. मोट्टायित, ७. कुट्टमित, ८. विव्वोक, ९. ललित और १०. विहृत—ये दश भाव (स्त्रियों के) स्वभावज हैं (अर्थात् ये स्वभावतः स्त्रियों में वर्तमान रहते हैं) ॥३२॥

उन (अलङ्कारों) को ही (क्रमशः) वर्णित कर रहे हैं—

अङ्गेषु क्रमप्राप्तं भावालङ्कारं निरूपयति—**निर्विकारेत्यादिः** । निर्विकारात्मकात् = रत्याद्य-

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥ ३३ ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारकं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे—

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति' ॥ १४४ ॥

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः । यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः' ॥ १४५ ॥

१—भाव

उनमें (तत्र) निर्विकारात्मक सत्त्व से (प्रकट होने वाला) प्रथम विकार (ही) भाव कहलाता है ॥३३॥

विशेष—अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट प्रतिपादित साहित्यदर्पणकार की भावविषयक परिभाषा इस प्रकार है—"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।" (३।९३) अर्थात् स्वभावतः विकारशून्य चित्त में सर्वप्रथम उत्पन्न विकार (अर्थात् भोगेच्छा) ही भाव है।

उन में विकार (मनःक्षोभ) के कारण के रहने पर भी (मन का) विकार-रहित होना सत्त्व कहलाता है ।

(यहाँ यह ध्यान रखना है कि व्यक्ति में जब रजस् एवं तमस् की अपेक्षा सत्त्व गुण प्रबल रहता है तभी विकार नहीं उत्पन्न होते हैं) । जैसे कुमारसम्भव (३।४०) में

"इस समय अप्सराओं का गान सुन कर भी शङ्कर समाधि में लीन रहे क्योंकि आत्मा को वश में कर लेनेवाले व्यक्तियों की समाधि को विघ्न भङ्ग करने में कभी भी समर्थ नहीं हुआ करते हैं ।।"

उस विकार-विहीन सत्त्व से (अर्थात् विकार-विहीन सत्त्व वाले मन से) जो प्रथम विकार (मनःक्षोभ या सम्भोगाभिलाष) होता है, वह भाव कहा गया है । शरीर के अन्तस् में चुलबुलाने वाला यह प्रथम विकार वैसा ही होता है, जैसे कि (पानी और मिट्टी के संयोग को पाकर अङ्कुरित होने के पूर्व) बीज की फुलावट (उच्छूनता) होती है।

जैसे—

"अब इस बाला की दृष्टि अलसाई रहती है, बाल-क्रीडाओं में अब यह रुचि नहीं लेती है, सखियों के द्वारा चलाई जा रही सम्भोग की चर्चा में कान लगाती है, पहले की तरह अब निःशङ्क हो पुरुषों की गोद में नहीं बैठ जाती है । इस तरह यह बाला नव यौवन से युक्त हो रही है ।"

परिचिततया सर्वथा विकाररहितात् सत्त्वात्=सत्त्वगुणप्रबलात् **चित्तात्**=चेतसः **आद्यविक्रिया**=प्रथमो विकारो भाव इति ॥

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' ॥ १४६ ॥

यथा वा ममैव—

'तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ' ॥ १४७ ॥
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥')

अथ हावः—

हेवाकसस्तु श्रृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी श्रृङ्गारः स्वभावविशेषो हावः । यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहा तहच्चेअ ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि' ॥ १४८ ॥

विशेष—इस पद्य में यह दिखलाया गया है कि—जो अभी कल तक बालिका थी, जिसके मन को काम-विकार ने अभी तक छुआ भी न था। वही बाला अब कुछ-कुछ काम-विकार का शिकार हो रही है। उसके मन में काम की प्रादुर्भूत होती हुई यह प्रथम लहर ही प्रथम विकार या भाव है।

अथवा जैसे कुमारसम्भव (३।६७) में—

"शङ्कर का धैर्य उसी प्रकार कुछ-कुछ लुप्त हो गया जैसे कि चन्द्रोदय के प्रारम्भ होते ही सागर की धीरता-गम्भीरता समाप्त हो जाती है, और उन्होंने बिम्ब-फल के समान (लाल) अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख पर दृष्टि डाली ॥"

अथवा, जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—

"उस नायिका की बात-चीत वही (अर्थात् पहले जैसी ही) है, नेत्र एवं यौवन भी वही है, किन्तु (उसके शरीर पर) कुछ दूसरी ही काम—शोभा हो गई है, जो कुछ और ही कार्य करती है (अर्थात् जो विलक्षण ढंग से लोगों पर प्रभाव डालती है) ॥"

२—हाव

अब हाव (की परिभाषा दी जा रही) है—

उभरा हुआ (अर्थात् उद्बुद्ध) रति भाव ही हाव कहलाता है। यह रतिभाव (स्त्रियों की) आँख तथा भौंह (आदि अङ्गों) में विकार उत्पन्न करने वाला होता है।

अथवा

श्रृङ्गारपूर्वक मितभाषण करना ही हाव है। यह भी (स्त्रियों की) आँख तथा भौंह में विकार को उत्पन्न करनेवाला होता है।

कुछ निश्चित अङ्गों में विकार (मटकाना, चमकाना आदि) उत्पन्न करने वाला

('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथा तथैव ।
निर्ध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य ॥')

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचिका ॥ ३४ ॥

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचको हेला । यथा ममैव—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए ।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि' ॥ १४९ ॥
('तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे ।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ॥')

श्रृङ्गार (अर्थात् रतिभाव) ही हाव है । यह हाव विशेष प्रकार का स्वभाव होता है (अर्थात् यह हाव स्वाभाविक तथा शरीरज अलङ्कार है) । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(कोई व्यक्ति अपने मित्र से कह रहा है)—"हे मित्र, जिस किसी (वस्तु) को देखती हुई तथा जैसे-तैसे बोलती हुई, कुछ सोच कर प्रेम से मुग्ध हुई उस मुग्धा नायिका को (तो जरा) देखो ॥"

विशेष—भाव दशा की अपेक्षा हाव दशा की विशेषता यह है कि इस में आँख, हाथ तथा मुख आदि में विकार स्फुट रूप से प्रतीत होता है । इससे भीतर वर्तमान रतिभाव का अन्दाज लगा लिया जा सकता है । किन्तु भाव-दशा में अङ्गों में विकार न होने के कारण अन्तस् में वर्तमान रतिभाव का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता या बड़ी कठिनाई से लगाया जा सकता है ।

३—हेला

अब हेला (की परिभाषा दी जा रही) है—

वह (हाव) जब पूर्ण स्पष्ट रूप से श्रृङ्गार रस (अर्थात् रतिभाव) की सूचना देने लगता है, तब हेला कहलाता है ॥३४॥

स्पष्ट तथा अधिक विकारों को उत्पन्न करने के कारण पूर्ण प्रकटरूप से रतिभाव का सूचक होने पर वह हाव ही हेला कहलाता है । जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—

"इस (नायिका) के स्तनों का उभार होते ही अतिशीघ्र सभी अवयवों में इस तरह विभ्रम (विलास) उत्पन्न होने लगे कि सखियों को भी इसके बाल-भाव के बारे में सन्देह उत्पन्न होने लगा ॥"

विशेष—भाव, हाव तथा हेला—ये तीनों ही नायिकाओं के शरीरज विकार हैं । नायिका के सात्त्विक हृदय में जब हृदयस्थ रतिभाव का प्रथम विकार उत्पन्न होता है तो उसे भाव कहते हैं । यह बाह्य न होकर आन्तरिक होता है । हाव में कुछ-कुछ आँख

सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचिका—सुव्यक्तम् = सुस्पष्टम् हेलेति सम्बन्धः श्रृङ्गाररसस्य = रतिभाव-स्येत्यर्थः सूचिका = निर्देशिका ॥

अथायत्नजाः सप्त । तत्र शोभा—

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

यथा कुमारसम्भवे—

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः' ॥ १५० ॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' ॥ १५१ ॥

अथ कान्तिः—

मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥ ३५ ॥

आदि बाह्य अङ्गों में विकार आने लगते हैं तथा हेला में बढ़ कर ये विकार अधिक स्पष्ट तथा सर्वशरीरव्यापी बन जाते हैं ।

अब अयत्नज सात अलङ्कारों का विवेचन करने जा रहे हैं । उन में—

१—शोभा

रूप, उपभोग (अर्थात् विलास) और यौवन के कारण (नायिका के) अङ्गों का सौन्दर्य बढ़ जाना ही शोभा (नामक अयत्नज अलङ्कार) है ।

जैसे कुमारसम्भव (७।१७) में (विवाह के समय अलङ्कारों से सजाई जाती हुई पार्वती के विषय में कवि कहता है)—

"वहाँ उस बाला (पार्वती) को पूरब की ओर मुख कराकर बैठा कर (सजाने के लिए) सामने बैठी हुई रमणियों की आँखें उसकी स्वाभाविक शोभा से हर ली गयीं । परिणामस्वरूप प्रसाधन की सामग्री के सामने रहने पर भी वे क्षण भर के लिए ठिठक गयीं ॥" इत्यादि ।

और, जैसे शाकुन्तल (२।११) में (राजा दुष्यन्त शकुन्तला के सौन्दर्य के विषय में कह रहे हैं)—

"न सूँघे गये पुष्प की तरह, नाखूनों से न खरोंचे गये नवीन पत्र (कोपल) की तरह, न बींधे गये रत्न की तरह, न चखे गये नवीन मधु की तरह तथा पुण्यों के अखण्ड फल की तरह उस (शकुन्तला) के निष्कलङ्क सौन्दर्य का उपभोक्ता, पता नहीं इस संसार में विधाता, किसको बनायेगा ॥"

२—कान्ति

अब कान्ति (की परिभाषा दी जा रही) है—

जब मन्मथ (अर्थात् काम-भाव) के द्वारा उस (शोभा) की द्युति बढ़ जाती है तो वही (शोभा) कान्ति कही जाती है ॥ ३५ ॥

मन्मथावापितच्छाया—मनांसि मथ्नातीति मन्मथः = मदनः तेन अवापिता = अधिगता,

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः । यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका—
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः' ॥ १५२ ॥

यथा हि यहाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य ।

अथ माधुर्यम्—

अनुल्बणत्वं माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'सरजिसमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' ॥ १५३ ॥

राग के आविर्भाव से अत्यन्त समृद्ध की गई शोभा ही कान्ति है । जैसे (चेतन प्राणी तो क्या अन्धकार ने भी जब उस नायिका के स्पर्श-सुख को प्राप्त करने की चेष्टा की तब)—

"उस नायिका के प्रादुर्भूत होते हुए मुख-चन्द्र की कान्ति के प्रसार के द्वारा दूर भगा दिया गया, मोटे-मोटे स्तनों की प्रभा के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया गया, हाथों की छवि के द्वारा विनष्ट कर दिया गया, इस प्रकार नायिका के मिलन की उत्कण्ठा से प्रयत्न करता हुआ भी उसके अङ्गों का सुख न पाकर के कलविङ्क पक्षी की कण्ठ-कदली के समान (कृष्ण) वह अन्धकार मानो कोप करके एकदम उस बाला के केशों में ही लिपट गया ॥"

तथा जैसे बाणभट्ट की महाश्वेता के वर्णन के अवसर में (कान्ति प्रकट होती है ।)

३—माधुर्य

अब माधुर्य (की परिभाषा दी जा रही) है—

(सभी तरह की अवस्थाओं में) मनोहरता का होना ही माधुर्य है ।

जैसे शाकुन्तल (१।२०) में—

(पेड़ की छाल को पहने हुई शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त कहते हैं—)

"शिवार (शैवल) से लिपटा हुआ भी कमल मनोहर होता है, मलिन भी कलङ्क

परिवर्द्धितेति यावत् , छाया = द्युतिः यस्याः = सा तथोक्ता शोभैव कान्तिरुच्यते । तामेव स्फोरयति—**रागावतारेत्यादिना** । रागस्य = मन्मथोन्मेषेण जातस्य अनुरागस्येत्यर्थः अवतारेण = आविर्भावेन घनीकृता = निबिडीकृता, अतिविस्तीर्णेति यावत् ॥

माधुर्यं निरूपयति—**अनुल्बणत्वमिति** । अनुल्बणत्वम् = रम्यत्वम्, अभूषणेऽपि रम्यत्वमिति यावत्, माधुर्यम् ॥

अथ दीप्तिः—

—दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

यथा—

'देआ पसिअ णिअन्तसुमुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे' ॥१५४ ॥
('दैवाद् दृष्ट्वा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥')

अथ प्रागल्भ्यम्—

निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम्, यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता' ॥ १५५ ॥

अथौदार्यम्—

(लक्ष्म) चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है, यह तन्वी (युवती) पेड़ की छाल से भी अधिक मनोज्ञ दीख पड़ रही है । वस्तुतः मनोहर आकार के लिए कौन-सी वस्तु मण्डन नहीं बन जाती ? (अर्थात् सभी बन जाती हैं) ॥"

४—दीप्ति

अब दीप्ति (की परिभाषा दी जा रही) है—

कान्ति का विस्तार (विशेष पाया जाना) ही दीप्ति कहलाता है ।

जैसे—"अत्यन्त सुन्दर मुख-चन्द्र की प्रभा से अन्धकार-समूह का नाश करनेवाली हे मूढे, तुम अकस्मात् (इधर-उधर) देख कर अन्य अभिसारिकाओं के अभिसरण में भी विघ्न डालोगी ? ॥"

५—प्रागल्भ्य (प्रगल्भता)

अब प्रागल्भ्य (की परिभाषा दी जा रही) है—

भय-रहित होना ही प्रागल्भ्य = प्रगल्भता (ढिठाई) है ।

मानसिक क्षोभ (भय आदि) के कारण अङ्गों में शिथिलता आना ही साध्वस है । इस साध्वस का अभाव ही प्रगल्भता है । जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—

"वैसी लज्जाशील तथा भोली-भाली होती हुई भी उस सुन्दरी ने सभाओं में कला-प्रदर्शन की निपुणता में आचार्य-पद को प्राप्त किया ॥"

प्रागल्भ्यं निरूपयति—**निःसाध्वसमिति ।** निर्गतम् = दूरीभूतम् साध्वसम् = कलाप्रदर्शने भयमित्यर्थः यस्याः यस्य वा भावस्तादृशम्, प्रागल्भ्यम् = धाष्टर्यम् ॥

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥ ३६ ॥

यथा—'दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम् ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्म' ॥ १५६ ॥
('दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुतस्य ॥')

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि ।

अथ धैर्यम्—

चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति । यथा मालतीमाधवे—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम्' ॥ १५७ ॥

६—औदार्य

सर्वदा प्रश्रय (अर्थात् विनय) के साथ रहना ही औदार्य (उदारता) कहा गया है ॥ ३६ ॥

जैसे (गाथासप्तशती ३।२६)—

"समूचे दिन घर के निखिल कार्यों को करके श्रान्त (उस नायिका) के अति महान् भी कोप एवं दुःख (प्रिय के) चरण-तल में सो जाने से गौरव-युक्त हो गये (अर्थात् शान्त हो गये) ॥"

अथवा, जैसे 'भ्रूभङ्गे' इत्यादि (रत्नावली २।२१) इत्यादि ।

७—धैर्य

अब धैर्य (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

चञ्चलता से रहित तथा आत्म-प्रशंसा से शून्य चित्तवृत्ति को धैर्य कहा जाता है ।

चञ्चलता से अप्रभावित तथा अपने गुणों का ढिंढोरा न पीटने वाली मनोवृत्ति ही धैर्य कही जाती है । जैसे मालतीमाधव (२।२) में (मालती अपनी सखी से कह रही है)—

"प्रत्येक रात्रि में गगनतल में सम्पूर्णकलाओं से मण्डित चन्द्रमा जला करे (हमे इसकी कोई चिन्ता नहीं) । कामदेव (मुझे) जला दे (कोई परवाह नहीं) । ये दोनों मृत्यु से अधिक मेरा क्या कर लेंगे ? मुझे तो अपने प्रशंसनीय पिता, निर्मल वंश

औदार्यं निरूपयति—**औदार्यमिति** । सदा=सर्वस्मिन् काले, अपराधे सत्यसति वेत्यर्थः, प्रश्रयः=विनयः, कोपाविष्करणाभाव इत्यर्थः, औदार्यम्=उदारता ॥

धैर्यं निरूपयति—**चापलेति । चापलाविहिता**—चापलेन=चाञ्चल्येन अविहिता=अनुपस्थापिता, अप्रभावितेति यावत्, **अविकत्थना**=मुक्तात्मश्लाघा, चित्तवृत्तिः=मनोवृतिः, धैर्यमिति निगद्यते ॥

अथ स्वाभाविका दश तत्र—

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ३७ ॥

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला ।

यथा ममैव—'दिट्ठं तह् भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं' ॥ १५८ ॥
('तथा दृष्टं तथा भणितं तथा नियतं तथा तथासीनम् ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥')

यथा वा—'तेनोदितं वदति याति यथाऽसौ' आदि ॥ १५९ ॥

अथ विलास :—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दायितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः ।

यथा मालतीमाधवे—

में उत्पन्न माता और अपना निष्कलङ्क कुल ही प्रिय है । न तो यह (माधव रूप) जन तथा न अपना जीवन ही (प्रिय है) ॥"

विशेष—यहाँ तक सात अयत्नज अलङ्कारों का वर्णन किया गया है ।

अब दश स्वाभाविक अलङ्कारों का वर्णन कर रहे हैं, उनमें—

१—लीला

मधुर अङ्ग-चेष्टाओं के द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना ही लीला है ॥ ३७ ॥

प्रिय के द्वारा बोलने तथा वेष आदि धारण करने की जो शृङ्गारिक चेष्टाएँ हैं, उनका प्रियतमा जनों के द्वारा अनुकरण करना ही लीला है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

"उस नायिका ने उसी प्रकार (अर्थात् नायक के ही समान) देखा, उसी प्रकार बातें कीं, उसी प्रकार नियन्त्रण किया और उसी प्रकार आसन ग्रहण किया; जिससे (उसकी) सौतों ने विभ्रम तथा तृष्णा के साथ उसे देखा ॥"

अथवा, जैसे—"(वह नायिका) उसी (नायक) की वाणी बोलती है और जैसे वह चलता है वैसे ही चलती है ।" इत्यादि ।

२—विलास

अब विलास (की परिभाषा दी जा रही) है—

प्रिय के साक्षात्कार होने पर (नायिका के) अवयवों, क्रियाओं तथा वचनों में जो एक विशेषता पाई जाती है, उसे ही विलास कहते हैं ।

प्रियतम के दर्शन आदि के समय (नायिका के) अङ्ग, क्रिया (उठना-बैठना

लीलां निरूपयति—**प्रियानुकरणमिति । मधुराङ्गविचेष्टितैः**—मधुराणि = मनोहराणि यानि अङ्गानाम् = अवयवानाम् विचेष्टितानि = चेष्टाः तैः, **अङ्गनाभिः** = सुन्दरीभिः नायिकाभिः । अत्र क्रमेण विलासं लक्षयति—**तात्कालिकेत्यादिना** । तत्काले = प्रियावलोकनादिसमये भवस्तात्कालिकः = प्रियावलोकनकाले ॥

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त—
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य—
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत्' ॥ १६० ॥

अथ विच्छित्तिः—

आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३८ ॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः । यथा कुमारसम्भवे—
'कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः' ॥ १६१ ॥

अथ विभ्रमः—

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

आदि) तथा वचन में जो चमत्कार युक्त विशेषता उत्पन्न हो जाती है, उसे ही विलास कहते हैं । जैसे मालतीमाधव (१।२९) में माधव (अपने मित्र मकरन्द से मालती के सौन्दर्य के विषय में कह रहा है)—

"इसी बीच में, बड़े-बड़े नेत्रों वाली (मालती) के लिए कामदेव का विजयी विचित्र आचार्यत्व (शिक्षकभाव) प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता का वर्णन वाणी के सामर्थ्य से बाहर है, जिसमें विविध विलास (विभ्रम) विभूषित हो रहे थे एवं जो अत्यधिक सात्त्विक विकारों से रमणीय हो रहा था ॥"

३—विच्छित्ति

अब विच्छित्ति (की परिभाषा दी जा रही) है—

यदि स्वल्प भी वेश-रचना (आकल्प-रचना) शोभा को बढ़ा देती है तो वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है ॥ ३८ ॥

यदि थोड़ा भी वेष (अर्थात् प्रसाधन) अधिक कमनीयता को करनेवाला हो तो विच्छित्ति कही जाती है । जैसे कुमारसम्भव (७।१७) में—

"कान में लगाया गया यव का अङ्कुर लोध्र (नामक पुष्पविशेष के पराग के मलने) से कसैले तथा रूखे एवं गोरोचना के मलने से अत्यन्त गौर उस (पार्वती) के कपोल पर अत्यधिक शोभा प्राप्त कर (देखने वालों की) आँखों को आकृष्ट कर रहा था ॥"

४—विभ्रम

अब विभ्रम (की परिभाषा दी जा रही) है—

(प्रिय के आगमन आदि के) क्षण में जल्दबाजी से आभूषणों के स्थान का उलट-फेर हो जाना (अर्थात् नाक का आभूषण कान में और कान का आभूषण नाक में धारण कर लेना आदि) विभ्रम कहा गया है ।

विच्छित्तिं लक्षयति—**स्तोकोऽपीति । कान्तिपोषकृत्** = शोभापोषिका, **अल्पापि** = स्तोकापि,

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती—
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा—
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः' ॥ १६२ ॥

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वाऽऽयातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः' ॥ १६३ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥ ३९ ॥

यथा ममैव—

'रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे।

जैसे—"चन्द्रमा के थोड़ा ऊपर उठने पर, प्रिय नायक की दूती के साथ (चल रहे कान्तविषयक) वार्तालाप में तल्लीन नेत्र एवं मनवाली सुन्दरियों ने ऐसा प्रसाधन कर लिया कि उनकी सखियाँ (उनके) विपरीत अलङ्कार के विन्यास को देख कर हँसने लगीं ॥"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

"प्रिय नायक को बाहर आया जान कर श्रृङ्गार कर रही नायिका ने, जिसका श्रृङ्गार-कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ था, ललाट में अञ्जन, आँखों में लाक्षारस (महावर) तथा गालों पर तिलक लगा लिया ॥"

५—किलकिञ्चित

अब किलकिञ्चित (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

(नायिका में) क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय आदि का एक साथ होना किलकिञ्चित कहलाता है ॥ ३९ ॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है (इसमें कोई नायक अपने किसी मित्र से कह रहा है)—

"रति-क्रीडा रूपी द्यूत में किसी-किसी तरह दाँव (समय) पाकर मेरे द्वारा उस

आकल्परचना—आकल्पः = प्रसाधनं वेशो वा तस्य रचना = निर्माणम्, **विच्छित्तिः** = विच्छित्तिसंज्ञको भावो भवति। विभ्रमं निरूपयति—**विभ्रम इति**। प्रियजनागमनादिकाले त्वरया = आवेगजन्यया शीघ्रतया, **भूषास्थानविपर्ययः**—भूषाणाम् = भूषणादीनाम् स्थानं तस्य विपर्ययः = विपर्यासः, कर्णभूषणस्य नासिकायां नासिकाभूषणस्य च कर्णे निवेशनमिति भावः, विभ्रमो मतः। अत्र साहित्यदर्पणस्य लक्षणमधिकं सुस्पष्टमित्थम्—"त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु। अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ॥" किलकिञ्चितं निरूपयति—**क्रोधेत्यादि**। अभीष्टतमसङ्गमजाद्धर्षात् **क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः** = सहभावः किलकिञ्चितमिति ॥

कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित—
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम्' ॥ १६४ ॥

अथ मोट्टायितम्—

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् । यथा पद्मगुप्तस्य—

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा' ॥ १६५ ॥

यथा वा—

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु—
र्जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव—
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः' ॥ १६६ ॥

(नायिका) के अधर को पा जाने पर (अर्थात् अधर काटने पर) भौंहों को टेढ़ी करती हुई वह अपने मुख को मधुर तथा अस्पष्ट ध्वनि से युक्त कण्ठवाला तथा कुछ रोदन, मुस्कराहट एवं कोप से युक्त बना लिया । यदि वह फिर भी मेरे प्रति (वैसा) मुख बनावे (तो मजा आ जाय) ॥"

६—**मोट्टायित**

अब मोट्टायित (की परिभाषा दी जा रही) है—

प्रिय की वार्ता चलने पर उसके भाव (अनुराग) से प्रभावित हो जाना (एकतान हो जाना, लबालब भर जाना) ही मोट्टायित कहलाता है ।

प्रियतम की कथाओं आदि में अर्थात् प्रियतम की कथा तथा अनुकरण आदि में प्रियतम के अनुराग से अन्तःकरण का भर जाना ही मोट्टायित है । जैसे पद्मगुप्त का (यह पद्य है)—

"राजा के चित्रित होने पर भी (उसके चित्र को देखते समय) चित्त में (राजा के) प्रेम के आवेश से अवश बनी हुई ही वह (नायिका) अपने मुखरूपी चन्द्रमा को लज्जा के कारण थोड़ा मोड़ लिया ॥"

अथवा, जैसे—

"हे सयानी सखी, (तुम) किसे हृदय में बैठा कर बड़ी देर से रोमाञ्चित होकर जभाँई के कारण शिथिल पुतलियों वाली तथा सुमनोहर अपाङ्ग (नेत्र-कोण) वाली दृष्टि को धारण करती हुई, सोई-सी, चित्रित-सी, शून्य हृदय होकर चित्रलिखित-सी

मोट्टायितं लक्षयति—**मोट्टायितमिति । इष्टकथादिषु**—इष्टस्य = प्रियस्य कथादिषु = चर्चादिषु, आदिपदेन चित्रादीनां दर्शनं बोद्धव्यम्, **तद्भावभावना**—तस्य = प्रियस्य भावेन = अनुरागेण भावना = व्याप्तता मोट्टायित मिति ॥

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः' ॥ १६७ ॥

अथ कुट्टमितम्—

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥ ४० ॥

यथा—

'नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणा-
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः' ॥ १६८ ॥

हो गई हो । हे आत्मद्रोहिणी (अर्थात् अपने जनों से ही बात छिपाने वाली), लज्जा करने से क्या फायदा ? मुझे बतलाओ कि क्या तुम्हें कामदेव भीतर ही भीतर परेशान कर रहा है ? ॥"

अथवा, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है (इसमें कोई दूती या सखी नायक से नायिका की दशा का वर्णन करती हुई कह रही है)—

"हे सुन्दर युवक, जब सखियों के द्वारा (उस नायिका के) गुप्त काम-पीडा को जानने के लिए तुम्हारी कथा (चर्चा) प्रस्तुत की जाती है, तब (वह नायिका) पीठ को तान कर पीन स्तनों को ऊपर उठाती हुई (अर्थात् ऊँचा करती हुई), हाथों को फैला कर फिर समेटती हुई अङ्गभङ्ग तथा जँभाई से युक्त हो जाती है (अर्थात् शरीर मरोड़-मरोड़ कर जभाँई लेने लगती है) ॥"

७—कुट्टमित

अब कुट्टमित (की परिभाषा दी जा रही) है—

(रतिक्रीडा के समय रसिक प्रियतम के द्वारा) केश एवं अधर का ग्रहण किये जाने पर (अर्थात् केश को पकड़ने तथा अधर को काटने पर) भीतर ही भीतर आनन्दित होती हुई भी (नायिका जब ऊपर से) कोप प्रकट करती है तो वही कुट्टमित कहलाता है ।

जैसे—"प्रिय के द्वारा ओष्ठ के काटने पर (रोकने के लिए) हाथ के अग्रभाग (अर्थात् अँगुलियों) को हिलाती हुई स्त्री के सिसकी भर कर सूखे रुदन विजयी (अर्थात् सर्वोत्कृष्ट) हैं । (वे रुदन) रति-क्रीडा रूपी नाटक के अभिनयों के नान्दी-

---

कुट्टमितं निरूपयति—**सानन्देति । केशाधरग्रहे**—केशाश्च = कचाश्च अधरश्च = अधरोष्ठश्चेति केशाधरास्तेषां ग्रहे = प्रियेण ग्रहणे, उपलक्षणमेतत्पयोधरग्रहस्यापि, **अन्तः** = हृदये, **सानन्दा** = सातिशयं प्रमोदवती, कुप्येत = क्रुध्येत बहिरिति शेषस्तदेव कुट्टमितमिति ।

अथ बिब्बोकः—

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया ।

यथा ममैव—

'सव्याजं तिलकालकान्विरलयंल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितं
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः' ॥ १६९ ॥

अथ ललितम्—

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥ ४१ ॥

यथा ममैव—

'सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन ।

पाठ हैं अथवा (सम्भोग को घनीभूत करने के लिए) कामदेव के बड़े-बड़े आदेशाक्षर हैं ॥"

८—बिब्बोक

अब बिब्बोक (की परिभाषा दी जा रही) है—

(नायिका के द्वारा) गर्वपूर्ण अभिमान (अर्थात् अत्यन्त अभिमान) के कारण अभीष्ट (वस्तु) के प्रति भी अनादर दिखलाना बिब्बोक कहलाता है ।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है (इसमें नायक नायिका से कह रहा है)—

"हे सुन्दरि, बहाना बना कर भाल (तिलक) के बालों को विरल बनाते हुए तथा (अपनी) चञ्चल अँगुलियों से (तुम्हें) छूते हुए एवं बारम्बार दोनों स्तनों पर फहराते हुए नीले आँचल को उठाते हुए मुझको जो तुमने टेढ़ी भौंहों वाली निगाहों से अवज्ञापूर्वक देखा, उस गर्व से मैं तिरस्कृत हो गया हूँ, किन्तु फिर भी तुमने मुझे (सम्भोग का अवसर देकर) कृतार्थ नहीं किया (यही दुःख है) ॥"

९—ललित

अब ललित (की परिभाषा दी जा रही) है—

सुकोमल अङ्गों को स्निग्धता के साथ चलाना (ही) ललित कहलाता है ॥४१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

"भौंहों को टेढ़ी करके तथा किसलय जैसे हाथ को घुमाकर बात करती हुई, लोचन के कोनों से (अर्थात् कटाक्षों से) अत्यन्त मधुरतापूर्वक देखती हुई तथा

बिब्बोकं निरूपयति—**बिब्बोक इति । इष्टेऽपि**=प्रियेऽपि, वस्तुनि नीवीविस्रंसनादिरूपे स्तनादिस्पर्शे वा, **गर्वाभिमानात्**=उग्राभिमानात्, **अनादरक्रिया** =तिरस्कारकर्म, बिब्बोको नामालङ्कारः। ललितं निरूपयति—**सुकुमारेत्यादिः । मसृणः**=स्निग्धः, **सुकुमाराङ्गविन्यासः**—सुकुमाराणाम्=सुकोमलानाम् अङ्गानाम्=अवयवानाम् विन्यासः=सञ्चालनमिति यावत्, ललितं नामालङ्कारो भवेत् ॥

विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
निःसङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी' ॥ १७० ॥

अथ विहृतम्—

प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

'प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचनं तद् विहृतम् । यथा—

पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद् दुनोति' ॥ १७१ ॥

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

स्वच्छन्द गमनों में लीलापूर्वक चरण-कमलों को रखती हुई वह कमलनयनी (चढ़ती हुई) जवानी के द्वारा बिना सङ्गीत के ही नचाई जा रही है ॥"

१०—विहृत

अब विहृत (की परिभाषा दी जा रही) है —

अवसर उपस्थित होने पर भी जब (नायिका) लज्जा के कारण नहीं बोलती है, तो वही विहृत कहलाता है (अर्थात् लज्जा के कारण नायिका का न बोलना ही विहृत है)।

जिस वाक्य को कहने का अवसर उपस्थित है, उसको भी लज्जा के कारण न बोलना ही विहृत है । जैसे (अमरुशतक १३६)—

"कोपल (नवीन पत्र) के समान कान्तिवाले पैर के अँगूठे से भूमि को किसी बहाने से कुरेदती हुई; चञ्चल तारोंवाले श्वेत एवं शबल नेत्रों को बार-बार मेरे ऊपर डालती हुई; लज्जा के कारण झुके हुए, (कुछ कहने के लिए) फड़कने वाले अधर-पुट से युक्त, किसी वाक्य को (कहने के लिए) धारण किये हुए मुख को धारण करती हुई उस (नायिका) ने (अपने) मन में स्थित भी बात को जो मुझसे नहीं कहा, वही बात मेरे मानस को परेशान कर रही है ॥"

नायक के अन्य कार्यों के सहायक

(नायक के प्रेम चलाने के कार्य के सहायक विट विदूषक आदि का वर्णन किया जा चुका है) अब नायक के अन्य कार्यों के सहायकों का वर्णन किया जा रहा है—

उस (नायक) के अर्थ (आदि राजनीति) की चिन्ता करने में मन्त्री सहायक

विहृतं निरूपयति—प्राप्तकालमिति । प्राप्तकालम् = प्राप्तेऽपि वक्तव्यकाले इत्यर्थः, **व्रीडया** = लज्जया, यन्न ब्रूयात् तदेव विहृतमित्यर्थः । **प्राप्तावसरस्य**—प्राप्तः = उपस्थितः, आगत इति यावत् , अवसरः = कालो यस्य तादृशस्य, **वाक्यस्य** = वचनस्य, कथनीयस्येति यावत् , **अवचनम्** = अकथनम् ॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहायः। तत्र विभागमाह—

मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः। शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति।

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः॥ ४३॥

(सखा) होता है अथवा वह स्वयं ही (अर्थ की चिन्ता–देखभाल कर लेता है) अथवा दोनों (नायक एवं मन्त्री) ही (मिल कर उस विभाग को देखते हैं) ॥४२॥

उस नायक की स्वराष्ट्रविषयक चिन्ता (तन्त्र) तथा परराष्ट्रविषयक चिन्ता (अवाप) स्वरूप अर्थचिन्ता आदि में मन्त्री अथवा वह स्वयं या दोनों ही सहायक होते हैं।

विशेष—तन्त्र एवं अवाप—अपने राष्ट्र की देख-भाल करना, उसे चुस्त-दुरुस्त रखना, कर लेना तथा सड़क एवं नहर आदि का निर्माण तन्त्र के अन्तर्गत आता है। दूसरे के राष्ट्र में गुप्तचर भेजना, वहाँ की जनता में शत्रु राजा के प्रति विद्रोह पैदा कराना आदि अवाप के अन्तर्गत आता है।

उनका विभाग बतलाया जा रहा है—

(पीछे बतलाये गये धीरोदात्त आदि नायकों में) धीरललित के समस्त कार्यों की सिद्धि मन्त्री के आधीन होती है; और अन्य नायकों (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त एवं धीरोद्धत) की सिद्धि (अर्थात् राज्य-कार्य का सञ्चालन) मन्त्री तथा स्वयं (नायक) के द्वारा होती है।

उपर्युक्त लक्षण वाला धीरललित नेता मन्त्री के आधीन सिद्धिवाला होता है। शेष धीरोदात्त आदि (नायक) अनिश्चय रूप से कभी मन्त्री के द्वारा कभी अपने द्वारा कभी दोनों—मन्त्री एवं स्वयं—के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं, (अर्थात् राज्य का सञ्चालन करते हैं)।

(नायक के) धर्म—कार्य में तो सहायक ये हैं—

यज्ञ करने वाले (ऋत्विक्), पुरोहित, तपस्वी तथा वेदपाठी (नायक के) धार्मिक कृत्यों में सहायक होते हैं ॥४३॥

तन्त्रावापादिः—तन्त्रम् = स्वराष्ट्रचिन्तनम्, अवापः = परराष्ट्रविषयकं चिन्तनम्, स्वराष्ट्रस्य दृढीकरणं तथा परराष्ट्रस्य भेदनमिति भावः॥

मन्त्रिणेति। ललितः = उक्तलक्षणो धीरललितो नेता, **मन्त्रिणा** = सचिवेन आयत्तसिद्धिर्भवतीति शेषः, शेषाः = धीरोदात्तादयस्त्रयो **मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः**—मन्त्रिणः = सचिवस्य स्वस्य = नायकस्येत्यर्थश्च सिद्धयः = राज्यसञ्चालनादिभारो येषां ते तादृशाः॥ **तपस्विब्रह्मवादिनः**—अत्र ब्रह्मवादिनः = आत्मज्ञानिनो धनिकस्येयं व्याख्या तु न समीचीना, आत्मज्ञानां राज्ञो धर्मे सहायस्यासमयत्वात् असम्भवत्वाच्चेति॥

ब्रह्म = वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि। यदाह—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥ ४४ ॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः।

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥ ४५ ॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता।

ब्रह्म का अर्थ है वेद, वेद का पाठ या व्याख्यान करने वाले ब्रह्मवादी कहे जाते हैं अथवा आत्मज्ञानियों को ब्रह्मवादी कहते हैं। शेष (ऋत्विक् आदि) प्रसिद्ध ही हैं, (अतः उनके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है)।

दुष्टों का दमन करना दण्ड कहा गया है। उसमें सहायक ये होते हैं—

मित्र, राजकुमार, आटविक (वनविभाग के अधिकारी अथवा अरण्य-निवासी), सामन्त एवं सैनिक (नायक के) दण्डकार्य में सहायक होते हैं।

(इसकी व्याख्या) स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों में अन्य सहायकों की नियुक्ति करनी चाहिये। जैसे कि कहा गया है—

रनिवास (अन्तःपुर) में वर्षवर (नपुंसक), किरात, गूँगे, बौने, म्लेच्छ, अहीर और शकार आदि—(ये सभी राजा के लिए) अपने-अपने कार्य में उपयोगी होते हैं ॥ ४४-४५ ॥

शकार राजा का साला एवं नीच जाति का होता है।

विशेष—

शकारः—शकार मूर्ख, घमण्डी, नीच कुल में उत्पन्न तथा राजा की रखैल स्त्री का भाई होता है।

(इन नायक आदि का) अन्य भेद बतलाया जा रहा है—

(इन नायक आदि) सभी की ज्येष्ठ (उत्तम) मध्यम तथा अधम भेद से त्रिरूपता (अर्थात् त्रिविधता) होती है। और (इनकी) उत्तमता (मध्यमता एवं अधमता) आदि पीछे कहे गये गुणों के तारतम्य (अर्थात उन गुणों की विशेषता की कमी-बेशी) से होती है ॥४५-४६॥

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥ ४६ ॥

उक्तो नायकः, तद्व्यापारस्तूच्यते—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा,

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः, सा च कैशिकी-सात्त्वती-आरभटी-भारती-भेदाच्चतुर्विधा।

इस प्रकार नायक, नायिका, दूत, दूती, मन्त्री तथा पुरोहित आदि के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से, तीन प्रकार होते हैं। यह उत्तम आदि विभाग गुणों की संख्या की अधिकता और कमी के आधार पर नहीं होते। तो किसके आधार पर होते हैं ? गुणों की विशेषता के तारतम्य (कमी एवं वृद्धि) से होते हैं।

विशेष—उत्तमादिभावश्च⋯गुणातिशयतारतम्येन । भावप्रकाशन (चतुर्थ अधिकार) में यह बतलाया गया है कि—नायक के लिए बतलाये गये सभी सातों गुण जिसमें हों वह उत्तम नायक है। कुछ गुणों से युक्त मध्यम तथा बहुत गुणों से हीन अधम नायक होता है।—"उक्तसर्वगुणोपेतो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते। द्वित्रैर्वा पञ्चषैर्वापि गुणैर्हीनोऽथ मध्यमः॥ हीनो गुणैश्च बहुभिरधमः परिकीर्तितः।" किन्तु धनञ्जय एवं धनिक यह नहीं मानते हैं। उनके अनुसार महासत्त्व आदि पूर्व निर्दिष्ट नायक के गुण जिसमें अधिक या उत्कृष्ट मात्रा में हों वह उत्तम नायक होगा। उत्तम की अपेक्षा गुणों की अल्प मात्रा जिसमें हो, वह मध्यम तथा गुणों की अल्पतर मात्रा वाला नायक अधम नायक होगा।

इस प्रकार नाट्य (रूपक) में परिच्छद (मित्र, सहायक आदि) के सहित नायक का विधान करना चाहिए ॥४६॥

भारती आदि (नाट्य) वृत्तियाँ

नायक का वर्णन किया जा चुका है। अब उसके व्यापार (प्रवृत्तियों) का वर्णन किया जा रहा है—

उस (नायक) के व्यापार (अर्थात् मानसिक, वाचिक तथा कायिक व्यापार) को ही वृत्ति कहा जाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की होती है।

प्रवृत्तिस्वरूप नायक आदि के व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति है। वह वृत्ति (१) कैशिकी, (२) सात्त्वती, (३) आरभटी तथा (४) भारती के भेद से चार प्रकार की होती है।

नायकादीन् सर्वान् विभजते—**ज्येष्ठेत्यादिना**। **सर्वेषाम्**=नायकादीनामित्यर्थः, **त्रिरूपता**=त्रिविधता, **गुणानाम्**=महासत्त्वादीनां नायकगुणानाम्, **तारतम्यात्**=उत्कर्षा-पकर्षभावात **उत्तमादिता**=उत्तमध्यमाधमभावाः, न तु गुणसंख्याधिक्येनेति भावः। **गुणातिशयतारतम्येन** गुणानामति[illegible]

—तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः श्रृङ्गारचेष्टितैः ॥ ४७ ॥

तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदुः श्रृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी । सा तु—

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८ ॥
हास्येनैव सश्रृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः श्रृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥

१—कैशिकी वृत्ति

इन (वृत्तियों) में गीत, नृत्य, विलास आदि श्रृङ्गारिक चेष्टाओं से युक्त कोमल वृत्ति कैशिकी कहलाती है ॥४७॥

उन (वृत्तियों) में गीत, नृत्य, विलास तथा कामोपभोग आदि से युक्त, कोमल, श्रृङ्गारिक एवं काम (पुरुषार्थ) से समन्वित (नायक आदि का) व्यापार कैशिकी वृत्ति है । और, वह

(क) नर्म, (ख) नर्मस्फिञ्ज, (ग) नर्मस्फोट तथा (घ) नर्मगर्भ—भेद से चार अङ्ग (भेद) वाली होती है ।

(कारिका में आये) तत् इस पद के द्वारा सर्वत्र (अर्थात्–तत्स्फिञ्ज, तत्स्फोट तथा तद्गर्भ—इन शब्दों में) नर्म का ग्रहण किया गया है ।

उन में (अर्थात् कैशिकी के चार अङ्गों में)

प्रिया नायिका (अथवा नायिका के पक्ष से प्रिय को) प्रसन्न करनेवाली विदग्धता से पूर्ण क्रीडा को नर्म कहा गया है ॥४८॥

(सर्वप्रथम) वह नर्म तीन प्रकार का होता है—(A) हास्य से किया गया (नर्म),(B) श्रृङ्गार के सहित हास्य से किया गया (नर्म) तथा (C) भयमिश्रित हास्य से किया गया (नर्म) । इनमें (B) श्रृङ्गार के सहित (हास्य से किया गया) नर्म भी तीन प्रकार का होता है—(अ) आत्मोपक्षेप (अर्थात् जहाँ नायक या नायिका अपने प्रेम को प्रकट करते हैं), (आ) सम्भोग (अर्थात् जहाँ सम्भोग की

नाटके=रूपके, **सपरिच्छदः**—परिच्छदेन=परिजनवर्गेण सहितः सपरिच्छदः=सपरिजनः । **तद्व्यापारात्मिका**—तस्य=नायकस्य व्यापारः=क्रिया एव आत्मा=शरीरं यासां तास्तथा, **प्रवृत्तिरूपः**—प्रवृत्तिः=प्रवर्तनं कार्यारम्भ इति यावत् तत्स्वरूपः । **वैदग्ध्य-क्रीडितम्**—वैदग्ध्येन=विलासेन क्रीडितम्=विलसितम्, खेलनमिति यावत्, **प्रियोपच्छन्दनात्मकम्**—प्रियायाः=प्रियेण प्रेयस्या इत्यर्थो वा प्रियस्य=प्रियतमस्य प्रियतमयेति यावत् उपच्छन्दनम्=अनुरञ्जनम् एव आत्मा=शरीरं यस्य तदिति ।

शुद्धमङ्ग भयं द्वेधा, त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५० ॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म, तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन सभयहास्येन रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन—सम्भोगेच्छाप्रकाशन—सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम् । एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान' ॥ १७२ ॥

वेषनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्र उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।

कामना प्रकट की जाय) तथा (इ) मान (अर्थात् जहाँ प्रिय के अनिष्ट करने पर नायिका मान करती है) ॥४९॥

(C) भयमिश्रित हास्य से किया गया (नर्म) भी दो प्रकार का होता है— (अ) शुद्ध और (आ) अङ्ग । इस तरह हास्य (से किये गये) नर्म को लेकर यह सब (अर्थात् सब ६ प्रकार के नर्म) वाक् , वेष तथा चेष्टा के भेद से तीन-तीन तरह के होते हैं । इस तरह (६ × ३ = १८) अट्ठारह प्रकार का नर्म कहा गया है ॥५०॥

प्रियजनों को प्रसन्न करने वाला, नागरिक (सभ्यतापूर्ण = शिष्ट) परिहास ही नर्म कहलाता है । वह एक मात्र हँसी से शृङ्गारपूर्ण हास्य से तथा भय सहित हास्य से किया जाने के कारण तीन प्रकार का होता है (—१—शुद्ध हास्य, २—शृङ्गारी हास्य तथा ३—भययुक्त हास्य) । शृङ्गारपूर्ण हास्य से किया गया नर्म भी—(क) (नायिका के द्वारा) अपने अनुराग का निवेदन (आत्मोपक्षेप), (ख) (नायिका के द्वारा) सम्भोग की इच्छा को व्यक्त करना एवं (ग) अपराध करने वाले प्रिय के ऊपर कोप करना (प्रतिभेदन)—के भेद से तीन प्रकार का होता है । भयसहित हास्य से किया जाने वाला नर्म भी—(A) शुद्ध भय एवं (B) अन्य किसी रस के अङ्गभूत भय के भेद से—दो प्रकार का होता है । इस प्रकार छः प्रकार के नर्म में प्रत्येक के वाक् (भाषण), वेष तथा चेष्टा के भेद से अट्ठारह भेद बन जाते हैं । उनमें वचोहास्य रूप नर्म यह है, जैसे (कुमारसंभव ७।१९)—

"चरणों को (अलक्तक से) रँग कर जब सखी ने पार्वती को मजाक में यह आशीर्वाद दिया कि—'इससे पति के शिर की चन्द्रकला का स्पर्श करो' तब उन्होंने उसे (अर्थात् सखी को) बिना कुछ कहे ही माला से मारा ॥"

वेषनर्म नागानन्द में विदूषक तथा शेखरक के प्रसङ्ग में है । क्रिया-हास्य-नर्म यह है, जैसे—मालविकाग्निमित्र में स्वप्न में बड़बड़ाते हुए विदूषक के ऊपर निपुणिका

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः ।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः' ॥ १७३ ॥

सम्भोगनर्म यथा—

'सालोए व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स' ॥ १७४ ॥
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ॥')

माननर्म यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥' १७५ ॥

सर्प के भ्रम को पैदा करनेवाले दण्ड-काष्ठ को गिराती है। इसी तरह आगे कहे जाने वाले भेदों में भी वाक्, वेष तथा चेष्टा के विषय के उदाहरण दिये जाने चाहिए।
२—(क) शृङ्गारयुक्त आत्मोपक्षेप नर्म (का उदाहरण) यह है, जैसे (प्याऊँ पर पानी पिलाने वाली कोई स्त्री कामातुर हो किसी पथिक से कह रही है)—

"हे पथिक, (यहीं पर) दोपहरी को बिता लो, पसीना सुखा लो, रुक कर पानी पियो, 'सूना है' ऐसा समझ कर विवश होकर इस शीतल प्रपामण्डप (प्याऊँ की झोपड़ी) को मत छोड़ो, (यहाँ बैठ कर तुम) कामदेव के घातक बाणों से त्रस्त अपनी प्रिया को ही याद करो, (क्योंकि) हे राही, प्रपापालिकाएँ (अर्थात् प्याऊँ पर पानी पिलाने वाली स्त्रियाँ) तो तुम्हारे चित्त का अनुरञ्जन प्रायः नहीं ही करती हैं ॥"

(ख) शृङ्गारयुक्त सम्भोग नर्म यह है, जैसे (गाथा सप्तशती २।३०)—

"(अभी) सूर्य का प्रकाश रहते ही हँसती हुई गृहिणी न चाहते हुए भी, हँस रहे गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर हिला रही है।"

(ग) शृङ्गारयुक्त मान नर्म यह है, जैसे (माघ ११, में कोई नायिका अपने पास किसी दूसरी नायिका का वस्त्र पहन कर आए हुए किसी नायक से व्यङ्गपूर्वक कह रही है)—

"जो कि तुमने कहा था कि 'तुम मेरी प्रिया हो' वह सच ही है। यही कारण है, कि तुम अपनी (किसी दूसरी) प्रिया के वस्त्र को धारण करके मेरे निवास-स्थान पर आये हो। क्योंकि कामी व्यक्तियों की शृङ्गार-शोभा प्रियतमा के द्वारा देखने पर ही सार्थक हुआ करती है ॥"

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे 'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण ता देवीए णिवेदइस्सम्' ('ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद्देव्यै निवेदयिष्यामि ।') इत्यादि ।

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्' ॥ १७६ ॥

अथ नर्मस्फिञ्जः—

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः—

'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि' ॥ १७७ ॥

भयनर्म (अर्थात् शुद्ध भय नर्म) यह है, जैसे रत्नावली (२.१५-१६) के चित्र-प्रदर्शन के अवसर पर 'सुसङ्गता—(परिहासपूर्वक राजा से कह रही है) चित्र-फलक के सहित यह सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने जान लिया है, तो अब जाकर (इसे) महारानी से कहूँगी ।' इत्यादि । शृङ्गार का अङ्गभूत भयनर्म यह है, जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—

"प्रमाणित हो चुका है अपराध जिसका ऐसा तथा (मानवती नायिका को मनाने के) विफल हो चुके हैं समस्त उपाय जिसके ऐसा वह धूर्त नायक काफी देर तक सोच कर एकाएक बनावटी घबराहट दिखलाते हुए 'यह पीछे क्या है, पीछे क्या है !' इस प्रकार नायिका को डराकर पास सटते हुए मुस्कराहटपूर्वक मधुरता के साथ उस नायिका को आलिङ्गित किया ॥"

नर्मस्फिञ्ज

अब नर्मस्फिञ्ज (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ नवीन सङ्गम के अवसर पर (नायक एवं नायिका को) आरम्भ में सुख होता और अन्त में भय (कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है) तो वहाँ नर्मस्फिञ्ज कहलाता है । (४।१३)

जैसे मालविकाग्निमित्र (४।१३) में सङ्केत-स्थान पर नायक (अग्निमित्र) के पास अभिसरण करनेवाली नायिका (मालविका) के प्रति नायक कहता है—"हे सुन्दरि, (नव) समागम के भय को छोड़ दो, बड़ी देर से (तुम्हारे) प्रणय की

अथ नर्मस्फिञ्जं लक्षयति—**नर्मस्फिञ्ज इति । सुखारम्भः**—सुखमारम्भे प्रारम्भे यस्य सः तथोक्तः, **भयान्तः**—भयम् = भीतिः अन्ते = अवसाने यस्य स तथोक्तः, **नवसङ्गमे**—नवे = नूतने सङ्गमे = मिलने, **नर्मस्फिञ्जः**—नर्मणा स्फिञ्जते = प्रकाशते इति ।

'मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि ।' ('भर्त्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।') इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्दः—

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम्' ॥ १७८ ॥

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ।

अथ नर्मगर्भः—

प्रतीक्षा करनेवाले अतः आम्रवृक्ष के समान हो जाने वाले मेरे साथ तुम माधवी लता-सा आचरण करो (अर्थात् जैसे माधवी लता आम्र-वृक्ष को लपेटती है, वैसे ही तुम मुझे भी अपनी बाँहों में कस कर लपेट लो) ॥"

मालविका—स्वामिन्, महारानी के भय से मैं अपना प्रिय (आप का दर्शन एवं आलिङ्गन) भी नहीं कर पा रही हूँ ।" इत्यादि ।

नर्मस्फोट

अब नर्मस्फोट (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ पर (सात्त्विक आदि) भावों के लेशमात्र से स्वल्प रस सूचित होता है, वहाँ नर्मस्फोट होता है ॥ ५१ ॥

जैसे मालतीमाधव (१।२०) में—"मकरन्द—(माधव की अवस्था के वर्णन के प्रसङ्ग में कह रहा है)

इसकी चाल अलसाई है, दृष्टि सूनी है, शरीर सुन्दरता से रहित हो गया है, श्वास अधिक चल रहा है, यह क्या (बात) है ? अथवा इसके अतिरिक्त क्या हो सकता है कि संसार में कामदेव की आज्ञा विचरण कर रही है तथा चढ़ती जवानी विकार उत्पन्न करनेवाली है । अतः अनेक प्रकार के ललित एवं मधुर भाव (युवकों की) धीरता को समाप्त कर देते हैं ॥"

यहाँ (आलस्ययुक्त) चाल आदि भावलेशों के द्वारा माधव का मालती के प्रति थोड़ा अनुराग प्रदर्शित किया गया है ।

नर्मगर्भ

अब नर्मगर्भ (की परिभाषा दी जा रही) है—

नर्मस्फोटं लक्षयति—**नर्मस्फोट इति । भावानाम्** = सात्त्विकादिभावानाम्, **लवैः** = लेशैः, ईषत्प्रकाशितैर्भावैरित्यर्थः, **सूचितः** = द्योतितः, **अल्परसः** = अल्पो रसः = श्रृङ्गारो **नर्मस्फोटः**—नर्मणः स्फोटः = अभिव्यक्तिर्यत्र स तादृशो मतः ॥

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।

यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति' ॥ १७९ ॥

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद्वत्सराज-प्रवेशः ।

अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी ॥ ५२ ॥

अथ सात्त्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती, तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

किसी प्रयोजन के लिए नायक का गुप्तरूप से व्यवहार ही नर्मगर्भ कहलाता है ।

जैसे, अमरुशतक (१९) में--"एक ही आसन पर दोनों प्रियतमाओं को बैठी देख कर दबे पैरों पीछे से आकर मजाक करने के बहाने से एक (अर्थात् ज्येष्ठा नायिका) की आँखों को ढंक कर जरा अपनी गर्दन टेढ़ी करके रोमाञ्चित वह धूर्त नायक प्रेम के कारण प्रफुल्लित मनवाली तथा भीतर ही भीतर आ रही हँसी के कारण सुशोभित कपोलस्थलवाली दूसरी (अर्थात् कनिष्ठा नायिका) का चुम्बन करता है ॥"

और जैसे प्रियदर्शिका नाटिका के गर्भाङ्क में वत्सराज के वेश को धारण की हुई सुसङ्गता के स्थान पर स्वयं वत्सराज का ही प्रवेश होता है ।

यहाँ यह कैशिकी वृत्ति इन हास्य-सहित तथा हास्य-रहित अङ्गों के साथ प्रतिपादित की गई ॥ ५२ ॥

२. सात्त्वती वृत्ति

अब सात्त्वती (वृत्ति की परिभाषा लिखी जा रही) है—

सात्त्वती वृत्ति शोक-विहीन होती है । यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव (सरलता) से समन्वित होती है । इसमें (चार अङ्ग) होते हैं—(१)—संलाप, (२) उत्थापक, (३) सांघात्य और (४) परिवर्तक ॥ ५३ ॥

शोक-रहित; सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया तथा हर्ष आदि भावों के बाद होने वाला नायक-व्यापार ही सात्त्वती वृत्ति है । इस सात्त्वती वृत्ति के संलाप, उत्थापक, सांघात्य तथा परिवर्तक—नामवाले चार अङ्ग हैं ।

नर्मगर्भं लक्षयति—**छन्नेत्यादिना ।** **अर्थहेतवे** =प्रयोजनवशात्, **छन्ननेतृप्रतीचारः**—छन्नः=प्रच्छन्नीभूय तिष्ठन् यो नेता तस्य प्रतीचारः=व्यवहारः प्रवेशो वा, अथवा—छन्नो नेतुर्यो प्रतीचारः=व्यवहारः स **नर्मगर्भः**—नर्म गर्भे यस्य स तादृशः ॥

तत्र—

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

यथा वीरचरिते–'रामः–अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः । परशुरामः—राम राम दाशरथे, स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः—

'शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे' ॥ १८० ॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति । अथोत्थापकः—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५४ ॥

विशेष—सत्त्व०—मन तथा मन के व्यापार को सत्त्व कहा गया है । मानसिक व्यापार ही सात्त्वती वृत्ति है ।

(क) संलापक

उन (चार अङ्गों) में—अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त (पात्रों का) पारस्परिक गम्भीर वार्तालाप ही संलापक (संलाप) कहा जाता है ।

जैसे महावीरचरित (२।३४) में—राम—यह वही परशु है जिसे भगवान् शङ्कर ने ससैन्य कार्तिकेय के ऊपर विजय प्राप्त करने पर आकृष्ट होकर एक हजार वर्ष पर्यन्त शिष्य रहने वाले आपको उपहार में प्रदान किया था ।

परशुराम—राम, दशरथकुमार राम, आचार्य-चरणों का यह वही प्रिय परशु है—

"शस्त्र-प्रयोग की परीक्षा (खुरली) की प्रतिस्पर्धा में गणों की सेना से घिरे हुए कार्तिकेय मेरे द्वारा जीत लिये गये । इतने से ही गुणग्राही भगवान् मेरे गुरु (शङ्कर) ने कृपा करके (मुझे) छाती से लगा कर इसे दिया था ॥"

इसी प्रकार अनेकविध भावों तथा रसों से युक्त राम एवं परशुराम के पारस्परिक गम्भीर वचनों में संलापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) है ।

(ख) उत्थापक

अब उत्थापक (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ पहले-पहल (एक पात्र) दूसरे (पात्र) को युद्ध के लिए उत्तेजित (उत्थापित) करे, वहाँ उत्थापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग होता) है ॥ ५३ ॥

सात्त्वतीं वृत्तिं लक्षयति—**विशोकेति ।** **विशोका** = शोक-शून्या, **आर्जवः** = सरलता । **सत्त्वशौर्येत्यादिः**—सत्त्वम् = मनस्तद्व्यापारश्च शौर्यम् = उत्साहभावना त्यागः = वितरणम् हर्षः = प्रसन्नता आदयो भावाः उत्तरमनन्तरं यस्य स तादृशो नायकव्यापारः । संलापकं लक्षयति—**संलापक इति ।** **नानाभावरसा**—नाना = बहुविधाः भावाः रसाश्च यस्यां तादृशी, मिथः =

यथा वीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम्' ॥ १८१ ॥

अथ साङ्घात्य :—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम्।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम्। अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम्। दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि।

अथ परिवर्तकः—

जैसे महावीरचरित (५।४९ राम के प्रति बालि कथन) में—

"तुम मुझे आनन्द के लिए दिखलाई दिये हो अथवा विस्मय या दुःख के लिए (मैं नहीं कह सकता)। तुम्हारे दर्शन होने पर आज मेरे नेत्रों को भला तृप्ति कहाँ से हो सकती है ? (अर्थात् नहीं हो सकती)। मैं तुम्हारी सङ्गति से होने वाले सुख का पात्र नहीं हूँ। अधिक कहने से क्या लाभ ? (अर्थात् कुछ नहीं)। परशुराम के ऊपर विजय करने से जगद्विदित इस (आप की) बाहु में धनुष (मेरे साथ लड़ने के लिए) चञ्चल होवे (अर्थात् मेरे साथ युद्ध के लिए तुम धनुष धारण करो) ॥"

(ग) सांघात्य

अब सांघात्य (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति तथा दैवशक्ति आदि से (शत्रु के) संघ का भेदन (फूट) हो वहाँ साङ्घात्य (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है।

मन्त्रशक्ति से (शत्रु के संघ के भेदन का उदाहरण है), जैसे मुद्राराक्षस (नाटक) में चाणक्य के द्वारा अपनी बुद्धि से राक्षस के सहायक आदि का भेदन (किया गया) है। अर्थशक्ति का उदाहरण—जैसे वहीं (मुद्राराक्षस में ही) पर्वतक के आभूषणों का राक्षस के हाथ में पहुँच जाने से मलयकेतु के साथ शिर उठाने वाले राजाओं का भेदन किया गया है। दैवशक्ति का उदाहरण—जैसे रामायण में राम की दैवी शक्ति के द्वारा रावण से विभीषण का फोड़ना (भेद डाल कर अलग करना) आदि।

(घ) परिवर्तक

अब परिवर्तक (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

परस्परम्, **गभीरोक्तिः**—गभीरा = गम्भीरा चासौ उक्तिः = कथनम् संलापक इति। उत्थापकं लक्षयति—**उत्थापक इति।** यत्र **आदौ** = प्रथमम्, एक इति शेषः, **परम्** = अन्यम्, **युद्धाय** = संग्रामाय, उत्थापयेत् तत्रोत्थापकं नामाङ्गं भवति। साङ्घात्यं लक्षयति—**मन्त्रेत्यादिना।** द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति नीत्या शक्तिपदस्य मन्त्रशक्त्या, अर्थशक्त्या, दैवशक्त्या चेति त्रिभिरन्वयः॥

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ॥ ५५ ॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा वीरचरिते-

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम्' ॥ १८२ ॥

रामः—भगवन्, परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।' इत्यादि ।

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्वती

सात्त्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

आरभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

आरम्भ किये गये प्रचलित कार्य को छोड़ कर अन्य कार्य को करना ही परिवर्तक है ॥ ५५ ॥

प्रस्तुत एवं प्रचलित कार्य को छोड़ कर दूसरे कार्य का करना ही परिवर्तक है । जैसे महावीरचरित (२।३८ राम के प्रति परशुराम की उक्ति) में—

"गणेश के मुशल जैसे मोटे दाँत से खरोंचा गया एक भाग वाला तथा कार्तिक के बाणों के घावों से चिह्नित मेरा वक्षःस्थल आज (तुम जैसे) अद्भुत वीर के मिल जाने से रोमाञ्चरूपी कञ्चुक से पूर्ण होकर वस्तुतः तुमसे लिपट जाना चाहता है ॥"

राम—भगवन्, लिपट जाना, यह तो प्रस्तुत (कार्य) के विपरीत है ।

विशेष—प्रस्तुतप्रतीपम्—परशुराम राम की वीरता से प्रभावित हो कर, उनसे युद्ध न कर, उनका आलिङ्गन करना चाहते हैं—यही प्रस्तुत के विपरीत है ।

सात्त्वती वृत्ति इन (उपर्युक्त) अङ्गों से चार प्रकार की होती है ।

सात्त्वती का उपसंहार करते हुए आरभटी वृत्ति का लक्षण बतला रहे हैं—

४—आरभटी वृत्ति

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध एवं उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं से (युक्त) आरभटी वृत्ति हुआ करती है (अर्थात् आरभटी वृत्ति में माया आदि चेष्टाएँ पाई जाती हैं) ॥ ५६ ॥

(इस आरभटी के चार भेद होते हैं—) क—संक्षिप्तिका, ख—संफेट, ग—वस्तूत्थान तथा घ—अवपातन ।

परिवर्तकलक्षणं निरूपयति—**प्रारब्धेत्यादिना** । प्रारब्धात्=आरब्धात् उत्थानकार्यात्=प्रस्तुतकार्यात्, कर्तुं गृहीतात्कार्यादित्यर्थः, अन्यस्य=तद्भिन्नस्य करणात्=सम्पादनात् परिवर्तयति कर्तारमिति परिवर्तको नाम सात्त्वतीभेदः । "प्रारब्धात् उत्थानकार्यात् पौरुषकार्यात् युद्धादेः" इति व्याख्या तु परम्पराविरोधादर्थसङ्गत्यभावाच्च न ग्राह्या ॥

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

तत्र—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥ ५७ ॥
पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्तिः, यथोदयनचरिते किलिञ्ज-हस्तियोगः । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिकां मन्यन्ते । यथा वालि-निवृत्त्या सुग्रीवः, यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादिना ।

माया का अर्थ है—मन्त्र के बल से अविद्यमान भी वस्तु का प्रदर्शन करना और तन्त्र के बल से अविद्यमान वस्तु का दिखला देना (या उपस्थित वस्तु को गायब कर देना) इन्द्रजाल कहा गया है ।

क—संक्षिप्तिका या संक्षिप्ति

उनमें—शिल्प के द्वारा किसी वस्तु की संक्षिप्त रचना संक्षिप्ति कही गई है ॥ ५८ ॥

दूसरे लोगों का मत है कि—प्रथम नायक के चले जाने पर दूसरे नायक का आना ही संक्षिप्ति है ।

मिट्टी, बाँस, पत्ते तथा चमड़े आदि पदार्थों से किसी वस्तु का निर्माण संक्षिप्ति कहलाती है; जैसे उदयन के चरित में किलिञ्ज (चटाई) से निर्मित हाथी का प्रयोग किया गया है । कुछ दूसरे लोग यह मानते हैं कि नायक की पूर्व अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना ही संक्षिप्तिका है । उदाहरणार्थ जैसे बालि के हट जाने पर सुग्रीव (नायक बनता) है और जैसे परशुराम में, उद्दण्डता के हट जाने से "ब्राह्मणजाति पवित्र होती है (वीरचरित ४।२२)" इत्यादि कथन के माध्यम से, शान्त अवस्था की (उनमें) उत्पत्ति दिखलाई गई है ।

विशेष—पूर्वनायकावस्थेत्यादि—धनञ्जय के अनुसार एक नायक के हट जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना ही संक्षिप्ति है । इसका उदाहरण है—बालि के स्थान पर सुग्रीव का आना । किन्तु धनिक इसके साथ ही किसी एक ही नायक के द्वारा एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था का धारण करना भी संक्षिप्ति मानते हैं । इसका उदाहरण है—परशुराम के द्वारा कोप का परित्याग कर शान्ति धारण करना ।

सम्फेटं लक्षयति—**संफेट इति । क्रुद्धसंरब्धयोः**—क्रुद्धौ = कुपितौ च तौ संरब्धौ चेति कर्मधारयः तयोस्तथोक्तयोः, **द्वयोः** = परस्परं शत्रुभूतयोर्द्वयोर्जनयोः **समाघातः** = कटूक्तिभिः प्रहारः संफेटो नाम आरभटीभेदः ॥

अथ संफेटः—

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

यथा माधवाऽघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम् —

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भस्विन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।
एतैश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चत्याननकन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवाः फेरवाः ॥ १८३ ॥

इत्यादि ।

अथाऽवपातः—

ख—संफेट

अत्यन्त कुपित तथा उत्तेजनायुक्त (विरोधी) दो व्यक्तियों का (परस्पर) प्रहार करना ही संफेट (नामक आरभटीवृत्ति का अङ्ग) है ॥ ५८ ॥

अब संफेट (की परिभाषा दी जा रही) है—

जैसे मालतीमाधव में माधव तथा अघोरघण्ट एवं रामायण में उपनिबद्ध कथा में मेघनाद और लक्ष्मण का (परस्पर एक-दूसरे पर प्रहार वर्णित) है ।

ग—वस्तूत्थापन

अब वस्तूत्थापन (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

माया (तथा इन्द्रजाल) आदि के द्वारा (किसी) वस्तु को प्रदर्शित करना वस्तूत्थापन कहा गया है ।

जैसे, उदात्तराघव (नाटक) में—

"(अँधेरे को) जीतने वाली, चमकीली सूर्य की सारी प्रभा भी एकाएक आकाश में व्याप्त होने वाले सघन अन्धकार-समूह के द्वारा (न जाने) कैसे जीत ली गयी है ? भीषण रुण्ड-मुण्डों के छिद्रों से (बहने वाली) रुधिर-धारा (के पीने) से फूले पेटवाले सियार जोर से चिल्लाते हुए अपनी मुख-कन्दरा से (न जाने क्यों) इधर आग छोड़ रहे हैं ।।" इत्यादि ॥

घ—अवपात

अब अवपात की परिभाषा (की जा रही) है—

रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु—रामायणे वाल्मीकीये काव्ये प्रतिबद्धानि = वर्णितानि यानि वस्तूनि = पात्राणीति यावत् तेषु । अथ वस्तूत्थापनं लक्षयति—**मायेत्यादिना । मायया** = उक्तलक्षणया मन्त्रशक्त्या, आदिपदेनेन्द्रजालस्य ग्रहणं बोद्धव्यम् ॥

अवपातस्तु निष्कामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

कण्ठे कृत्वाऽवशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥ १८४ ॥
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा-
मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥ १८५ ॥

यथा च प्रियदर्शिकायां प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ।

उपसंहरति—

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम्—

—नार्थवृत्तिरतः परा ।
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६० ॥

(पात्रों के) निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास एवं भयवश पलायन के द्वारा अवपात (नामक आरभटीवृत्ति का अङ्ग होता) है ॥ ५९ ॥

जैसे रत्नावली (२।२) में (अश्वशाला से छूटे हुए बन्दर को देख कर रनिवास के लोगों के भयभीत हो पलायन का वर्णन है)—

"गले में टूटने से बची हुई सुवर्ण-निर्मित जञ्जीर को नीचे (जमीन पर) घसीटता हुआ, उछल-कूद के कारण चञ्चल चरणों में बजते हुए घुँघुरुओं के समूहवाला, दरवाजों को पार कर, हाथियों को आतङ्कित करने वाला, हड़बड़ा कर अश्व-रक्षकों के द्वारा पीछा किया जाता हुआ, घुड़शाल से छूट कर भागा हुआ यह बन्दर राजमहल में प्रवेश कर रहा है ॥ २।२ ॥

(और भी)—

मनुष्य में (वस्तुतः पुरुषों में) गणना न होने के कारण लज्जा को छोड़ कर नपुंसक भाग कर छिप गये हैं। यह बौना भयवश कञ्चुकी के जामे में घुस रहा है। (अन्तःपुर के) प्रान्तभाग में रहने वाले किरातों के द्वारा अपने नाम के अनुरूप किया गया है (अर्थात् वे भी भाग कर अन्तःपुर के बाहर खड़े हुए हैं)। अपने को देख लिये जाने की आशङ्का करने वाले कुबड़े चुपके से झुक कर ही जा रहे हैं ॥ २।३ ॥"

और, जैसे प्रियदर्शिका के पहले अङ्क में विन्ध्यकेतु का आक्रमण होने पर (भाग-दौड़ का वर्णन है)।

(आरभटी वृत्ति का) उपसंहार कर रहे हैं—

इन अङ्गों के कारण यह (आरभटी नामक वृत्ति) चार प्रकार की होती है ।

उद्भट के अनुयायियों की पाँचवीं वृत्ति का खण्डन

इनके अतिरिक्त (अर्थात् कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी के अतिरिक्त) कोई

कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते॥ ६१॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात्। तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः। भारती तु शब्द वृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या।

वृत्तिनियममाह—

शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ ६२॥

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह—

अन्य अर्थवृत्ति नहीं है। (उक्त तीन के अतिरिक्त) चौथी भारतीवृत्ति है, जिसका वर्णन (आगे) नाटक के लक्षण के अवसर पर किया जायगा॥ ६०॥

उद्भट के मतानुयायी (भारतीवृत्ति को लेकर) कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी नामक अर्थवृत्तियों को स्वीकार करते हुए एक पाँचवीं वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं (जो आवश्यक नहीं है)॥ ६१॥

वह (पाँचवी वृत्ति) तो लक्ष्य-ग्रन्थों (अर्थात् रूपकों) में कहीं भी नहीं दिखलायी देती और वह रसों में उपयुक्त भी नहीं होती है; क्योंकि सभी हास्य आदि रसों की स्वरूपतःसिद्धि भारतीवृत्ति में ही उपपन्न हो जाती है।

(**उद्भटमत के अनुयायी**—ठीक है, अर्थवृत्ति रसों का अनुसरण नहीं करती है। फिर भी हम इसे वृत्तियों की श्रेणी में रखते हैं।)

उत्तर—नीरस कोई वस्तु काव्यार्थ नहीं हो सकती है। अतः ये तीन (कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी) ही अर्थवृत्तियाँ हैं। (इनके अतिरिक्त कोई दूसरी वृत्ति नहीं है)। भारतीवृत्ति तो शब्दवृत्ति है। वह आमुख का अङ्ग हुआ करती है। अतः उसका विवेचन वहीं (आमुख के प्रकरण में) किया जायगा।

रस एवं वृत्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध

वृत्तियों (के प्रयोग) का नियम बतला रहे हैं—

शृङ्गार-रस में कैशिकी, वीर-रस में सात्त्वती और रौद्र तथा बीभत्स-रस में आरभटी का प्रयोग होना चाहिए। (इसके अतिरिक्त) भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में होना चाहिए (यतः भारतीवृत्ति शब्दवृत्ति है)॥ ६२॥

विशेष—यहाँ शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानक का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए। आगे (४.४३-४५) कहा जायगा कि हास्य आदि क्रमशः शृङ्गार आदि से ही उत्पन्न हुए हैं।

नाट्य-प्रवृत्तियाँ

देश के भेद से नायक आदि का भिन्न वेष धारण करना आदि कार्य प्रवृत्ति कहलाता है।

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ।। ६३ ।।

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ।। ६४ ।।

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् । सौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ।। ६५ ।।
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ।। ६६ ।।

देश के अनुरूप (नायक आदि पात्रों की) भाषा, क्रिया तथा वेष आदि का होना ही प्रवृत्तियाँ हैं । (कवि को चाहिए कि वह) लोक से ही इनका ज्ञान प्राप्त कर (इनका) यथोचित प्रयोग (रूपकों में) करे ॥ ६३ ॥

प्रवृत्तियों में से पाठ्य = भाषा के विषय में यह विशेषता है—

कुलीन तथा शिष्ट पुरुषों की भाषा संस्कृत हुआ करती है । तपस्विनी स्त्रियों की भी भाषा संस्कृत होती है । कहीं-कहीं महारानी, मन्त्री की पुत्री तथा वेश्या की भाषा भी संस्कृत ही होती है ॥ ६४ ॥

कहीं-कहीं (क्वचित्) कहने से देवी (रानी) आदि का ग्रहण होता है ।

स्त्रियों की भाषा तो प्रायः प्राकृत हुआ करती है, तथा अधम पुरुष-पात्रों की सौरसेनी भाषा होती है ।

प्रकृति से निकलने वाली भाषा प्राकृत है । संस्कृत ही प्रकृति है । उससे उत्पन्न होने वाली (तद्भव), उसके समान (तत्सम) तथा देशी इत्यादि के भेद से (प्राकृत) अनेक प्रकार की होती है । (इनमें) सौरसेनी तथा मागधी (प्राकृतें) अपने शास्त्र (व्याकरण) से नियत हैं (अर्थात् संयत हैं) ।

पिशाच तथा अत्यन्त नीच पात्रों (अर्थात् चाण्डाल आदि पात्रों) की भाषा क्रमशः पैशाची एवं मागधी होनी चाहिए ॥ ६५ ॥

जो नीच-पात्र जिस देश का रहने वाला है, उसी देश की उसकी भाषा भी होती है तथा कभी-कभी प्रयोजनवश उत्तम तथा मध्यम पात्रों की भाषा का भी परिवर्तन करना पड़ता है ॥ ६६ ॥

पाठ्यमिति । रूपकेषु **अनीचानाम्** = नीचेतरेषाम्, उत्तममध्यमानामित्यर्थः, **कृतात्मनाम्** = पण्डितानाम्, शिक्षितानामित्यर्थः, **नृणाम्** = पुरुषाणाम्, भाषा संस्कृतं भवेत् । अत एव शाकुन्तले उत्तमस्य पात्रस्य दुष्यन्तस्य मध्यमस्य पात्रस्य सारथेश्च भाषा संस्कृतमिति । **लिङ्गिनीनाम्**— संन्यासिनीनाम् ॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥ ६७ ॥

आर्याविति सम्बन्धः ।

रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥ ६८ ॥

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति, वाच्याः, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः । स च सूत्रिणा मार्ष इति ।

इसका अर्थ स्पष्ट ही है । (अतः इस पर टीका की आवश्यकता नहीं है) ।

सम्बोधन करने का प्रकार

जिससे बात की जाय उसके तथा बात करने वाले के औचित्य के अनुसार सम्बोधन के शब्द को बतला रहे हैं—

उत्तम-पात्रों के द्वारा विद्वान् , देव, ऋषि तथा संन्यासी आदि को 'भगवन्' कह कर तथा ब्राह्मण, अमात्य एवं बड़े भाई को 'आर्य' कह कर सम्बोधित करना चाहिए । नटी और सूत्रधार भी परस्पर एक-दूसरे को 'आर्य' (एवं आर्या) शब्द से सम्बोधित करते हैं ॥ ६७ ॥

नटी और सूत्रधार के साथ भी 'आर्य' शब्द का सम्बन्ध है (अर्थात् वे भी परस्पर 'आर्य' एवं 'आर्या' शब्द कह कर एक-दूसरे को सम्बोधित करें) ।

सारथी के द्वारा रथाधिपति योद्धा 'आयुष्मान्' कह कर तथा पूज्य व्यक्तियों के द्वारा शिष्य, पुत्र एवं छोटे भाई 'वत्स' कह कर सम्बोधित किये जाने चाहिए । शिष्य, पुत्र तथा लघु बन्धु के द्वारा पूज्य व्यक्ति भी 'तात' अथवा 'सुगृहीतनामा' कह कर सम्बोधित किये जाने चाहिए ॥ ६८ ॥

'पूज्योऽपि' इस शब्द में प्रयुक्त 'अपि' पद से यह भी सूचित किया गया है कि पूज्य-जनों के द्वारा शिष्य, पुत्र तथा लघु बन्धु भी 'तात' कह कर सम्बोधित किये जा सकते हैं । पूज्य-जन भी शिष्य आदि के द्वारा 'तात' तथा 'सुगृहीतनामा'—इन दो शब्दों से सम्बोधित किये जाने चाहिए ।

पारिपार्श्विक (अनुग) के द्वारा सूत्रधार (सूत्री) को 'भाव' शब्द से तथा सूत्रधार के द्वारा पारिपार्श्विक को भी 'मार्ष' शब्द से सम्बोधित किया जाना चाहिए ।

सूत्रधार पारिपार्श्विक के द्वारा 'भाव' कह कर पुकारा जाना चाहिए तथा वह पारिपार्श्विक भी सूत्रधार के द्वारा 'मार्ष' कह कर बात के लिए उन्मुख किया जाना चाहिए ।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ ६९ ॥
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः ।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः—

समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ॥ ७० ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥ ७१ ॥

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा-
नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।

सेवकों के द्वारा राजा को 'देव' या 'स्वामी' कह कर तथा अधम पात्रों के द्वारा 'भट्ट' कह कर सम्बोधित करना चाहिए ॥ ६९ ॥

उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के द्वारा पति के (सम्बोधन-शब्द के) समान ही स्त्रियों को भी सम्बोधित करना चाहिए।

विद्वान् तथा देव आदि की स्त्रियों को देवर आदि के द्वारा उसी प्रकार सम्बोधित किया जाना चाहिए जिस प्रकार कि वे उनके पतियों को सम्बोधित करते हैं। (उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि उत्तम व्यक्ति विद्वान् आदि की पत्नी को 'भगवती' तथा ब्राह्मण आदि की पत्नी को 'आर्या' कह कर सम्बोधित करें)।

यहाँ स्त्रियों के प्रति व्यवहृत होने वाले सम्बोधन-पद में यह विशेष बात (ध्यान देने की) है—

समान स्त्रियाँ (अर्थात् सखियाँ) एक-दूसरे को 'हला', सेविका को 'हञ्जे', वेश्या को 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करें ॥ ७० ॥

अनुचरों के द्वारा कुट्टिनी 'अम्ब' कह कर तथा पूज्या वृद्धा सभी जनों के द्वारा 'अम्ब' शब्द से पुकारी जानी चाहिए। विदूषक के द्वारा भी रानी तथा चेटी—दोनों ही—भगवती कह कर पुकारी जानी चाहिए ॥७१॥

पूज्य वृद्ध स्त्री सभी लोगों के द्वारा 'अम्ब' कही जानी चाहिए। शेष अंश स्पष्ट ही है।

प्रकाश का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं—

जो व्यक्ति न तो (नाट्याचार्य) भरत है अथवा जो व्यक्ति न तो चन्द्रकला को शिर पर धारण करने वाला शङ्कर है, भला वह कौन व्यक्ति होगा जो नायक की अवस्था के अनुसार विभिन्न प्रकार की चेष्टा, गुण, उदाहृति (अर्थात् उक्ति), सत्त्व और भाव आदि का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ हो सकेगा ? (अर्थात् भरत एवं शङ्कर

को वक्तुमीशो भरतो न यो वा

यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः । चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृत-प्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः ।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति नायक की दशा पर आश्रित इन चेष्टा आदि को पूर्ण नहीं कर सकता है) ॥ ७२ ॥

॥ धनञ्जयकृत दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

(उपर्युक्त विषयों का यहाँ) दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । चेष्टा लीला आदि हैं (२।३२), गुण विनय आदि हैं (२।१), उदाहृतियाँ संस्कृत-प्राकृत की उक्तियाँ हैं (२।६४), सत्त्व विकार-रहित मन है (२।४) तथा २।३०,३३), भाव सत्त्व का प्रथम विकार है (२।३३), इस भाव शब्द से ही हाव (२।३४) आदि का भी ग्रहण समझना चाहिए ।

॥ श्री विष्णु के पुत्र धनिक की कृति दशरूपकावलोक का नेतृप्रकाश नामक द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

उपसंहरन्नाह—**दिङ्मात्रमिति** । दिङ् मात्रम् = किञ्चिन्मात्रम् । **उपलक्षिताः** = सूचिताः ॥

[illegible]

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

रूपक के तीन भेदक तत्त्व हैं—(१) वस्तु, (२) नेता तथा (३) रस। इनमें वस्तु का विवेचन प्रथम प्रकाश में और नेता (नायक) का विचार द्वितीय प्रकाश में किया जा चुका है। प्रसङ्ग के अनुसार अब इस तीसरे प्रकाश में रस का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न करके यहाँ (तृतीय प्रकाश में) वस्तु, नेता तथा रस के भेद के आधार पर नाटकादि रूपकों का वर्णन तथा उनमें इनके विभाग का उपयोग किस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन किया गया है। अत्यधिक विस्तृत होने के कारण रस-विवेचन यहाँ न कर आगे के प्रकाश में किया जायगा।

(रस के विषय में) अत्यधिक विवेचन करना है, अतः (क्रम-प्राप्त) रस-विचार का उल्लङ्घन करके वस्तु, नेता तथा रस का नाटक आदि में अलग-अलग उपयोग प्रतिपादित किया जा रहा है—

सर्वप्रथम नाटक का विवेचन किया जा रहा है; क्योंकि (१) नाटक रूपक के अन्य भेदों (प्रकरण आदि) का मूल है (क्योंकि उसी में वस्तु, नेता तथा रस के परिवर्तन करने से प्रकरणादि रूपक-भेदों की सृष्टि होती है), (२) इसमें सभी प्रकार के रसों का आश्रय लिया जाता है (क्योंकि शृङ्गार अथवा वीर इस में अङ्गी होता है और शेष रस अङ्गरूप में प्रयुक्त होते हैं) और (३) इसमें रूपक के समस्त लक्षण पाये जाते हैं ॥ १ ॥

यतः नाटक के समस्त धर्म (लक्षण) नाम लेकर बतलाये गये हैं, अतः नाटक

प्रथमतो नाटकोपन्यासस्य कारणमाह—**प्रकृतित्वादित्यादिना ।** अथशब्दोऽत्रानन्तर्ये, **अन्येषाम्** = प्रकरणादीनां रूपकभेदानामित्यर्थः, **प्रकृतित्वात्** = मूलभूतत्वात्, नाटके एव वस्तुनेतारसादीनां परिवर्तनं विधाय प्रकरणादीनां जन्म अतो नाटकस्यैषां प्रकृतित्वम्, **भूयः** = बहूनां सर्वेषां वा, **रसपरिग्रहात्**—रसानां परिग्रहात् = स्वीकारात्, अङ्गिनि शृङ्गारे वीरे वाऽन्येषामङ्गभावादिति यावत्, **सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च** = रूपकस्य सर्वेषां लक्षणानामत्रैव सद्भावादित्यर्थः, प्रथमतो नाटकस्यैव लक्षणमुच्यते। **उद्दिष्टधर्मकम्**—उद्दिष्टाः = साकल्येनोक्ताः धर्माः = लक्षणानि यस्य तत् तादृशम् ॥

तत्र—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः ।

उन प्रकरण आदि रूपक के भेदों की प्रकृति (मूल) है, जिनके कि सम्पूर्ण धर्म (लक्षण) नाम लेकर नहीं कहे गये हैं (अपितु "शेषं नाटकवत्" कह कर छोड़ दिये गये हैं)। कारिका का शेष भाग स्पष्ट है ।

विशेष—प्रथम प्रकाश (१.८) में रूपक के दश भेद बतलाये गये हैं—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क, और १०. ईहामृग । यहाँ सर्वप्रथम नाटक का विवेचन किया जा रहा है ।

१—नाटक

उस (नाटक) में—

सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग का कार्य करके सूत्रधार के चले जाने पर, उसी की तरह (वेश-भूषावाला) दूसरा नट (अर्थात् अभिनेता) प्रवेश करके काव्य की स्थापना करे ॥२॥

जिसमें पहले (सामाजिक-वर्ग को) अनुरञ्जित किया जाता है, वह पूर्वरङ्ग है और इसी को नाट्यशाला भी कहते हैं। उस नाट्यशाला में (अभिनय से सम्बन्धित) जो प्रथम प्रयोग की क्रियायें की जाती हैं, उनमें पूर्वरङ्गता का व्यवहार किया जाता है (अर्थात् उन्हें भी पूर्वरङ्ग कहा जाता है)। उस कार्य को सम्पन्न करके पहले सूत्रधार के निकल जाने पर उसी की तरह वैष्णववेशधारी दूसरा नट (अभिनेता) काव्यवस्तु की स्थापना करे ।

वह (दूसरा) नट काव्य-वस्तु की स्थापना अर्थात् सूचना देने के कारण स्थापक कहलाता है ।

विशेष—पूर्वरङ्गम्—यहाँ पूर्वरङ्ग का स्पष्ट एवं वास्तविक रूप न तो धनञ्जय की कारिका में स्पष्ट हुआ है और न धनिक की टीका में ही। साहित्यदर्पण में पूर्वरङ्ग का जो स्वरूप बतलाया गया है वह स्पष्ट एवं असन्दिग्ध है । वहाँ (६।२२-२३) में कहा गया है कि "रङ्गशाला के विघ्नों की शान्ति के लिए अभिनेय वस्तु के प्रयोग के पूर्व अभिनेता जो (मङ्गल आदि) करते हैं, वह पूर्वरङ्ग कहलाता है। यद्यपि इस पूर्वरङ्ग के 'प्रत्याहार' आदि अनेक अङ्ग हैं, किन्तु यदि ये सभी न किये जा सकें तो इनमें से 'नान्दी-पाठ' अवश्य ही करना चाहिए । इससे विघ्न विनष्ट होते हैं ।" इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि 'नान्दी-पाठ' आदि ही पूर्वरङ्ग कहे जाते हैं । **सूत्रधार**—सूत्रधार उस प्रधान नट को कहते हैं जो अभिनय के समस्त क्रिया-कलाप का सञ्चालन करता है । इसे ही नाट्य-मण्डली का मैनेजर कहा जाता है ।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा ।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः' ॥ १८६ ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ १८७ ॥

(स्थापक को कथा-वस्तु के अनुरूप ही वेश-भूषा धारण कर प्रवेश करना चाहिए। यदि कथा—वस्तु देवतासम्बन्धी (अर्थात् दिव्य) हो तो वह दिव्यरूप में रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे। यदि वह मानवसम्बन्धी (मर्त्य) हो तो वह स्थापक मर्त्य रूप में प्रवेश करे । कथावस्तु के मिश्र (अर्थात् दिव्यादिव्य) होने पर (जैसे राम आदि की कथा में) वह या तो दिव्यरूप में या मर्त्यरूप में आ सकता है। (रङ्गमञ्च पर आकर वह) कथावस्तु, कथावस्तु के बीज (नामक अर्थ-प्रकृति) अथवा मुख (-सन्धि) या प्रमुख पात्र की सूचना दे ॥ ३ ॥

वह स्थापक दिव्य-वस्तु की सूचना देवरूप में, मर्त्य-वस्तु की सूचना मर्त्य-वेश में तथा दिव्य-मर्त्य-वस्तु की सूचना दिव्य या मर्त्य-वेश में होकर सूचित करे। इस तरह वह कथावस्तु, बीज (बीज नामक अर्थ-प्रकृति), मुख या प्रमुख पात्र की सूचना दे।

"वस्तु की सूचना जैसे—उदात्तराघव में—"राम पिता की आज्ञा को, माला की भाँति, शिरोधार्य करके वन को चले गये। भरत ने राम के प्रति भक्ति के कारण (अपनी) माँ कैकेयी के सहित समस्त राज्य को छोड़ दिया। (राम के द्वारा) अपने अनुयायी सुग्रीव और विभीषण—दोनों को महती सम्पत्ति प्राप्त करा दी गयी तथा उद्दण्ड आचरण वाले रावण आदि समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया गया ॥"

विशेष—इस श्लोक में नाटक की आद्यन्त कथा की सूचना दी गयी है।

बीज की सूचना; जैसे रत्नावली (१।६) में—

"अनुकूल भाग्य अभीष्ट (वस्तु) को दूसरे द्वीप से, सागर के मध्य से तथा दिशाओं के अन्त से भी ले आकर शीघ्र मिला देता है ॥"

विशेष—यहाँ रत्नावली की प्राप्तिरूप फल का यौगन्धरायण का प्रयत्न बीज है। उसी की यहाँ सूचना दी गयी है।

मुखं यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्रातः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः' ॥ १८८ ॥

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा' ॥ १८९ ॥

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

मुख की सूचना; जैसे—निर्मल तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें कि चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है, तथा जो बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलों से व्याप्त है (अर्थात् जिसमें दुपहरिया के फूल खिले हैं), गाढे अन्धकार वाले, भयङ्कर वर्षाकाल को समाप्त कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के प्रस्फुटित निर्मल हास से युक्त (अथवा रावण के चन्द्रहास नामक खड्ग को ध्वस्त करने वाले), निर्मल एवं मनोहर रामचन्द्र बन्धु-बान्धवों के प्राणों को फिर से लौटाते हुए भीषण अज्ञानी, उग्र तथा अत्यन्त कृष्ण राक्षस रावण को मार कर प्राप्त हुए हैं ॥

विशेष—दशरूपक के रचयिता या वृत्तिकार धनिक ने यहाँ 'मुख' शब्द का स्वरूप नहीं बतलाया है। साहित्यदर्पण (६।२७) के अनुसार 'श्लेष आदि के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का कथन करने वाला वचन ही मुख कहा गया है'—(मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। साहित्यदर्पण की इस मुख-परिभाषा को तथा दशरूपक के उपर्युक्त मुख के उदाहरण को देखते हुए यही निश्चय होता है कि दशरूपककार तथा दर्पणकार मुख की परिभाषा के विषय में एक मत रखते हैं। ऊपर उद्धृत पद्य में शरत्काल का वर्णन किया गया है और उसके साथ ही श्लेष के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त राम-कथा की भी सूचना दी गयी है।

पात्र की सूचना; जैसे शाकुन्तल नाटक (१।५) में (नट नटी से कह रहा है)—

"चित्ताकर्षक तुम्हारे गीत-राग के द्वारा मैं उसी प्रकार हठात् आकृष्ट हो गया हूँ, जिस प्रकार अत्यन्त वेगवाले, दूर तक ले जाने वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त (आकृष्ट होता हुआ बढ़ा आ रहा है)।"

विशेष—यहाँ प्रमुखतम पात्र दुष्यन्त के प्रवेश की सूचना दी गयी है।

स्थापक काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्ग (अर्थात् रङ्गस्थ जनों) को प्रसन्न करके किसी ऋतु को लेकर भारतीवृत्ति का आश्रयण करे ॥ ४ ॥

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा—

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥ १९० ॥

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥ ५ ॥

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती, प्ररोचना-वीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ।

काव्य की कथा-वस्तु से अन्वित अर्थवाले श्लोकों के द्वारा रङ्ग की प्रशस्ति करके स्थापक 'औत्सुक्येन' इत्यादि श्लोक के द्वारा भारतीवृत्ति का आश्रयण करे—

"प्रथम मिलन के समय (पति-मिलन के) उत्कण्ठावश शीघ्रता करने वाली (किन्तु) सहज लज्जा के कारण लौटती हुई, भाई-बन्धुओं की स्त्रियों के उन-उन वचनों से फिर (पति की ओर) सम्मुख करायी गयी (तथा) सामने वर को देख कर रोमाञ्चित एवं भयभीत (अतः) हँसते हुए शिव के द्वारा कस कर आलिङ्गन की गयी पार्वती सबके कल्याण के लिए हों (अर्थात् सबका कल्याण करें)" ॥ रत्ना० १।२ ॥

भारतीवृत्ति

वह (भारतीवृत्ति) तो (इस प्रकार) है—

नट के द्वारा प्रयुक्त, प्रायः संस्कृत भाषा में किया गया, वाचिक (मौखिक) व्यापार भारतीवृत्ति कहा जाता है ।

यह प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख—इन चार भेदों से युक्त होती है ॥ ५ ॥

पुरुष-विशेष के द्वारा किया गया, संस्कृत भाषा के अधिक प्रयोग से युक्त, नट के द्वारा सम्पादित व्यापार भारतीवृत्ति है । इसमें (चार) अङ्ग होते हैं—

१. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन तथा ४. आमुख ।

विशेष—भारतीवृत्ति शब्दवृत्ति कही जाती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत नट का शारीरिक तथा मानसिक व्यापार नहीं आता । इसमें एकमात्र वाग्व्यापार का ही प्रयोग होता है । भारतीवृत्ति स्त्री के द्वारा प्रयुक्त न होकर पुरुष के द्वारा प्रयुक्त हुआ करती

रङ्गस्य प्रशस्तिमिति—"इत्यादिभिः, काव्यार्थानुगतैः, श्लोकैः, रङ्गस्य, प्रशस्तिम्, कृत्वा, भारतीम्, वृत्तिम्, आश्रयेत्" इत्यन्वयः ॥

अथ का नाम भारतीवृत्तिरित्याकांक्षायामाह— **भारतीति । संस्कृतप्रायः** = संस्कृतबहुलः, स्त्रीवाचां प्राकृतत्वात् पुंस्वप्यधमानां वचः प्राकृतत्वात् कारिकायां प्रायपदोपादानम् । **वाग्व्यापारेति** अनेन शरीरमनोव्यापारयोः निरसनं ज्ञातम् ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥ १९१॥

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते॥ ६॥
वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम्॥ ७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।
प्रस्तावना वा
तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम्॥ ८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश।

है। इसमें प्रायः संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया जाता है।

नाम-निर्देश के क्रम से (इन अङ्गों के) लक्षण बतलाये जा रहे हैं—

१—प्ररोचना

उन (चार अङ्गों) में प्रशंसा के द्वारा (श्रोताओं को) उन्मुख करना प्ररोचना है।

प्रस्तुत काव्यार्थ की प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं की प्रवृत्ति को उसकी ओर आकृष्ट करना ही प्ररोचना है। जैसे रत्नावली में (सूत्रधार कह रहा है)—

श्री हर्ष प्रवीण कवि हैं। यह सभा भी गुणों की प्रशंसा करने वाली है। लोक में वत्सराज (उदयन) का चरित भी मनोहर (है)। हम लोग भी अभिनय करने में निपुण हैं। इन (चारों) में एक भी वस्तु अभीप्सित फल (अर्थात् सफलता) की प्राप्ति का कारण है। तो मेरे भाग्य की प्रबलता से गुणों का यह सब समूह (एक स्थान पर) एकत्रित हुआ है क्या ?॥ १-५॥

२. वीथी तथा ३. प्रहसन

वीथी और प्रहसन भी अपने प्रकरण में वर्णित किये जायँगे॥ ६॥ किन्तु वीथी के अङ्ग आमुख के भी अङ्ग होते हैं, अतः वे यहीं पर बतलाये जा रहे हैं।

४—आमुख

जहाँ सूत्रधार विचित्र उक्ति के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक अथवा विदूषक को प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने वाला (अर्थात् प्रस्तुत अर्थ की सूचना देने वाला) अपना कार्य बतलाता है, वह आमुख है। इसे ही प्रस्तावना भी कहते हैं॥ ७-८॥

कथोद्घातं लक्षयति—**स्वेतीति**॥ **स्वेतिवृत्तसमम्**—स्वस्य = अभिनेतुं तत्परस्य पात्रस्येत्यर्थः इतिवृत्तेन = कथाभागेन समम् = तुल्यं तुल्यार्थकमित्यर्थः॥

सूत्रिणः = सूत्रधारस्य, **द्विधा**—वाक्यस्य वाक्यार्थस्य वा समाश्रयणात् कथोद्घातस्य द्विधात्वम्॥

तत्र कथोद्धातः—

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥ ९ ॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्धातो द्विधैव सः ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः–द्वीपादन्यस्मादपि—' इति । वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधारः—

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' ॥ १९२ ॥

ततोऽर्थेनाह—'भीमः—

उस (आमुख या प्रस्तावना) में (क) कथोद्‌घात, (ख) प्रवृत्तक, (ग) प्रयोगातिशय तथा (घ) वीथी में होने वाले तेरह अङ्ग होते हैं ॥ ८-९ ॥

(क) कथोद्‌घात

उनमें से कथोद्‌घात यह है—

जहाँ पात्र अपनी कथा-वस्तु से साम्य रखने वाले सूत्रधार के वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर (रङ्गमञ्च पर) प्रवेश करता है, वह कथोद्‌घात है तथा (सूत्रधार के) वाक्य या वाक्यार्थ को आधार बनाने से यह दो प्रकार का होता है ॥ ९-१० ॥

वाक्य को लेकर (पात्र का रङ्गमञ्च पर प्रवेश)जैसे रत्नावली (१।६)में सूत्रधार के "द्वीपादन्यस्मादपि" इस वाक्य को कहता हुआ (पात्र) यौगन्धरायण प्रवेश करता है ।

वाक्यार्थ को लेकर (पात्र का रङ्गमञ्च पर प्रवेश); जैसे वेणीसंहार (१।७ में) सूत्रधार कहता है—

१. "शत्रुओं के शान्त हो जाने के कारण शत्रुतारूपी आग को शान्त कर लेने वाले पाण्डु के पुत्र (युधिष्ठिर आदि) कृष्ण के साथ आनन्द करें । चाहने वाले (पाण्डवों) को भूमि-प्रदान करने वाले, शान्त युद्धवाले कौरव (दुर्योधन आदि) भी सेवकों के सहित स्वस्थ हों" ॥ १-७ ॥

२. "शत्रुओं के विनष्ट हो जाने के कारण शत्रुतारूपी आग को शान्त कर लेने वाले पाण्डव (युधिष्ठिर आदि) कृष्ण के साथ आनन्द करें । (अपने) खून से पृथ्वी को अलङ्कृत करने वाले, क्षत-विक्षत शरीर वाले कौरव भी सेवकों के सहित स्वर्गवासी हों" ॥ १-७ ॥

इस पर इसके अर्थ को लेकर भीम यह कहते हुए प्रवेश करते हैं—

तत्र चतुर्ष्वङ्गेषु प्ररोचनां लक्षयति—**उन्मुखीकरणमिति । उन्मुखीकरणम्** = उन्मुखीकारः, आकर्षणकरणमिति यावत् । **वीथी प्रहसनमिति ।** तद्द्वयं मुखरूपकविशेषौ अतो रूपकप्रसङ्गे एव **अभिधास्यते** = वक्ष्यते ॥

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥ १९३ ॥

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥ १९४ ॥

अथ प्रयोगातिशयः—

"लाक्षा (लाह) के घर में आग, विष-मिश्रित भोजन तथा सभा में प्रवेश के द्वारा हम लोगों के प्राणों तथा धन-संग्रहों पर प्रहार करके (और) पाण्डवों की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र तथा बालों को खींच कर धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ होंगे ? अर्थात् नहीं स्वस्थ होंगे" ॥ १-८ ॥

ख—प्रवृत्तक

अब प्रवृत्तक (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ किसी ऋतु के वर्णन की समानता के द्वारा पात्र के प्रवेश का आक्षेप हो (अर्थात् निर्देश मिले) वह प्रवृत्तक (नामक आमुख का भेद) होता है ॥ १० ॥

प्रारम्भ हुए किसी काल (अर्थात् ऋतु) के गुणों की समानता के वर्णन के आधार पर जहाँ पात्र का प्रवेश सूचित होता है, वह प्रवृत्तक है । जैसे—

"निर्मल तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें कि चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है तथा जो बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलों से व्याप्त है (अर्थात् जिसमें दुपहरिया के फूल खिले हैं), गाढे अन्धकार वाले भयङ्कर वर्षा-काल को समाप्त कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के प्रस्फुटित निर्मल हास से युक्त (अथवा रावण के चन्द्रहास नामक खड्ग को ध्वस्त करने वाले), निर्मल एवं मनोहर रामचन्द्र बन्धु-बान्धवों के प्राणों को फिर से लौटाते हुए भीषण अज्ञानी, उग्र तथा अत्यन्त कृष्ण (पापी) राक्षस रावण को मार कर प्राप्त हुए हैं ॥"

विशेष—यहाँ शरद्-ऋतु के वर्णन के द्वारा राम के प्रवेश की सूचना दी गयी है ।

ग—प्रयोगातिशय

सम्प्रति प्रयोगातिशय (की परिभाषा दी जा रही) है—

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' इति ।

अथ वीथ्यङ्गानि—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्तौ तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा–विदूषकः—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं पुरिसो आदु इत्थिअत्ति । ('भो वयस्य, क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे ।

जहाँ "यह वह है" इस प्रकार के सूत्रधार के वाक्य से सूचित होकर पात्र का प्रवेश होता है वहाँ यह प्रयोगातिशय (नामक आमुख का भेद) माना गया है ॥११॥

जैसे (अभिज्ञानशाकुन्तल में)—"यह राजा दुष्यन्त की भाँति"—(सूत्रधार के इस वाक्य से दुष्यन्त का प्रवेश सूचित होता है) ।

वीथी के अङ्ग

अब वीथी के अङ्ग (बतलाये जा रहे हैं—

(१) उद्घात्यक, (२) अवगलित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्केलि, (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, (१३) मृदव—ये तेरह वीथी के अङ्ग हैं ॥ १२-१३ ॥

१—उद्घात्य (या उद्घात्यक)

उनमें उद्घात्यक वहाँ होता है, जहाँ कि (दो पात्रों का) आपस में वार्तालाप या तो गूढ अर्थ वाले पदों तथा उनके पर्यायों की माला (लड़ी) के रूप में होता है अथवा प्रश्न एवं उत्तर के रूप में होता है । इस तरह यह उद्घात्य दो प्रकार का होता है ॥ १३-१४ ॥

दो पात्रों की उक्ति-प्रत्युक्ति में (१) गूढ अर्थ वाले पदों या उनके पर्यायों की माला (लड़ी) अथवा (२) प्रश्नोत्तर की माला के भेद से वह उद्घात्यक दो प्रकार का होता है । उनमें प्रथम प्रकार का उद्घात्यक विक्रमोर्वशी में है, जैसे—

विदूषक—हे मित्र, यह काम कौन है, जिसके द्वारा तुम भी खिन्न किये जाते हो । वह स्त्री-रूप है या पुरुष-रूप ?

उपोद्घात्यं लक्षयति—**गूढार्थेत्यादिना** । गूढार्थानि यानि पदानि तेषां पर्यायाश्च तेषां माला = पंक्तिः, प्रश्नोत्तरस्य माला वेति सम्बन्धः ॥

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥ १९५ ॥

विदूषकः—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि।') राजा—वयस्य, इच्छाप्रभवः स इति।

विदूषकः—किं जो जं इच्छादि सो तं कामेदित्ति। ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति।') राजा—अथ किम्।

विदूषकः—'ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि।' ('तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि।')

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥ १९६ ॥

राजा—मित्र, मन में उत्पन्न, चिन्तारहित सुखों में ही प्रवृत्त, स्नेह का ललित मार्ग ही काम कहा जाता है ॥

विदूषक—इस प्रकार (समझाने पर) भी मेरी समझ में नहीं आया।

राजा—मित्र, वह (काम) इच्छा से उत्पन्न होने वाला है।

विदूषक—क्या जो जिसकी इच्छा करता है, वह उसकी कामना करता है ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—तो (अब) मालूम हो गया, जैसे मैं रसोई-घर में भोजन की इच्छा करता हूँ।

विशेष—यहाँ राजा और विदूषक के पारस्परिक वार्तालाप में काम के पर्यायवाची पदों 'मनोजाति', 'इच्छाप्रभव', 'कामनाजन्य' आदि की लड़ी है। अतः यह प्रथम प्रकार का उद्घात्य है।

द्वितीय उद्घात्यक यह है, जैसे पाण्डवानन्द में—

"प्रशंसनीय क्या है ? गुणी व्यक्तियों की क्षमा। तिरस्कार कौन है ? जो अपने कुल-वाले जनों के द्वारा किया जाता है। दुःख क्या है ? दूसरे का सहारा लेना। संसार में कौन व्यक्ति श्लाघनीय है ? जिसकी लोग शरण लेते हैं। मृत्यु क्या है ? व्यसन (बुरे कामों की लत पड़ना)। कौन लोग शोक को छोड़ देते हैं ? जिन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है। यह सब किनके द्वारा जान लिया गया है ? विराट की नगरी में गुप्तरूप से रहने वाले पाण्डवों के द्वारा ॥"

विशेष—यहाँ प्रश्नोत्तररूप में दूसरे प्रकार का उद्घात्यक है।

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥ १४ ॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्येऽनुप्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः । द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण, तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि।'

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥ १९७ ॥

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

अथ प्रपञ्चः—

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

२—अवगलित

अब अवगलित (की परिभाषा दी जा रही) है—

(१) जहाँ एक कार्य को कह कर (अर्थात् एक कार्य का बहाना बना कर) दूसरा कार्य सिद्ध किया जाता है (वहाँ प्रथम प्रकार का अवगलित होता है); और (२) जहाँ एक कार्य के प्रस्तुत होने पर दूसरा कार्य सिद्ध हो जाता है (वहाँ दूसरे प्रकार का अवगलित होता है)—इस प्रकार अवगलित दो प्रकार का होता है ॥ १४-१५ ॥

(१) इनमें प्रथम प्रकार का अवगलित जैसे—उत्तररामचरित में वनविहार के गर्भ-दोहद (गर्भवती की इच्छा) से युक्त सीता का दोहद (रूप वन-विहार) के बहाने से, लोकनिन्दा के कारण, अरण्य में त्याग कर दिया गया । (वहाँ वन में भ्रमण कराने के बहाने ले जाकर सीता को जङ्गल में छोड़ दिया गया) ।

(२) दूसरे प्रकार का अवगलित यह है, जैसे छलितराम नाटक में—"राम-लक्ष्मण, विमान पर आरूढ होकर मैं पिताजी से वियुक्त अयोध्या में प्रवेश नहीं कर सकता । अतः (विमान से) उतर कर चल रहा हूँ ।"

"सिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने स्थित, जटा, अक्षमाला तथा चामर को धारण किये हुए यह कोई व्यक्ति विराजमान है ॥"

इस प्रकार (विमान से उतर कर चलने में) भरत-दर्शनरूप प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है ।

३—प्रपञ्च

अब प्रपञ्च (की परिभाषा दी जा रही) है—

प्रपञ्च वीथी का वह अङ्ग है, जहाँ पात्र आपस में एक-दूसरे की ऐसी झूठी प्रशंसा करें, जो हँसी [illegible] करने वाली हो ॥ १५ ॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः। यथा कर्पूर-मञ्जर्याम्—भैरवानन्दः—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो।
('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः' ॥ १९८ ॥)

अथ त्रिगतम्—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः' ॥ १९९ ॥

असद्भूत (अर्थात् निन्दनीय) बात जैसे परस्त्री-रमणरूप निपुणता आदि के द्वारा जो परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा की जाती है, वही प्रपञ्च है। जैसे कर्पूरमञ्जरी (१।२३) में—

भैरवानन्द—"जहाँ प्रचण्ड रण्डा स्त्रियाँ दीक्षा-प्राप्त धर्मपत्नियाँ हैं। जहाँ पीने के लिए मद्य और खाने के लिये मांस प्राप्त होता है। जहाँ भिक्षा ही भोजन है। जहाँ चर्म-खण्ड ही शय्या है। ऐसा कौल धर्म किसे रमणीय न लगेगा? ॥"

४—त्रिगत

अब त्रिगत (की परिभाषा दी जा रही) है—

ध्वनि की समानता के आधार पर अनेक अर्थों (वस्तुओं) की योजना करना ही यहाँ (वीथी के अङ्गों में) त्रिगत कहलाता है। नट आदि (अर्थात् सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक) तीनों के वार्तालाप को भी त्रिगत कहा गया है, किन्तु यह त्रिगत पूर्वरङ्ग में ही (अङ्ग के रूप में) अभीष्ट है ॥ १६ ॥

जैसे विक्रमोर्वशीय (१।३) में (राजा अप्सराओं के गीत को सुन कर शब्द-साम्य के आधार पर भ्रमर-गुंजन और कोयल के कूक की योजना करते हुए कह रहा है)—

"पुष्प के रस से मतवाले भौंरों का यह गुञ्जन है। यह कोकिल की गम्भीर कूक है। देवगणों के द्वारा सब ओर से सेवित कैलास पर यह किन्नरियाँ रमणीय और मधुर अक्षरों में गा रही हैं ॥"

असद्भूतेनेति। असद्भूतः = अनुचितः, सभितावर्णनीय इति यावत्, अर्थेन = वार्तया, **पारदार्येति**—परदारायामभिगमनं पारदार्यं तदेव आदिर्येषु ते तेषु नैपुण्यम् = प्रावीण्यं तेन। त्रिगतं लक्षयति—**श्रुतीत्यादिना**। श्रुतिसाम्यात् = ध्वनिसादृश्यात्। अत्र त्रिगतत्वं तु श्रुतिसाम्येनानेकार्थ-योजनत्वात्पूर्वरङ्गे तु सूत्रधारादीनां त्रयाणां जनानां वार्तालापेन त्रिगतत्वं बोध्यम् ॥

अथ छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः' ॥ २०० ॥

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते—वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥ २०१ ॥

५—छलन

अब छलन (की परिभाषा दी जा रही) है—

ऊपर से प्रिय प्रतीत होने वाले किन्तु (वस्तुतः) अप्रिय वाक्यों के द्वारा लुभा कर छलना ही छल (नामक वीथी का अङ्ग) है ।

जैसे वेणीसंहार (५।२६) में भीम और अर्जुन (दुर्योधन के व्यक्तियों से) पूछ रहे हैं—

"द्यूत-कपटों का कर्ता; लाह-निर्मित भवन को जलाने वाला; घमण्डी; द्रौपदी के केश एवं शिर तथा वक्षःस्थल को ढकने वाले वस्त्र (upper cloth) को दूर हटाने में पटु; पाण्डव लोग जिसके दास हैं, दुःशासन आदि सौ भाइयों के समूह में श्रेष्ठ; कर्ण का मित्र; राज्य का अधिपति वह दुर्योधन कहाँ है ? (तुम लोग) बतलाओ, क्रोध से नहीं, (अपितु) दर्शन करने के लिए (हम दोनों) आये हुए हैं ॥"

६—वाक्केलि

अब वाक्केलि (की परिभाषा दी जा रही) है—

इसको (अर्थात् चल रहे अपने कथन को) रोक लेने से अथवा दो-तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति होने से भी वाक्केली (नामक वीथी का अङ्ग हुआ करता) है ॥ १७ ॥

(१) (कारिका के) 'अस्य' पद का अर्थ है—प्रचलित, साकांक्ष (जिज्ञासा को अब तक शान्त न कर चुके हुए) वाक्य का, रोक लेना अथवा (२) दो-तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति करना वाक्केली है ।

वाक्केलीं लक्षयति—**विनिवृत्त्येति** । विनिवृत्त्या = प्रारब्धस्य वाक्यस्यापरिसमाप्तावेव समापनेन

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके, मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास ण क्खु एसा चच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। ('हताश, न खल्वेषा चर्चरी द्विपदीखण्डकं खल्वेतत्।') विदूषकः—भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति। ('भवति, किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम्। ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि।

अथाधिबलम्—

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत्।

यथा वेणीसंहारे—'अर्जुनः—

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः' ॥ २०२ ॥

---

(१) इनमें पहले प्रकार की (वाक्केलि), जैसे उत्तररामचरित (३। २६) में (वनदेवी सीता के प्रति किये गये वन-निर्वासनरूप व्यवहार के लिए राम को उलाहना देती हुई कह रही है)—

"तुम मेरे प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की कौमुदी (शीतलतादायिनी चाँदनी) हो, तुम मेरे अङ्ग में अमृत (का लेप) हो, इत्यादि सैकड़ों प्रिय वचनों से उस भोली-भाली (सीता) को फुसला कर उसको ही (तुमने······) अथवा इसके आगे कहने से क्या फायदा?"

(२) उक्ति-प्रत्युक्ति से होने वाली; जैसे रत्नावली (१।१६-१७) में—

विदूषक—श्रीमती मदनिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखला दो। **मदनिका**—अभागे, यह चर्चरी नहीं है। अरे, यह तो द्विपदीखण्ड है। **विदूषक**—श्रीमती जी, क्या इस खण्ड (खाँड़) से लड्डू बनाये जाते हैं? **मदनिका**—नहीं, अरे, यह तो पढ़ी जाती है (गायी जाती है)। इत्यादि।

७—अधिबल

अब अधिबल (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ (पात्रों का) स्पर्धा के कारण एक-दूसरे की बात से बढ़-चढ़ कर बात कहना पाया जाय वहाँ अधिबल (नामक वीथी का अङ्ग) होता है।

जैसे वेणीसंहार (५।२७) में—

अर्जुन—"आपके पुत्रों के द्वारा जिस (कर्ण) के ऊपर सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतने की आशा लगायी गयी थी, जिसके (बल के) अभिमान के कारण सारा जगत् तृण की तरह तिरस्कृत किया गया था, उसी राधासुत (कर्ण) को संग्राम के मध्य मारने वाला यह मझला पाण्डव (अर्जुन) आप माता-पिता को प्रणाम कर रहा है।" यहाँ से आरम्भ करके—

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्‌गदाभिन्नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम्' ॥ २०३ ॥

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ।

अथ गण्डः—

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ १८ ॥

यथोत्तरचरिते—'रामः—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः' ॥ २०४ ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदो । ('देव उपस्थितः ।') रामः—अयि कः ? । प्रीतहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो । ('देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।') ।

राजा—अरे, मैं आपकी तरह डींग हाँकने में प्रगल्भ नहीं हूँ । किन्तु—

"(तुम्हारे) बन्धु-बान्धव समराङ्गण में मेरी गदा (के प्रहार) से भग्न छाती की हड्डियों की माला के टूटने से भीषण तुझ (भीम) को शीघ्र ही सोये हुए देखेंगे ॥ (५।३४) ॥"

यहाँ तक चलने वाले भीम और दुर्योधन की एक-दूसरे की बात से बढ़ कर बात प्रदर्शित की गयी है । अतः यहाँ अधिबल (नामक वीथी का अङ्ग) है ।

८—गण्ड

अब गण्ड (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

जहाँ प्रस्तुत से सम्बद्ध किन्तु उस (प्रस्तुत) से भिन्न अर्थ वाला वचन सहसा कह दिया जाय वहाँ गण्ड (नामक वीथी का अङ्ग होता) है ॥ १८ ॥

विशेष—वस्तुतः गण्ड में भावी घटना की सूचना दी जाती है ।

जैसे उत्तररामचरित में राम (सीता के विषय में) कह रहे हैं—

"यह घर में लक्ष्मी है, यह आँखों में अमृत-शलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में गाढ़ा चन्दन-रस (का लेप) है, (इसका) यह बाहु (मेरे) कण्ठ में शीतल और चिकनी मोतियों की माला है । इस (सीता) का क्या प्रिय नहीं है ? (अर्थात् सब कुछ प्रिय है), किन्तु इसका वियोग ही असह्य (अप्रिय) है ॥

(प्रवेश करके) **प्रतिहारी**—महाराज, (यह) आ गया है । **राम**—अरे, कौन (आ गया है) ? **प्रतिहारी**—महाराज का निकटवर्ती सेवक दुर्मुख ।"

गण्डाख्यं वीथ्यङ्गं निरूपयति—**गण्ड इति । प्रस्तुतसम्बन्धि** = प्रस्तुतार्थसम्बद्धम्, **भिन्नार्थम्** = पृथगर्थबोधकम्, सहसा = झटिति, उदितम् = कथितम्, त्वरया गण्डतो निःसृताद् गण्डं नाम विथ्यङ्गं मतम् ॥

अथावस्यन्दितम्—

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

यथा छलितरामे—सीता—जाद, कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। ('जात, कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तहिं स राजा विनयेन नमितव्यः।') लवः—अम्ब, किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम्? सीता—जाद, सो क्खु तुम्हाणं पिदा। ('जात, स खलु युवयोः पिता।') लवः—किमावयोः रघुपतिः पिता?। सीता—(साशङ्कम्) जाद, ण क्खु परं तुम्हाणं, सअलाए जेव्व पुहवीए। ('जात, न खलु परं युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः।') इति।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका॥ १९॥

विशेष—यहाँ प्रतिहारी का वचन भिन्न अर्थ की सूचना देने वाला है। उसके कथन से दुर्मुख के आगमन की सूचना दी गयी है, किन्तु इसका सम्बन्ध राम के प्रस्तुत कथन से भी जुड़ जाता है—'यदि परमसह्यस्तु विरहः' इसका 'उपस्थितः' से सम्बन्ध जुड़ कर 'विरह उपस्थितः' हो जाता है। अतः यहाँ गण्ड नामक वीथी का अङ्ग है।

९—अवस्यन्दित

अब अवस्यन्दित (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ भावावेश (रस) के कारण कहे गये वचन का दूसरे प्रकार से अर्थ समझा दिया जाता है; वहाँ अवस्यन्दित (नामक वीथी का अङ्ग होता) है।

जैसे छलितराम नाटक में—"सीता—बेटा, कल प्रातःकाल तुम दोनों जब अयोध्या में जाना तो उस राजा (राम) को नम्रता के साथ प्रणाम करना। लव—माँ, क्या हम दोनों को राजाश्रयी बनना पड़ेगा? सीता—बेटा, वे तुम दोनों के पिता हैं। लव—क्या हम दोनों के रघुपति पिता हैं? सीता—(आशङ्कापूर्वक) बेटा, न केवल तुम दोनों के ही, अपितु समूची पृथ्वी के पिता हैं।" इस प्रकार।

विशेष—यहाँ सीता ने अयोध्या और राम का प्रसङ्ग आते ही भावावेश में लव से राम को, पिता होने के कारण, प्रणाम करने के लिए कह दिया। किन्तु जब लव ने ज्यादा छान-बीन करनी प्रारम्भ की तो उन्होंने अपने कथन की यह कह कर दूसरी व्याख्या कर दी कि—'राजा तो समूची पृथ्वी के निवासियों का ही पिता होता है। अतः तुम लोगों का भी पिता ही है।

१०—नालिका

अब नालिका (की परिभाषा दी जा रही) है—

हास्य से युक्त, निगूढ अर्थवाली, प्रहेलिका (पहेली) ही नालिका कही जाती है॥ १९॥

यथा मुद्राराक्षसे—चरः—हंहो बह्मण, मा कुप्प किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि किं पि अम्हारिसा जणा जाणन्ति। ('हंहो ब्राह्मण, मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि ? चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। ('यदि ते उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') 'शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति ?' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्तं भवति।

अथाऽसत्प्रलापः—

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तन्न—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावः। यथा—

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बुरान् गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः' ॥ २०५ ॥

जैसे मुद्राराक्षस (१।१८-१९) में—

"चर—हे ब्राह्मण, क्रोध मत करो। कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं, (तो) कुछ मेरे जैसे लोग भी जानते हैं। शिष्य—(ऐसा कह कर) क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता का अपहरण करना चाहते हो ? चर—यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं, तो जान लें कि चन्द्रमा (चन्द्र) किसको अच्छा नहीं लगता। शिष्य—इसके जानने से क्या होता है ? —ऐसा उपक्रम होने पर—चाणक्य—इस कथन से यह प्रकट होता है कि—चन्द्रगुप्त से विद्रोह करने वाले व्यक्तियों को (मैं) जानता हूँ।"

११—असत्प्रलाप

अब असत्प्रलाप (की परिभाषा दी जा रही) है—

असम्बद्ध बात ही जिसमें बहुधा कही जाय ऐसा एक के बाद दूसरा कथन ही असत्प्रलाप है।

पूर्वपक्षी—असम्बद्ध अर्थवाले (वचन) का प्रयोग होने पर तो असङ्गति नामक वाक्य-दोष कहा गया है। (अतः रूपक में असत्प्रलाप का होना ठीक नहीं है)।

सिद्धान्ती—(आपका) यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि स्वप्न में बड़बड़ाना तथा मद, उन्माद एवं बचपन का असम्बद्ध प्रलाप तो विभाव होता है। (अर्थात् स्वप्न की बड़बड़ाहट, मदहोशी की बक-बक तथा बचपन की बातें काव्य में दोषाधायक

असत्प्रलापाख्यं वीथ्यङ्गं निरूपयति—**असम्बद्धेति। असम्बद्धकथाप्रायः**—असम्बद्धा = पूर्वापरसम्बन्धहीना कथा = वार्ता प्रायः = बाहुल्येन यस्मिन् असौ, यथोत्तरः = उत्तरोत्तरनिगदितः, सम्वाद एवासत्प्रलाप इति।

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ॥ २०६ ॥

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि' ॥ २०७ ॥

अथ व्याहारः :—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥ २० ॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—(मालविका निर्गन्तुमिच्छति)

नहीं होती है। इन्हें देख-सुन कर लोग आनन्द आदि का ही अनुभव करते हैं)। जैसे (बचपन के कारण होने वाला कार्तिकेय का असत्प्रलाप)—

"वासुकि (नाग) के प्रकाशमान मुख-छिद्रों को, ओष्ठ के कोने वाले भाग की ओर से, फाड़ कर, विष के प्रभाव से चितकबरे दाँत के अङ्कुरों को अँगुली से छूकर एक, तीन, नौ, आठ, सात, छह—इस प्रकार गिनते हुए क्रौञ्च (नामक पर्वत) के शत्रु कार्तिकेय की संख्या के क्रम से विहीन एवं बचपन के कारण अस्त-व्यस्त बातें आपके कल्याण की वृद्धि करें ॥" और, जैसे—(विक्रमोर्वशी ४।३३ में उर्वशी के विरह में उन्मत्त पुरुरवा का प्रलाप है)—

"हे हंस, मेरी प्रिया को वापस करो, उसकी चाल को तुमने चुरा लिया है; क्योंकि (जिस व्यक्ति के पास चोरी का) एक अंश भी बरामद किया जाता है उसे ही वह सब वापस करना पड़ता है, जिसके लिए दावा किया जाता है ॥"

अथवा (यह भी उन्माद के कारण ही कहा गया है)—

"मैंने पर्वतों को खा लिया, मैंने आग से स्नान किया है, मैं आकाश पीता हूँ। विष्णु, शङ्कर तथा ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं। इसलिए मैं नाच रहा हूँ।"

१२—व्याहार

अब व्याहार (की परिभाषा दी जा रही) है—

हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला (अर्थात् हास्य का यह क्रम और बढ़े ऐसी अभिलाषा को नायकादि के मन में उत्पन्न करने वाला) तथा किसी अन्य प्रयोजन से कहा गया वचन व्याहार कहा गया है ॥ २० ॥

जैसे मालविकाग्निमित्र (२।५-१०) में लास्य-प्रयोग की समाप्ति पर—"(मालविका निकल जाना चाहती है) **विदूषक**—अभी नहीं, उपदेश में शुद्ध (उत्तीर्ण)

व्याहाराख्यं वीथ्यङ्गं निरूपयति—**व्याहार इति। हास्यलोभकरमिति**—नायकादेर्मनसि हास्यस्य लोभं करोतीति तादृशम्, **अन्यार्थम्**=अन्याभिप्रायेण समन्वितं वचो व्याहार इति ॥

विदूषकः—मा दाव उवएससुद्धा, गमिस्ससि। ('मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य, उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।' विदूषकः—'पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते)।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति। सा तया लङ्घिता।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः।

अथ मृदवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्।

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः' ॥ २०८ ॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः।

होकर जाओगी।" ऐसा उपक्रम होने पर—**गणदास**—(विदूषक के प्रति) आर्य, बतलाइये आपने जो क्रम-भेद देखा हो। **विदूषक**—पहले तो प्रातःकाल ब्राह्मण की पूजा होती है। उसीका इसने उल्लंघन किया है। (मालविका मुस्कराती है)

इत्यादि के द्वारा नायक के आश्वस्त (अर्थात् स्वाभाविक रूप से खड़ी) नायिका के दर्शन के लिए कहे गये, हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाले वचन के कारण यहाँ व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है।

१३—मृदव

अब मृदव (की परिभाषा दी जा रही) है—

जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष बतलाया जाय वहाँ मृदव (नामक वीथ्यङ्ग) होता है।

जैसे शाकुन्तल (२।५) में (सेनापति आखेट की प्रशंसा में कह रहा है)—

"(लोग) आखेट को व्यर्थ में ही व्यसन (बुरी लत) कहते हैं। भला ऐसा विनोद (अन्यत्र) कहाँ (उपलब्ध) है? (क्योंकि इससे) चर्बी के छट जाने से कृश उदर से युक्त शरीर फुर्तीला तथा श्रम के योग्य हो जाता है। (जंगली) जानवरों के, भय एवं क्रोध की अवस्था में, विभिन्न विकारों से युक्त चित्त का ज्ञान होता है। जो कि चञ्चल (अर्थात् भागते हुए) लक्ष्य पर धनुर्धारियों के बाण सफल हो जाते हैं—यह तो उन (धनुर्धारियों) का उत्कर्ष है॥"

यहाँ मृगया (आखेट) के दोषों को गुण के रूप में कहा गया है।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम्' ॥ २०९ ॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

उभयं वा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः' ॥ २१० ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।

और, जैसे—"विजय का अभिलाषी यह राजा ऐसा जीवन व्यतीत करता है, जिसमें मन सर्वदा अशान्त बना रहता है, हजारों कठिनाइयों से परिव्याप्त क्लेश भरा रहता है, निद्रा भी नहीं आती है तथा किसी पर विश्वास भी नहीं किया जाता है ॥"

यहाँ राज्य (अर्थात् राजा) के गुणों को दोष के रूप में कहा गया है ।

अथवा दोनों (जहाँ एक स्थल पर ही गुणों को दोष और दोषों को गुण के रूप में बतलाया गया है)—

"अच्छे आचरणों के व्यसनी, (अतः) अनेक यन्त्रणाओं को झेलने वाले, पग-पग पर लोकापवाद से सशङ्कित सज्जन लोग सर्वदा दुःख के साथ जीवन व्यतीत करते हैं । उचित तथा अनुचित विचार से शून्य हृदयवाले, अच्छे या बुरे (किन्हीं भी) कर्मों से व्याकुल न होने वाले, अपरिपक्व बुद्धिवाले साधारण व्यक्ति धन्य (अर्थात् सुखी) हैं ॥"

[यहाँ सज्जनता को, जो कि गुण है, दोष बना दिया गया है और मूर्खता को, जो कि दोष है, गुण बना दिया गया है ।]

ये (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं ।

सूत्रधार इस प्रकार (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख आदि) में किसी एक के द्वारा कथावस्तु या पात्र की सूचना देकर प्रस्तावना के अन्त में (स्टेज से) चला जाय तथा उसके बाद कथावस्तु (के अभिनय) की तैयारी तथा प्रस्तुतीकरण करे ॥ २१-२२ ॥

तत्र—

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

उनमें—

इस नाटक में ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवृत्त को आधिकारिक कथा-वस्तु बनानी चाहिए जिसमें मनोहर गुणों से युक्त, धीरोदात्त, प्रतापी, यश का अभिलाषी, महान् उत्साह से सम्पन्न, वेदों का रक्षक, पृथ्वी का पालक, प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न कोई राजर्षि (राजा) अथवा दिव्य (देवता आदि) नायक हो ॥ २२, २३-२४ ॥

जिस इतिवृत्त में सत्य बोलना, वाणी और कर्म में एकरूपता तथा नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध सेवनीय गुणों आदि से सम्पन्न, रामायण और महाभारत इत्यादि में प्रसिद्ध, धीरोदात्त राजर्षि (राजा) अथवा दिव्य नायक हो ऐसे ही इतिहास-प्रसिद्ध आख्यान को इस नाटक में आधिकारिक वस्तु बनना चाहिए ।

उस (प्रख्यात इतिवृत्त) में नायक के लिए जो कुछ अनुचित हो अथवा रस के जो कुछ विरुद्ध हो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा उसकी दूसरे रूप में कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ २४-२५ ॥

जैसे मायुराज ने (अपने) उदात्तराघव (नाटक) में (रामचन्द्र के द्वारा) छल से वालिवध (की घटना) को छोड़ दिया है । महावीरचरित में (भवभूति के द्वारा) ऐसा परिवर्तन किया गया है कि—रावण की मित्रता के कारण वाली राम का वध करने के लिए आया था, तब राम के द्वारा उसका वध किया गया ।

(नाटककार इतिवृत्त के) आदि एवं अन्त का इस प्रकार निश्चय करके उसे पाँच

इतिवृत्तश्रृङ्गारे कवेर्न पारतन्त्र्यं किन्तु स्वातन्त्र्यमेवेति दर्शयन्नाह—**यत्तत्रेति ।** तत्रेतिवृत्ते, **यत्**=यत् किमपि, **नायकस्य**=नेतुः, **अनुचितम्**=सङ्गतिविरहितम्, आदर्शानुप्राणितं वा, **रसस्य विरुद्धम्**=विपरीतम्, [illegible] योग्यं वा प्रकल्पयेत्, अनेन नायकस्य रसस्य वा सम्बन्धे उपयुक्तं स्वेच्छया कविः कल्पयेदिति ॥

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति—

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृतबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत्। पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात्।

अपरं तथा ॥ २६ ॥

पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

(सन्धि नामक) भागों में विभक्त कर दे। फिर सन्धि नामक उन भागों को भी खण्डों (अर्थात् सन्ध्यङ्गों) में विभाजित करे। इस प्रकार (आधिकारिक इतिवृत्त के) चौसठ (६४) अङ्ग हो जाते हैं ॥ २५-२६ ॥

(नायक के) अनौचित्य तथा रस-विरोध के परिहार के द्वारा पूर्ण शुद्ध कर ली गई कथा-वस्तु में (विष्कम्भक आदि से) सूच्य एवं दृश्य का विभाग कर लेने पर नाटककार को चाहिए कि वह उस (कथावस्तु) में फल के अनुसार बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक (पाँच) अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे। पुनः उस कथावस्तु को पाँच कार्यावस्थाओं (आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) के अनुसार पाँच भागों (अर्थात् मुख आदि पाँच सन्धियों) में बाँट दे। तदनन्तर एक-एक भाग के (जैसा कि प्रथम प्रकाश में बतलाया जा चुका है) बारह, तेरह या चौदह अङ्ग (अर्थात् सन्ध्यङ्ग) रूप विभाग सभी सन्धियों के करने चाहिए।

और जो दूसरे प्रकार का (प्रासङ्गिक) इतिवृत्त है, उसमें पताका वृत्त (अर्थात् प्रासङ्गिक के पताका नामक भेद) में (प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक, दो आदि अनुसन्धियों की न्यूनता रखनी चाहिए तथा इसमें यथाप्राप्त सन्ध्यङ्गों को भी रखना चाहिए। किन्तु प्रकरी (नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त के भेद) को तो सन्धि-रहित ही रखना चाहिए ॥ २६-२७ ॥

दूसरा (अर्थात् प्रधान इतिवृत्त से भिन्न) जो प्रासङ्गिक इतिवृत्त है, उसको (प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक आदि अनुसन्धियों से न्यून होना चाहिए अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा पताका नामक इतिवृत्त में एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों को कम रखना चाहिए। और उसमें उन्हीं अङ्गों को रखना चाहिए जो स्वयं प्राप्त हों (अर्थात् फिर उपयुक्त हों) तथा जिनका विरोध प्रधान इतिवृत्त से न हो। (प्रासङ्गिक इतिवृत्त के दूसरे भेद) प्रकरी इतिवृत्त को तो सन्धि से विहीन ही रखनी चाहिए।

तत्रैवं विभक्ते—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

विशेष—अनुसन्धिभिः—आधिकारिक इतिवृत्त की सन्धियों का अनुसरण करने के कारण प्रासङ्गिक इतिवृत्त की सन्धियों को अनुसन्धि कहा जाता है (ना० शा० १९-१८ तथा भाव प्र०) ।

इतिवृत्त का इस प्रकार का विभाग कर लेने पर—

(कवि नाटक के) आरम्भ में कार्य के औचित्य (अथवा कार्य की योजना) के अनुसार विष्कम्भक या अङ्क का विन्यास करे ।

इस प्रसङ्ग में कार्य-युक्ति यह है—

(नाटककार) जब नीरस किन्तु (नाटक को गतिविधि देने के लिए) आवश्यक कथा-जाल को छोड़ कर शेष भाग को (रङ्गमञ्च पर) प्रदर्शित करना चाहे तब विष्कम्भक का सन्निवेश करे ॥ २८-२९ ॥

किन्तु जब सरस वस्तु (कथावस्तु) एकदम आरम्भ से ही प्रारम्भ होती है तब (विष्कम्भक की प्रकल्पना न करके) आरम्भ में ही अङ्क रख दिया जाता है, तथा उस अङ्क का आधार आमुख में सूचित किये गये पात्र का प्रवेश हुआ करता है ॥ २९-३० ॥

विशेष—[जैसे मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना के लिए विष्कम्भक की योजना की गयी है । किन्तु शाकुन्तल की कथावस्तु सरस होने के कारण आरम्भ में ही आमुख (प्रस्तावना) के तुरत बाद ही अङ्क शुरू कर दिया गया है ।]

और (अङ्क) वह (है)—

जिसमें नायक का चरित प्रत्यक्षरूप में अङ्कित किया जाता है और जो बिन्दु (नामक अर्थ-प्रकृति) से युक्त होता है तथा जिसमें अनेकविध प्रयोजन, संविधान तथा रसों की स्थिति पायी जाती है वह अङ्क है ॥ ३०-३१ ॥

सरसकथामाश्रित्य निर्मिते रूपके आदौ विष्कम्भकस्य नास्ति प्रयोजनमिति साधयति—**यदेत्यादिना। मूलादेव**=रूपकस्यारम्भादेव, **आमुखाक्षेपसंश्रयः**-आमुखेन=प्रस्तावनया आक्षेपः =पात्रसूचनं संश्रयः=आश्रयः यस्य स आमुखाक्षेपसंश्रय इत्यङ्कविशेषणम् ॥

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन-संविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ।

तत्र च— **अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥**

गृहीतमुक्तैः कर्त्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम् । गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।

(रङ्गमञ्च पर नायक का) प्रवेश होने पर जहाँ (१) प्रत्यक्षरूप से नायक का व्यापार निर्दिष्ट किया जाय तथा (२) जो बिन्दु के उपस्थापनरूप अर्थ से परिमित किया जाता है एवं (३) अनेक प्रयोजन, संविधान और रस का, गोद की तरह, जो आधार होता है वह अङ्क है ।

विशेष—साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारः—अङ्क में नायक को रङ्गमञ्च पर लाकर उसे अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए कार्यरत दिखलाया जाता है । यही है नायक के व्यापार का साक्षात् निर्दिष्ट होना ।

बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितः—जब कभी ऐसी कथा या कथा-प्रकरण आ जाता है, जिसका कि एक दिन में अभिनय संभव नहीं होता या सामाजिकों की मनःशक्ति के उपयुक्त नहीं होता तो उसे बीच में ही समाप्त करना पड़ता है । किन्तु ऐसी अवस्था में कथांश या कथा-प्रकरण के साथ समाप्त होने वाले अङ्क का अगले अङ्क से सम्बन्ध जोड़ने के लिए समाप्त होने वाले अङ्क की समाप्ति पर बिन्दु की योजना करनी होती है । इस बिन्दु की समाप्ति तक ही अङ्क भी चलता है । यही है अङ्क का बिन्दु के उपक्षेपरूप अर्थ से परिमित होना ।

और उस (अङ्क) में—

अनुभाव, विभाव तथा (अन्य रस के) स्थायीभाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा अङ्गी (प्रधान) रस का परिपोषण करना चाहिए । यहाँ यह ध्यान रखना है कि ये अनुभाव, विभाव, स्थायी एवं व्यभिचारी किसी एक प्रधान रस के परिपोष के लिए पहले ग्रहण किये जाते हैं किन्तु उस (रस) के परिपुष्ट हो जाने पर छोड़ भी दिये जाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

(कारिका में) अङ्गी पद से ही अङ्गी रस के स्थायीभाव का ग्रहण हो जाता है, अतः 'स्थायिना' इस पद से अङ्गी रस के अतिरिक्त रस के स्थायी का ग्रहण समझना चाहिए । 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है—आपस में एक-दूसरे के साथ मिलने से बचा कर रक्खे गये (वि + अति + कीर्णैः) ।

अङ्कं लक्षयति—**प्रत्यक्षेत्यादिना । प्रत्यक्षनेतृचरितः—**प्रत्यक्षम् = सामाजिकानां समक्षम् नेतुः = नायकस्य चरितम् = फलोन्मुखो व्यापारो यस्मिन् असौ, **बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः—**बिन्दोः व्याप्त्या = उपक्षेपेण पुरस्कृतः = युक्तः, **नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः—**नानाप्रकाराः = अनेकविधाः ये अर्थाः = प्रयोजनानि संविधानानि रसाश्च तेषामाश्रयोऽङ्को भवति । **साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारः—**साक्षात् = प्रत्यक्षम् निर्दिश्यमानाः = सूचिताः, प्रदर्शिता इति यावत्,

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥ ३२ ॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।

कथासन्ध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः श्रृङ्गार एव वा ॥ ३३ ॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तन्न-यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवल-स्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥ ३४ ॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।

रस का परिपोष भी इतना अधिक नहीं करना चाहिए कि कथा-वस्तु ही अत्यन्त विच्छिन्न हो जाय (अर्थात् कथावस्तु का प्रवाह ही अत्यन्त रुक जाय) तथा वस्तु, अलङ्कार एवं (भरत के द्वारा निर्दिष्ट ३२) भूषण आदि नाट्य-लक्षणों द्वारा रस का भी तिरोधान नहीं होने देना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

कथा, सन्ध्यङ्ग, उपमा (आदि अलंकार) तथा भूषण आदि नाट्य-लक्षणों से (रस का आच्छादन भी बचाना चाहिए) ।

विशेष—भरत ने नाटकों के सम्बन्ध में ३२ लक्षणों को माना है । ये भूषण आदि लक्षण साहित्य-दर्पण में भी वर्णित हैं (सा० द० ६।१७१-१७५) ।

नाटक का रससम्बन्धी विचार

(नाटक में) वीर एवं श्रृङ्गार में किसी एक रस को ही अङ्गी (प्रधान) रस बनाना चहिए । अन्य सभी रसों को अङ्ग (अप्रधान) रूप में रखना चाहिए । निर्वहण-सन्धि में अद्भुत-रस का सन्निवेश करना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

पूर्वपक्षी—कारिका ३१ में 'रसान्तरस्थायिना' (वस्तुतः 'स्थायिना') पद के कहने से ही 'दूसरे रस (प्रधानभूत रस) के अङ्ग होते हैं'—यह स्पष्ट हो जाता है, तो फिर यहाँ 'अङ्गमन्ये रसाः' कहने की क्या आवश्यकता है ? (क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं है ?)

सिद्धान्ती—नहीं, ऐसी बात नहीं है । यतः जहाँ कोई एक स्थायीभाव अपने अनुभाव, विभाव और व्यभिचारीभावों के साथ अपेक्षाकृत खूब स्पष्ट रूप से दिखलाया जाता है, वहाँ अन्य रस (उस प्रधान रस) के अङ्ग हुआ करते हैं (यह बात 'अङ्गमन्ये रसाः' से सूचित की गयी है) । परन्तु जहाँ उस रस के स्थायीभाव का अनुभाव आदि के बिना भी निरूपण किया जाता है, वहाँ तो वह (स्थायीभाव) अन्य (अर्थात् प्रधान) रस के स्थायीभाव का व्यभिचारीभाव ही हो जाता है (यह ३१वीं कारिका की "स्थायिना" से सूचित की गई है) ॥

नायकस्य=नेतुः व्यापाराः यस्मिन् असौ, **बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितः**—बिन्दोः उपक्षेपरूपेण=उपस्थापनस्वरूपेण अर्थेन परिमितः=परिच्छिन्नः अङ्को भवति ॥

अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

अङ्कैर्नैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ।

विशेष—तन्न यत्र रसान्तरस्थायी । उत्तर देने वाले सिद्धान्ती का कहना है कि जब किसी रस का स्थायीभाव विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के विना उपनिबद्ध किया जाता है तब वह प्रधान रस का पोषक हुआ करता है । यही कारण है कि वह उस प्रधान रस का संचारी भाव होता है । उसे स्थायी भाव के नाम से तो इसलिये कह दिया जाता है, यतः वह किसी अन्य रस का स्थायी है। यह भाव पीछे की ३१वीं कारिका के 'स्थायिना' से व्यक्त किया गया है और यहाँ के "अङ्गमन्ये रसाः" का भाव यह है कि जो रस समूचे इतिवृत्त में पूर्ण स्पष्टता के साथ व्याप्त हो तथा अन्य रसों की अपेक्षा पूर्ण, सुस्पष्ट एवं सरलता से प्रबल प्रतीत हो वह तो अङ्गी (प्रधान) हुआ करता है और जो उसकी अपेक्षा कम देश में रहने वाले तथा आयास-साध्य हों वे अङ्ग (अप्रधान) हुआ करते हैं। किन्तु यहाँ अप्रधान रस भी अपने विभाव आदि के साथ ही उपस्थित रहते हैं। यहीं है दोनों कारिकाओं के भेद का रहस्य ।

अप्रदर्शनीय बातें

लम्बी यात्रा, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव एवं देश-विप्लव, घिराव, भोजन, स्नान, रति-क्रीडा, उबटन लगाना, वस्त्रों का पहनना आदि प्रत्यक्ष रूप से (रङ्गमञ्च पर) नहीं प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ३४-३५ ॥

इनका प्रदर्शन अंकों के द्वारा नहीं होना चाहिए, इन्हें प्रवेशक आदि के द्वारा ही सूचित करना चाहिये ।

अधिकारी (अर्थात् प्रधान) नायक के वध की सूचना कहीं भी नहीं करनी चाहिए तथा आवश्यक वस्तु का परित्याग भी नहीं करना चाहिए ।

अधिकृत (अर्थात् प्रधान) नायक के वध की सूचना प्रवेशक आदि के द्वारा भी नहीं देनी चाहिए तथा आवश्यक वस्तु जैसे—देव-पितृ-कार्य आदि का निर्देश अवश्य ही कहीं न कहीं कर देना चाहिए ।

ननु चेति। रसान्तरस्थायी–रसान्तरस्य = कस्यचिदेकस्य रसस्य स्थायी स्वकीयैर्विभावादिभिः संवलितः समग्रेतिवृत्तव्यापित्वेन सुस्पष्टतया चोपनिबध्यते तत्र तस्य प्राधान्यमन्येषाम् प्राधान्यम् । परञ्चाप्रधानभूता अन्येऽपि स्थायिनोऽत्र स्वविभावादिभिर्युक्ता एव भवन्ति। अयमेवाभिप्रायो "अङ्गमन्ये रसाः" इत्यस्य। किन्तु यत्र विभावादिविरहितः केवलं स्थायी उपनिबध्यते तत्र तु तस्य प्रधानभूतमतो समग्रेतिवृत्तव्यापिनं स्थायिनं प्रति व्यभिचारितैव भवति। स्थायिपदेन तत्कथनं तु पूर्वावस्थापेक्षयेति ध्येयम् । एष एवाभिप्रायो एकत्रिंशत्कारिकायां "स्थायिना" इति पदस्य ॥

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६ ॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्, तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७ ॥
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अङ्क में एक प्रयोजन से सम्बद्ध एक दिन का ही कार्य वर्णित होना चाहिए। इसमें नायक की उपस्थिति भी आवश्यक है। इसमें तीन या चार पात्रों की ही उपस्थिति होनी चाहिए तथा इन पात्रों का इस (अङ्क) की समाप्ति पर (रङ्गमञ्च) से निर्गमन भी होना चाहिए ॥ ३६-३७ ॥

अङ्क को एक दिन में समाप्त होने वाले एक प्रयोजन से युक्त, नायक की उपस्थिति से समन्वित, बहुत-से पात्रों के प्रवेश से रहित करना चाहिए। अङ्क की समाप्ति पर (अङ्क के) उन पात्रों का (रङ्गमञ्च से) बहिर्गमन करा देना चाहिए।

इस (अङ्क) में (भावी भावों का सूचक) पताकास्थानक भी होना चाहिये तथा इसके अन्त में बीज के समान ही बिन्दु को भी रखना चाहिये। (पात्रों का) प्रवेश आदि कराते हुए इस प्रकार अङ्कों का विधान करना चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

अङ्कों की संख्या का विधान

यह नाटक कम से कम पाँच अङ्कों वाला और अधिक से अधिक दस अङ्कों वाला होना चाहिए ॥ ३८ ॥

इस प्रकार (अब तक) नाटक का लक्षण बतलाया गया।

प्रकरण

प्रकरण का इतिवृत्त (अर्थात् कथानक) कविकल्पित तथा सामान्यवर्ग की जनता के जीवन पर आधारित (लोकसंश्रयम्) होना चाहिए। इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण तथा वणिक् में से कोई एक होता है, जो धीरप्रशान्त, धर्म, अर्थ एवं काम में तत्पर

अङ्कस्यैव वैशिष्ट्यं विवेचयति—**एकाहेत्यादिना**। एकस्य अह्नः चरितेन युक्तमेकार्थम् = एकं प्रयोजनमित्यर्थः, नानेकदिननिर्वर्त्यकथमिति भावः, **आसन्ननायकम्** = समुपस्थितनायकम्, अङ्कं कुर्यादिति सम्बन्धः ॥

प्रकरणं विशिनष्टि—**अथेति**। **उत्पाद्यम्** = कविकल्पितम्, **लोकसंश्रयम्**—लोकः = सामान्यजनसमवायः संश्रयः = आश्रयो यस्य तत्, लौकिकेतिवृत्तयुक्तमित्यर्थः, **सापायम्**—अपायैः = विघ्नैः सहितं सापायम् ॥

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम् = अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे । मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत् ।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥ ४१ ॥
कुलजाऽभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या, तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम्—

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥'

हुआ करता है । इस (नायक) के कार्य विघ्नों से भरे रहते हैं (सापायम्) । इसके अतिरिक्त प्रकरण में सन्धि, प्रवेशक तथा रस आदि नाटक के समान ही हुआ करते हैं ॥ ३९-४० ॥

(कवि को चाहिए कि वह) प्रकरण में कवि-बुद्धि-कल्पित एवं लोकाश्रयी अर्थात् अनुदात्त इतिवृत्त का आश्रयण करे तथा अमात्य आदि में से किसी एक को नायक बनावे । यह नायक धीरप्रशान्त होना चाहिए और इसकी कार्य-सफलता आपत्तियों से अन्तरित (विघ्नयुक्त) होनी चाहिए । मन्त्री ही अमात्य कहा जाता है । सार्थवाह एक विशेष प्रकार का (कार्य करने वाला) वणिक् ही होता है । शेष बातें स्वयं ही स्पष्ट हैं (अतः उनकी व्याख्या अपेक्षित नहीं है) ।

प्रकरण के नायक की नायिका दो तरह की होती है—कुलस्त्री (विवाहिता स्त्री) तथा वेश्या । किसी-किसी में एक कुलजा ही नायिका होती है । किसी-किसी में केवल वेश्या ही नायिका होती है और किसी-किसी में दोनों (कुलस्त्री एवं वेश्या) नायिका हुआ करती हैं । कुलजा आभ्यन्तर (घर के भीतर ही रहने वाली) नायिका होती है और वेश्या बाह्य (घर के बाहर ही रहने वाली) नायिका हुआ करती है ।—इस बात का उल्लंघन नहीं होना चाहिए । इन तीन तरह की नायिकाओं के कारण प्रकरण तीन प्रकार का होता है—(१) कुलजा-नायिका-युक्त, (२) वेश्या-नायिका-युक्त और (३) उभयविधनायिका-युक्त । उक्त तीन प्रकारों में संकीर्ण (वेश्या एवं कुलजा—दोनों तरह की—नायिका वाला) प्रकरण धूर्त पात्रों (जुआरी तथा शकार आदि) से युक्त हुआ करता है ॥ ४१-४२ ॥

वेश का अर्थ है—भृति = पालन-पोषण, वह वेश ही इसका जीवन है, अतः वह वेश्या कहलाती है । गणिका उस वेश्या का ही एक भेद है । जैसा कि कहा गया है—

"इनके द्वारा प्रार्थित रूप, शील तथा गुण से अलङ्कृत वेश्या ही गणिका शब्द से व्यवहृत होती है एवं लोक-सभाओं में (सम्मानित) स्थान प्राप्त करती है ॥"

एवं च कुलजा, वेश्या, उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्संकीर्णप्रकरणमिति।

अथ नाटिका—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये॥'

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते। तदसत्। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः।

इस प्रकार प्रकरण में कुलजा, वेश्या तथा कुलजा एवं वेश्या—दोनों ही एक साथ—नायिका हुआ करती हैं। उदाहरणार्थ, जैसे तरङ्गदत्त नामक प्रकरण में केवल वेश्या ही नायिका है, पुष्पदूषितक नामक प्रकरण में केवल कुलजा ही नायिका है तथा मृच्छकटिक में वे दोनों—वेश्या एवं कुलजा—ही नायिका हैं। संकीर्ण प्रकरण तो मृच्छकटिक आदि की भाँति कितव तथा जुआरी आदि धूर्तों से व्याप्त रहता है।

विशेष—सङ्कीर्णप्रकरणम्—नायिका के भेद से प्रकरण तीन प्रकार का होता है—(१) केवल कुलजा नायिका वाला, (२) केवल वेश्या नायिका वाला तथा (३) कुलजा एवं वेश्या नायिका वाला। इनमें प्रथम दो शुद्ध प्रकरण और तृतीय संकीर्ण प्रकरण कहा जाता है। संकीर्ण का अर्थ है—मिला-जुला (यहाँ दो नायिकाओं वाला)।

नाटिका

अब नाटिका (का लक्षण किया जा रहा) है—

यहाँ (रूपक के) अन्य संकीर्ण (मिश्रित) भेदों का निराकरण करने के लिए नाटिका का लक्षण किया जा रहा है।

कुछ लोग संकीर्ण रूपकों में "इन दोनों (अर्थात् नाटक और प्रकरण) की संघटना के योग से प्रयोगकर्ता जनों को नाटीसंज्ञक काव्य में एक भेद जानना चाहिए चाहे वह प्रख्यात हो अथवा अप्रख्यात" इत्यादि भरतमुनि के इस कारिका (१८.५७) की "एक भेद तो प्रसिद्ध है जिसे नाटिका कहा जाता है और दूसरा अप्रसिद्ध है जिसे प्रकरणिका कहा जाता है। इस प्रकार नाटीसंज्ञा के द्वारा दो तरह के काव्य आश्रित किये जाते हैं"—ऐसी व्याख्या करते हुए प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं।

किन्तु उनका यह मानना उचित नहीं है; क्योंकि (प्रकरणिका का) न तो नाम लेकर निर्देश (उद्देश) ही किया गया है और न उसका लक्षण ही बतलाया गया है। यदि कोई तर्क दे कि नाटिका और प्रकरणिका का समान लक्षण है (अतः प्रकरणिका

अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षण-सङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते। तमेव सङ्करं दर्शयति—

तत्र वस्तुप्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति।

एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात्। यदि भेदस्तत्र (तदा)—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥ ४४ ॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च। तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव।

का अलग से लक्षण नहीं बतलाया गया है)। यदि इस बात को मान लिया जाय तब तो दोनों (नाटिका और प्रकरणिका) में भेद ही नहीं हो सकेगा। सच तो यह है कि प्रकरणिका के वस्तु, रस तथा नायक प्रकरण के वस्तु, रस एवं नायक जैसे ही होते हैं। (इससे निश्चित होता है कि प्रकरणिका प्रकरण से भिन्न नहीं है; क्योंकि रूपकों के भेदक तत्त्व तो ये वस्तु, रस तथा नायक ही तो हैं)।

[**पूर्वपक्षी**—प्रकरणिका के समान ही तो नाटिका का भी दशरूपकों की श्रेणी में नाम लेकर नाट्याचार्य भरतमुनि ने निर्देश नहीं किया है। अतः उसका लक्षण करना ठीक नहीं है।]

सिद्धान्ती—(ठीक है, आपका कथन ठीक है)। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि (रूपकों की श्रेणी में) नाम निर्देश करके न गिनाई गई नाटिका का लक्षण जो कि भरतमुनि ने किया है, उसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध रूपकों (नाटक और प्रकरण) के लक्षणों के मिश्रण से ही उस (नाटिका) का लक्षण सम्पन्न हो जाता है तो (मुनि ने नाटिका का) लक्षण यह नियम बनाने के लिए किया है कि—संकीर्ण रूपकों में केवल नाटिका की ही रचना करनी चाहिए।

(नाटिका में नाटक एवं प्रकरण के) उसी मिश्रण को दिखला रहे हैं—

उस (नाटिका) में प्रकरण से वस्तु ली जाती है (अर्थात् नाटिका की वस्तु प्रकरण के समान कविकल्पित होती है)। इसका नायक नाटक से लिया जाता है (अर्थात् नाटिका का नायक नाटक के नायक के समान होता है)। वह राजा होता है, प्रख्यात एवं धीर ललित होता है। इस (नाटिका) में अपने लक्षणों के सहित शृङ्गार-प्रधान रस हुआ करता है। ४३-४४ ॥

कल्पित इतिवृत्त (कथानक) का होना प्रकरण का धर्म है तथा नायक का

नाटिकां निरूपयति—**तत्रेति**। तत्रेति नाटिकायाम्। **उत्पाद्येति**—इतिवृत्तस्य कविकल्पितत्वं प्रकरणस्य नाटकाद्वैशिष्ट्यं तथा नायकस्य नृपत्वं प्रख्यातत्वादिकञ्च नाटकस्य प्रकरणाद्वैलक्षण्यं ज्ञेयम् ॥

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।

प्रख्यात एवं राजा आदि होना नाटक की विशेषता है। (इन दोनों विशेषताओं को लेकर ही नाटिका की रचना की जाती है)।

अब तक के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रकरणिका में नाटक, प्रकरण तथा नाटिका से भिन्न वस्तु आदि का अभाव होता है। यदि अङ्कों एवं पात्रों को लेकर (दोनों नाटिका तथा प्रकरणिका) भेद माना जाय तब तो (रूपकों के अनन्त भेदों को स्वीकार करने का झमेला खड़ा हो जायगा। यही आगे बतला रहे हैं)—

स्त्रियों की अधिकता तथा चार अङ्क का होना आदि यदि (नाटिका और प्रकरणिका का) विभाजक तत्त्व माना जाय तब तो एक, दो अथवा तीन अङ्क या पात्र आदि के भेद से (रूपकों के) अनन्त भेद होने की बात आ जायगी ॥ ४४-४५॥

'नाटिका' इस स्त्री-वाची नाम के कारण तथा कैशिकीवृत्ति का आश्रयण करने के कारण भी यहाँ (नाटिका में) स्त्रियों की अधिकता होना उचित भी है। उस (कैशिकीवृत्ति) के (नर्म आदि) चार अङ्गों तथा अवमर्श सन्धि के अल्प होने के कारण भी नाटिका में चार अङ्कों का होना औचित्य-प्राप्त है।

विशेष—'नाटिका' इस स्त्री वाची नाम के कारण भी इसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता हुआ करती है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि नाटिका में कैशिकी-वृत्ति की प्रधानता होती है। अतः इसमें श्रृङ्गार रस प्रमुख होता है। श्रृंगार की इस प्रमुखता के कारण भी नाटिका में स्त्री-पात्रों की अधिकता रहती है।

चतुरङ्कत्वम्—नाटिका में कैशिकीवृत्ति का आश्रयण लिया जाता है। कैशिकी-वृत्ति के नर्म आदि चार अङ्ग हुआ करते हैं। इन्हीं अङ्गों के आधार पर नाटिका के चार अङ्क कल्पित किये गये हैं। रूपक की कथा-वस्तु पाँच भागों (सन्धियों) में विभक्त होती है। यही कारण है कि नाटक में कम से कम पाँच अङ्क माने गये हैं, किन्तु नाटिका में अवमर्श-सन्धि अति स्वल्प होती है। यही कारण है कि अवमर्श-सन्धि तथा निर्वहण-सन्धि को मिला कर एक साथ ही रख देते हैं। इस कारण से भी नाटिका में चार अङ्क हुआ करते हैं।

नाटिका की विशेषता यह है—

नाटिका में महारानी ज्येष्ठा नायिका हुआ करती है। वह राजकुल में उत्पन्न होती है। (स्वभाव से) वह प्रगल्भ, गम्भीर एवं मानिनी होती है। उसके वश में होने के कारण (प्राप्या नायिका के साथ) नायक का संगम बड़ी ही कठिनता से हो पाता है ॥ ४५-४६ ॥

प्राप्या तु—

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥ ४८ ॥

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाणः—

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥

प्राप्या (प्रेमिका) नायिका तो—

राजकुल में उत्पन्न, भोली-भाली (मुग्धा), दिव्य गुणों से अलङ्कृत तथा अत्यन्त मनोहर होती है ॥ ४६ ॥

(कारिका में) तादृशी = वैसी शब्द के द्वारा (प्राप्या नायिका में) राजकुल में उत्पन्न होना आदि विशेषताओं को बतलाया गया है ।

(वह प्राप्या नायिका) अन्तःपुर आदि से सम्बन्ध होने के कारण नायक के निकट होती है । (उस प्राप्या नायिका के विषय में) सुन कर तथा (उसे) देख कर नायक का उसके प्रति उत्तरोत्तर नवीन अनुराग होता रहता है । नायक महारानी (ज्येष्ठा नायिका) के भय से शङ्कित होकर उस (प्राप्या नायिका) की ओर पैर बढ़ाता है (अर्थात् प्रवृत्त होता है) ॥ ४७-४८ ॥

अन्तःपुर में रहने के कारण अथवा संगीत आदि के प्रसङ्ग से सम्पर्क में आई हुई उस (प्राप्या नायिकारूप) मुग्धा नायिका के प्रति नायक का ऐसा अनुराग दिखलाना चाहिए जो महारानीरूप बाधा से सविघ्न तथा उत्तरोत्तर नितनवीन हो ।

नाटिका जिस प्रकार चार अङ्कों से युक्त होती है, उसी प्रकार कैशिकीवृत्ति के चार अङ्गों (नर्म, नर्म-स्फिञ्ज, नर्म-स्फोट एवं नर्म-गर्भ) से भी युक्त होती है ॥४८॥

नाटिका प्रत्येक अङ्क में उक्त लक्षण वाले कैशिकी के चारों अङ्गों से युक्त हुआ करती है ।

३—भाण

अब भाण (नामक रूपक) की परिभाषा दी जा रही है—

भाण वह (रूपक) है, जिसमें—कोई चतुर तथा बुद्धिमान् विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित का वर्णन करता है । वह

सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तुकल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

धूर्ताश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।
लास्याङ्गानि—

(विट) आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन तथा उत्तर-प्रत्युत्तर करता है । वह वीरता एवं विलास (सौभाग्य) के वर्णन के द्वारा वीर तथा शृङ्गार-रस की सूचना देता है । उस (भाण नामक रूपक) में प्रायः भारती वृत्ति का ही प्रयोग होता है । वह एक अङ्क का होता है और उसकी वस्तु कवि-कल्पित ही हुआ करती है । उसमें अपने अङ्गों के सहित मुख एवं निर्वहण (नामक दो) सन्धियाँ होती हैं । इसमें लास्य के दस अङ्ग भी पाये जाते हैं ॥ ४९-५१ ॥

धूर्त का अर्थ है—चोर, जुआरी आदि । जिसमें अपने द्वारा किये गये अथवा दूसरों के द्वारा किये गये उन (धूर्तों) के चरित को अकेला विट ही वर्णन करता है वह भारती वृत्ति की प्रधानता के कारण भाण कहलाता है । एक व्यक्ति (विट) का ही उत्तर-प्रत्युत्तर ("क्या कह रहे हो?" "यह कह रहे हो ?" आदि) की आशङ्का करके आकाशभाषित के माध्यम से सम्पन्न हो जाया करता है । इसमें अस्पष्ट होने के कारण वीर तथा शृङ्गार-रस वीरता तथा विलास के वर्णन के द्वारा (केवल वाणीमात्र से) सूचित किये जाते हैं ।

विशेष—कुल मिलाकर भाण की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. इसकी कथावस्तु कविकल्पित तथा धूर्तचरितपरक होती है । इसमें मुख तथा निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं । २. इसका एकमात्र पात्र विट होता है । वही इसका नायक भी होता है । वह कथोपकथन का प्रयोग आकाशभाषित के माध्यम से करता है । ३. प्रायः इसमें भारतीवृत्ति का ही प्रयोग होता है । ४. इसमें वीर तथा शृङ्गार-रस की सूचना, शूरता तथा विलासिता के वर्णन के माध्यम से दी जाती है । ५. यह केवल एक अङ्क का ही होता है ।

लास्य के अङ्ग

(भाण के लक्षण में आये) लास्य के अङ्गों का निरूपण कर रहे हैं—

भाणाख्यं रूपकं निरूपयति—**भाणस्त्वित्यादिना** । भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । भारतीवृत्तिस्तु शब्दवृत्तिरतोऽत्र वाचिकाभिनयस्य प्राधान्यम् । विशेषतस्तु वाचिकव्यापारेण भणनेनेत्यर्थो भाणः । नाट्यदर्पणकारास्तु "भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः" इति व्याकुर्वन्ति [illegible]

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति।

---

(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक तथा (१०) उक्त-प्रत्युक्त—लास्य में इन दश प्रकार के अङ्गों का निर्देश किया गया है ॥ ५२-५३ ॥

शेष स्पष्ट है (अर्थात् कारिकाओं का अर्थ स्वयं स्पष्ट है। अतः उनकी टीका नहीं लिखी जा रही है)।

विशेष—साहित्यदर्पण (६।२१४) के अनुसार लास्य के गेयपद आदि अङ्गों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) गेयपद—सामाजिकों के समक्ष आसन पर बैठ कर वीणा आदि बजाते हुए शुद्ध (अर्थात् भाव-भङ्गिमा से रहित) गाना ही गेयपद है।

(२) स्थितपाठ्य—काम से पीडित नायिका का प्राकृत में गाना ही स्थित-पाठ्य है।

(३) आसीन—शोक एवं चिन्ता से आकुल नायिका का वाद्य एवं आङ्गिक अभिनय के विना ही गाना आसीन है।

(४) पुष्पगण्डिका—वाद्य के साथ विविध छन्दों में स्त्री का पुरुष-वेष में तथा पुरुष का स्त्री-वेष में होकर गाना ही पुष्पगण्डिका है।

(५) प्रच्छेदक—पति को दूसरी स्त्री में आसक्त मानकर प्रणय-विच्छेद के कारण होने वाले कोप के साथ स्त्री का वीणा बजाकर गाना ही प्रच्छेदक है।

(६) त्रिगूढ—स्त्री का वेश बना कर पुरुष का मधुर अभिनय करना ही त्रिगूढ है।

(७) सैन्धव—सङ्केत-स्थल पर प्रिया को न प्राप्त कर, वीणा आदि वाद्य की क्रिया से युक्त होकर पुरुष का प्राकृत में गाना ही सैन्धव है।

(८) द्विगूढ—मुख तथा प्रतिमुख से युक्त, रसभावादि से परिपूर्ण, विदग्धजनों को मुग्ध करने वाला गीत द्विगूढ है।

(९) उत्तमोत्तमक—कोप या प्रसाद के कारण गाया गया, अधिक्षेप से युक्त, क्रमशः रस का आश्रय, हाव-हेला के सहित, विचित्र श्लोकरचना के कारण मनोहर गायन उत्तमोत्तमक है।

(१०) उक्तप्रत्युक्त—उत्तर-प्रत्युत्तर से युक्त, उलाहना से भरा हुआ, झूठा एवं विलासपूर्ण गीत उक्तप्रत्युक्त है।

अथ प्रहसनम्—

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥

चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः = शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः । तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥

विकृतं,

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः । तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् ।

४—प्रहसन

अब प्रहसन (की परिभाषा दी जा रही) है—

प्रहसन भी भाण की तरह ही होता है । इसके तीन भेद होते हैं—(१) शुद्ध, (२) वैकृत और (३) सङ्कर ।

"तद्वत् = भाण की तरह" का आशय यह है कि भाण की ही भाँति प्रहसन में भी वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग और लास्य आदि का विधान किया जाता है ।

उनमें शुद्ध प्रहसन (की परिभाषा) तो (यह) है—

शुद्ध प्रहसन वह है—जो पाखण्डी विप्र आदि एवं चेट, चेटी तथा विट आदि से भरा होता है, जो उनके चरित, वेष एवं भाषा से युक्त होता तथा जो हास्य के वचनों से परिपूर्ण होता है ॥ ५४-५५ ॥

पाखण्डी अर्थात् बौद्ध एवं जैन संन्यासी आदि । विप्र अर्थात् अत्यन्त भोले-भाले ब्राह्मण अथवा एकमात्र (ब्राह्मण इस) जाति के नाम पर जीविका चलाने वाले । ये लोग प्रहसन के अङ्गी रस हास्य के विभाव होते हैं । जिसमें उक्त पाखण्डी तथा विप्र आदि के अपने व्यापारों का ठीक-ठीक वर्णन किया जाता है और जो चेट, चेटी (अर्थात् दास एवं दासी) के व्यवहार से युक्त होता है—वह शुद्ध प्रहसन है ।

विकृत प्रहसन तो—

जो कामुक आदि (जनों) के वचन को बोलने वाले एवं उनके वेष को धारण करने वाले नपुंसकों, कञ्चुकियों तथा तपस्वियों से युक्त होता है, वह विकृत (प्रहसन) है ॥ ५५-५६ ॥

कामुक आदि का अर्थ है—कामुक (अर्थात् लम्पट), दूत तथा योद्धा आदि ।

सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।

वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ।

अथ डिमः—

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्व यक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याःषोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

जिसमें इन (कामुक आदि) के वेष तथा भाषा वाले नपुंसक, कञ्चुकी, तपस्वी तथा वृद्ध आदि होते हैं, वह विकृत (प्रहसन) है। (इसके विकृत नाम पड़ने का कारण यह है कि इसमें जो (कामुक आदि) विभाव हैं, वे अपने-अपने असली (नपुंसक आदि) रूप का परित्याग करके इन (कामुक आदि) विभावों के रूप में आते हैं।

जो वीथी (के अङ्गों) से मिश्रित तथा धूर्तों से भरा होता है, वह सङ्कीर्ण प्रहसन कहलाता है।

वीथी के अङ्गों से संकीर्ण होने के कारण इसे संकीर्ण कहते हैं।

(प्रहसन में) छः प्रकार के अङ्गों से युक्त हास्य-रस का उपस्थापन प्रचुरता के साथ होना चाहिए ॥ ५६ ॥

इसका (अर्थ) स्पष्ट है।

५—डिम

अब डिम (नामक रूपक की परिभाषा दी जा रही) है—

डिम (नामक रूपक) में कथा-वस्तु प्रसिद्ध (अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध) होती है। कैशिकीवृत्ति को छोड़ कर शेष अन्य (सात्त्वती, आरभटी और भारती) वृत्तियाँ इसमें पाई जाती हैं। इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, (वासुकि आदि) महासर्प, भूत, प्रेत, पिशाच आदि १६ सोलह उद्धत नायक होते हैं। यह हास्य तथा शृंगार को छोड़ कर अत्यन्त स्पष्ट शेष ६ रसों से युक्त होता है। न्यायतः इसमें रौद्र-रस प्रधान (अङ्गी) हुआ करता है। यह माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध तथा घबराहटपूर्ण चेष्टाओं एवं चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण से युक्त होता है। इसमें चार अङ्क तथा विमर्श-सन्धि को छोड़ कर शेष चार सन्धियाँ हुआ करती हैं।—इन लक्षणों से युक्त (रूपक) डिम कहा गया है ॥ ५७-६० ॥

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाद् डिमः । तत्रेतिहाससिद्धमितिवृत्तम्, वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः, रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट्, स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः, विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः, मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः) । शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत् । एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम् ।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥ ६० ॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥ ६१ ॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

'डिम' शब्द की सिद्धि 'संघात = समूह अर्थ वाले 'डिम' धातु से होती है । अनेक नायकों के व्यापार से भरपूर होने के कारण इसे 'डिम' कहा जाता है । इसका इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध हुआ करता है । कैशिकी को छोड़ कर बाकी तीन वृत्तियाँ इस में होती हैं । वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक ये छः रस इसमें होते हैं । इसमें न्यायतः रौद्र-रस प्रधान (अङ्गी) हुआ करता है । विमर्श-सन्धि को छोड़ कर शेष मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण नामक चार सन्धियाँ अपने अङ्गों के सहित इस में होती हैं । इसमें माया तथा इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है । शेष बातें प्रस्तावना आदि नाटक के समान हुआ करती हैं । और यह बात—

"ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह (नामक रूपक) में (डिम) का यह लक्षण बतलाया है । यही कारण है कि त्रिपुरदाह को 'डिम' की संज्ञा दी जाती है ॥"

ऐसा कह कर भरतमुनि ने स्वयं ही त्रिपुरदाह के इतिवृत्त की समानता दिखलाई है।

६—व्यायोग

अब व्यायोग (की परिभाषा दी जा रही) है—

व्यायोग की कथावस्तु (इतिहास-) प्रसिद्ध हुआ करती है । इसमें प्रसिद्ध एवं उद्धत व्यक्ति का आश्रय लिया जाता है । यह गर्भ तथा विमर्श-सन्धि से रहित होता है । इसमें डिम की ही भाँति छः दीप्त (अर्थात् अनायास प्रतीत होने वाले) रस हुआ करते हैं । इसमें ऐसे युद्ध का वर्णन रहता है, जो स्त्री के कारण से न होकर अन्य निमित्तों से होता है; जैसे "जामदग्न्यजय" (नामक व्यायोग) में है । इसका एक अङ्क एक दिन के चरित (कथा) के वर्णन से युक्त हुआ करता है । इसमें पुरुष-पात्रों की बहुलता होती है ।

अथ डिमं लक्षयति—**डिम इत्यादिना** । **दीप्तैः** = विभावादिसामग्रीबलेन झटिति प्रतीयमानैरित्यर्थः । न्यायतः = न्यायप्राप्ते न्यायप्राप्तौ इति यावत् ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः। तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार-रहिताः। वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते। अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः। शेषं स्पष्टम्।

अथ समवकारः—

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत्॥ ६२॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तुसन्धयः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः॥ ६३॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने॥ ६४॥

जिसमें बहुत-से पुरुष-पात्र प्रयुक्त होते हैं, वह व्यायोग है (वि + आ + युज् + घञ् = व्यायोग)। इसमें 'डिम' की ही भाँति हास्य एवं शृङ्गार को छोड़ कर, शेष छः रस हुआ करते हैं। यद्यपि (कारिका में व्यायोग की) वृत्तियों का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि रसों के वृत्त्यात्मक होने से उन (रसों) के अनुसार ही कैशिकी को छोड़ कर बाकी वृत्तियाँ इसमें होती हैं—यह बात अपने आप प्रतीत हो जाती है। इसमें ऐसे युद्ध का वर्णन रहता है, जिसका निमित्त स्त्री नहीं हुआ करती है; जैसे परशुराम ने अपने पिता के वध के क्रोध से सहस्रार्जुन का वध कर डाला था। बाकी बातें स्वयं स्पष्ट हैं।

विशेष—वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानाम्—भारती आदि शब्दवृत्ति तथा अर्थवृत्ति हैं। दशरूपक के अनुसार रस की अनुभूति वाक्यार्थ के रूप में हुआ करती है। अतः रस वृत्त्यात्मक हैं। यही कारण है कि रस और वृत्तियों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जहाँ रस होते हैं, वहाँ वृत्तियाँ भी हुआ करती हैं। व्यायोग में हास्य तथा शृङ्गार-रस नहीं होते। इसीलिए इसमें कैशिकीवृत्ति भी नहीं होती; क्योंकि कैशिकीवृत्ति शृङ्गार में ही हुआ करती है।

७—समवकार

अब समवकार (की परिभाषा दी जा रही) है—

समवकार में भी नाटक आदि के समान आमुख की योजना करनी चाहिए। इसमें देवों तथा दानवों की प्रसिद्ध कथा होती है। विमर्श को छोड़ कर शेष चार सन्धियाँ इसमें हुआ करती हैं। कैशिकी की स्वल्पता के साथ ही चारों वृत्तियाँ होती हैं। इसमें उदात्त स्वभाव के विख्यात देव तथा दानव बारह नायक होते हैं। इन (बारहों नायकों) के प्रयोजन अलग-अलग हुआ करते हैं। वे सभी (नायक) वीर-रस से पूर्णतया ओत-प्रोत रहा करते हैं, जैसे कि समुद्रमन्थन नामक समवकार में है। यह तीन अङ्कों का होता है। इसमें तीन कपट, तीन शृङ्गार तथा तीन विद्रव (पात्रों की भगदड़) होते हैं। इसका प्रथम अङ्क दो सन्धियों (मुख तथा प्रतिमुख) से युक्त करना चाहिए। (इसकी कथा) बारह नालिका (२४घड़ी) की होनी चाहिए। इसके बाकी दो अङ्क क्रमशः (द्वितीय अङ्क) चार नालिका (८ घड़ी) तथा (तृतीय

अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥ ६६ ॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकाः, तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः, त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः। यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ, नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः, तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः।

अङ्क) २ नालिका (४ घड़ी) का होना चाहिए। नालिका दो घड़ी की होती है। इस (समवकार) में तीन कपट होते हैं। ये कपट वस्तु-स्वभाव के द्वारा, दैव के द्वारा तथा शत्रु के द्वारा लाये गये होते हैं। नगर का विराव, संग्राम तथा वायु एवं अग्नि आदि के द्वारा किये गये तीन विद्रव (पलायन, भगदड़) होते हैं। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम से युक्त (तीन तरह का) शृङ्गार पाया जाता है। बिन्दु (नामक अर्थ-प्रकृति) तथा प्रवेशक (नामक अर्थोपक्षेपक) इसमें नहीं होता। इसमें प्रहसन की ही भाँति यथायोग्य वीथी के अङ्गों का भी समावेश करना चाहिए ॥ ६२-६७ ॥

जिसमें बहुत से प्रयोजन भली-भाँति छिटकाये जाते हैं वह समवकार है (—यह है समवकार की व्युत्पत्ति)। इसमें नाटक आदि की भाँति आमुख होना चाहिए (कारिका के) इस कथन से समस्त रूपकों में आमुख की योजना होनी चाहिए। समवकार में विमर्श को छोड़ कर बाकी चार सन्धियाँ होती हैं। देव, असुर आदि इसमें बारह नायक होते हैं। इन (नायकों) के प्रयोजन अलग-अलग हुआ करते हैं, जैसे समुद्रमन्थन (नामक समवकार) में विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है। इसमें वीर-रस अङ्गी (प्रधान) होता है और शेष रस इसके अङ्ग हुआ करते हैं। इसके तीन अङ्क होते हैं। उनमें प्रथम अङ्क का कथानक १२ नाड़ी (नालिका) में समाप्त हुआ करता है। दूसरा तथा तीसरा अङ्क क्रमशः चार और दो नाड़ी में समाप्त होते हैं। नाड़ी (नालिका) दो घड़ी (घटिका) की हुआ करती है। प्रत्येक अङ्क में क्रमशः तीन कपट (अर्थात् प्रथम अङ्क में वस्तुस्वभावकृत, दूसरे में दैवकृत तथा तीसरे में अरिकृत) तथा नगर का विराव, युद्ध तथा वायु और अग्नि आदि विद्रवों में कोई एक विद्रव प्रदर्शित किया जाता है। धर्मशृंगार, अर्थशृंगार तथा काम शृंगार में से एक-एक शृंगार प्रत्येक अङ्क में प्रदर्शित करना चाहिए। वीथी के अङ्गों की योजना भी इसमें यथायोग्य

धर्मार्थकामश्रृङ्गाराणामेकैकः श्रृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

अथ वीथी—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत्॥ ६८॥
रसः सूच्यस्तु श्रृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः॥ ६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथीवद्वीथी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या। विशेषस्तु रसः श्रृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम्।

करनी चाहिए। यद्यपि नाटक में बिन्दु और प्रवेशक भी होते हैं, फिर भी उनका इसमें विधान नहीं करना चाहिए। यह है समवकार का प्रारूप।

विशेष—वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः—वस्तुस्वभावकृत कपट वह है जो क्रूर प्राणी के द्वारा किया जाता है। दैववश होने वाला कपट दैवकृत तथा शत्रु के द्वारा होने वाला कपट अरिकृत कपट है।

धर्मार्थकामश्रृङ्गाराणाम्—धर्मश्रृङ्गार वह है जहाँ कि रतिभाव या रतिभाव के आलम्बन प्रमदा की प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है। इसका फल भी धर्म का आचरण हुआ करता है। उदाहरणार्थ पति-पत्नी का संयोग धर्मश्रृङ्गार है। अर्थश्रृङ्गार वह श्रृङ्गार है जहाँ कि धन आदि के द्वारा वेश्या आदि से संयोग हुआ करता है। वेश्या की धनप्राप्ति ही इसका फल है। कामश्रृङ्गार वह श्रृङ्गार है जहाँ कामवश परस्त्री से संयोग किया जाता है। काम ही इसका फल होता है।

८—वीथी

अब वीथी (का लक्षण किया जा रहा) है—

वीथी कैशिकीवृत्ति में होती है (अर्थात् वीथी का निबन्धन कैशिकीवृत्ति में किया जाना चाहिए)। इसमें सन्धि के अङ्ग तथा अङ्क भाण की तरह होते हैं (अर्थात् इसमें मुख एवं निर्वहण—ये दो सन्धियाँ होती हैं और एक अङ्क होता है)। इसका रस श्रृङ्गार होता है तथा वह सूच्य हुआ करता है। किन्तु अन्य रसों को भी स्पर्श करना चाहिए (अर्थात् अन्य रसों की भी झलक इसमें होनी चाहिए)। यह प्रस्तावना के अङ्ग उद्घात्यक आदि से भी युक्त होती है। इस तरह एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयुक्त वीथी की योजना करनी चाहिए॥ ६८-७०॥

वीथी की तरह होने के कारण इसे वीथी कहा जाता है। वीथी का अर्थ है—मार्ग अथवा अङ्गों की पंक्ति (सन्ध्यङ्गों की पंक्ति)। वीथी में सन्ध्यङ्गों की योजना भाण की भाँति करनी चाहिए। (भाण से इसका) भेद यह है कि इसमें श्रृङ्गार का पूर्ण परिपाक न होने के कारण यह (श्रृङ्गार) बहुशः सूच्य हुआ करता है, तथा अन्य रसों का भी थोड़ी मात्रा में स्पर्श किया जाता है। (श्रृङ्गार) रस के अनुकूल होने के

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवितैः ॥ ७१ ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

अथेहामृगः—

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ॥ ७२ ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥

कारण ही इसमें कैशिकीवृत्ति होती है । (कारिका की) बाकी बातें स्पष्ट हैं (अतः उनकी व्याख्या आवश्यक नहीं है)।

९—अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क)

अब अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क की परिभाषा दी जा रही) है—

उत्सृष्टिकाङ्क में (कवि को) इतिहास-प्रसिद्ध कथानक (अपनी) बुद्धि से विस्तृत अथवा परिवर्तित कर लेना चाहिए । इसमें करुण स्थायी (अर्थात् प्रधान) रस होता है तथा इसके नायक साधारण व्यक्ति हुआ करते हैं । यहाँ भाण के समान ही (मुख तथा निर्वहण) सन्धि एवं (भारती) वृत्ति तथा उनके अङ्गों की योजना हुआ करती है । यह स्त्रियों के विलाप से युक्त होता है । इसमें वाग्युद्ध तथा (मौखिक) जय-पराजय का वर्णन करना चाहिए ॥ ७०-७२ ॥

इसे केवल अङ्क न कहकर उत्सृष्टिकाङ्क इसलिये कहा जाता है ताकि इसका नाटक के अङ्क से भेद प्रदर्शित किया जा सके । बाकी बातें स्पष्ट हैं ।

१०—ईहामृग

अब ईहामृग (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

ईहामृग की कथावस्तु मिश्रित (अर्थात् अंशतः इतिहासप्रसिद्ध तथा अंशतः कविकल्पित) होनी चाहिए । इसमें चार अङ्क और (मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण) तीन सन्धियाँ होती हैं । मानव तथा देव में से कोई एक नायक तथा दूसरा प्रतिनायक होता है । (कौन नायक हो और कौन प्रतिनायक इसके लिए कोई एक नियम नहीं है)। ये नायक तथा प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत हुआ करते हैं । इनमें अन्तिम (अर्थात् प्रतिनायक) भ्रान्तिवश अनुचित कार्य किया करता है । वह उसको न चाहने वाली दिव्य स्त्री को अपहरण आदि के द्वारा प्राप्त करना चाहता है । (कवि को चाहिए कि वह) इस प्रकार का वर्णन करके थोड़ी-थोड़ी मात्रा में

उत्सृष्टिकाङ्कं लक्षयति—**उत्सृष्टिकाङ्क इति** । अस्य उत्सृष्टिकाङ्कसंज्ञा नाटकाङ्कभेदप्रदर्शनार्थमिति धनिकमतम् । अङ्कलक्षणमुल्लङ्घ्य सृष्टिर्यस्य स उत्सृष्टिकः, स चासौऽङ्क इति उत्सृष्टिकाङ्कः अथवा उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कितत्वादुत्सृष्टिकाङ्कः इत्यन्यत्र टीकाकाराः ।

ईहामृगं लक्षयति—**मिश्रमित्यादिना** । ईहा = चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः इत्यन्यत्र व्याख्यातम् ॥

दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः । ख्याताख्यातं वस्तु । अन्त्यः = प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः । स्पष्टमन्यत् ।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

स्पष्टम् ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

शृङ्गाराभास का भी प्रदर्शन करे । (नायक एवं प्रतिनायक के) युद्ध के वेग को चरम सीमा तक पहुँचा कर किसी बहाने से उसे रोक देना चाहिए तथा वध की अवस्था तक पहुँचने पर भी उस वीर का वध नहीं करना चाहिए ॥ ७२-७५ ॥

इस (रूपक) में नायक मृग के समान अलभ्य किसी नायिका की कामना करता है, अतः यह ईहामृग कहलाता है । इसकी कथावस्तु (अंशतः) प्रसिद्ध तथा (अंशतः) कल्पित होती है । (कारिका के) 'अन्त्यः' का अर्थ है प्रतिनायक । उसे विपर्यास अर्थात् मिथ्या ज्ञान के कारण अनुचित कार्य करने वाला प्रदर्शित करना चाहिए । (कारिका की) शेष बातें स्पष्ट हैं ।

विशेष—शृङ्गाराभासम्—जहाँ रति भाव दोनों—अर्थात् स्त्री तथा पुरुष—में न होकर केवल एक में ही होता है, जहाँ अनुचित एवं जबर्दस्ती काम-तृप्ति की अभिलाषा पाई जाती है, वहाँ रति तथा शृङ्गार न होकर रत्याभास एवं शृङ्गाराभास होता है ।

वधप्राप्तस्य—मूल कथानक में भले ही नायक के वध का वर्णन हो, किन्तु रूपक में उसका परिहार कर देना चाहिए ।

इस प्रकार दशरूपकों के लक्षणों की पद्धति का भली-भाँति विचार करके, वस्तु का विवेचन कर कवियों के प्रबन्धों का परिशीलन करके अकृत्रिम अलङ्कारों से युक्त, स्पष्ट अर्थ वाले (उदार) तथा मधुर वाक्यों एवं स्फुट और सरल छन्दों के द्वारा रूपक की रचना करनी चाहिए ॥ ७६ ॥

(कारिका का अर्थ) स्पष्ट है ।

॥ धनञ्जयकृत दशरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

प्रकाशमुपसंहरन्नाह—**इत्थमिति** । **दशरूपकलक्ष्ममार्गम्**—दशरूपकानां लक्ष्म = लक्षणं तस्य मार्गम् = पद्धतिम्, आलोक्य = विवेच्य । **कविप्रबन्धान्** = सुकविरचितनाटकान्, **अयत्नवदलङ्कृतिभिः**—अयत्नवत् = अनायासेन प्रतीयमानाभिरलङ्कृतिभिः = अलङ्कारैरिति ॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतौ दशरूपकावलोकटिप्पणे तृतीयः प्रकाशः ॥

अथ चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम् = निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः । तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

प्रकाश-सङ्गति

प्रथम प्रकाश में वस्तु, नेता तथा रस को रूपक का भेदक तत्त्व बतलाया गया है—"वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः ।" वस्तु का सविस्तर वर्णन प्रथम प्रकाश में तथा नायक का विवेचन द्वितीय प्रकाश में किया गया है । तृतीय प्रकाश में रूपकों के विभिन्न प्रकारों का स्वरूप वर्णित है । अब इस चतुर्थ प्रकाश में क्रम-प्राप्त रस का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अब सम्प्रति रस के भेद दिखलाये जा रहे हैं—

विभावों, अनुभावों, व्यभिचारियों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा आस्वादन की योग्यता को प्राप्त कराया गया (अर्थात् आस्वादन के योग्य बनाया गया) स्थायी भाव (ही) रस कहा गया है ॥१॥

(श्रव्य-काव्य के) श्रोताओं (तथा पाठकों) एवं (दृश्य-काव्य के) दर्शकों के हृदय में रति आदि स्थायीभाव वर्तमान रहते हैं । इन रति आदि स्थायीभावों का लक्षण आगे बतलाया जायगा । ये रति आदि स्थायीभाव, काव्य में वर्णित अथवा अभिनय के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा विशेषरूप से स्पन्दित होते हुए जब आस्वादन के विषय बना दिये जाते हैं, अर्थात् जब निरतिशय आनन्दरूप अनुभूति के स्वरूप को प्राप्त करा दिये जाते हैं; तब रस कहलाते हैं । यही कारण है कि सामाजिक अर्थात् दर्शक रसिक (रसानुभवकर्ता कहे गये) हैं । और काव्य उस प्रकार के आनन्द की अनुभूति के उद्बोधन का

सात्त्विकैरिति—ननु भरतसूत्रे विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरित्यत्र रसनिष्पत्तौ सात्त्विकानामग्रहणादतो मम्मटादिभिरपि स्वकीये रसस्वरूपे तदनुपादानात् कथमत्र सात्त्विकग्रहणसङ्गतिरिति ? सात्त्विकाः स्तम्भस्वेदादयोऽनुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ता भरतसूत्रे मम्मटादिलक्षणे च । तत्रानुभावग्रहणेनैव तद्ग्रहणमिति भावः । अत्र तु पृथगुक्तिः स्पष्टार्थम् । **स्वाद्यत्वम्** = आस्वादविषयम्, **आनीयमानः** = प्राप्यमाणः, **स्थायी** = रत्यादिः । अनेनात्र विभावादिषु रसे च कार्यकारणभावो निर्दिष्टः ॥

तत्र विभावः—

कारण होने से रसवत् (रसात्मक, सरस) कहलाता है, जैसे कि (लोक में) "आयुर्घृतम्" = "घी आयु है" इत्यादि व्यवहार किया जाता है।

विशेष—विभावैरनुभावैश्चेति—धनञ्जय की इस कारिका का मूल है भरत का रस-सूत्र—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (ना० शा० अ० ६) इस सूत्र की व्याख्या काव्यप्रकाश (४.२७-२८) तथा साहित्यदर्पण (३.१) आदि ग्रन्थों में भी देखी जा सकती है।

काव्योपात्तैः—लोक में रति आदिरूप स्थायीभाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। हृदय में वर्तमान रति आदि की सूचना देने वाले पसीना आना आदि सात्त्विक भाव कहे गये हैं।

आनीयमानः स्वाद्यत्वम्—आस्वादन की योग्यता को प्राप्त कराया गया अर्थात् आस्वाद्य बनाया गया। यहाँ यह ध्यान रखना है कि धनञ्जय एवं धनिक—दोनों ही—भरत के रस-सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" के मीमांसक व्याख्याता भट्ट लोल्लट के मतानुयायी हैं। भट्ट लोल्लट के अनुसार विभाव आदि रस के हेतु हैं तथा उनमें उत्पाद्य-उत्पादका-भाव सम्बन्ध है। विभाव उत्पादक हैं और रस उत्पाद्य। ऊपर निर्दिष्ट "आनीयमानः स्वाद्यत्वम्"—यह अंश भी यही बतलाता है कि दशरूपककार भट्ट लोल्लट के मत से साम्य रखते हैं। कुछ अन्य आचार्य विभावादि को भी रस की कुक्षि में प्रविष्ट मानते हैं।

आयुर्घृतम्—घी आयु को बढ़ाने वाला है। यही कारण है कि घी पीते हुए व्यक्ति से जब पूछा जाता है कि क्या पी रहे हो ? तो वह उत्तर देता है—"आयु पी रहा हूँ" (आयुः पिबामि)। घी की इसी आयु को बढ़ाने वाली शक्ति को ध्यान में रख कर प्रायः यह कह दिया जाता है कि—घी ही आयु है। यद्यपि सच तो यह है कि घी आयु की वृद्धि का कारण है, वह आयु ही नहीं है। फिर भी औपचारिक रूप से यह कह दिया जाता है—"आयुर्घृतम्"। ठीक इसी प्रकार "रसवत् काव्यम्" यह व्यवहार भी किया जाता है। वस्तुतः काव्य या नाट्य सामाजिक के रसास्वादन का कारण हुआ करता है। काव्य के पढ़ने या नाट्य के देखने से सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। यह आनन्दमय अनुभूति ही रस है। अनुभूति किसी चेतन में ही होती है, अतः यह सामाजिक के ही हृदय में रहा करती है, न कि काव्य-नाट्य में। अतः सहृदय ही सरस कहे जा सकते हैं, न कि नाट्य या काव्य। फिर "रसवत् काव्यम्"—यह कैसे कह दिया ? इसका उत्तर यह है कि "आयुर्घृतम्" की ही तरह "रसवत् काव्यम्" यह प्रयोग भी औपचारिक है। बोलचाल की भाषा में भी मूली बेचने वाले को मूली शब्द से पुकारा जाता है।

विभाव

उनमें विभाव (का स्वरूप तथा उसका भेद बतलाया जा रहा) है—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः । यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञातार्थ इति', तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः ।

उन (विभाव आदि रस के हेतुओं) में विभाव वह है जो स्वयं परिज्ञात होकर (स्थायी) भाव को पुष्ट करता है । वह (विभाव) आलम्बन तथा उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है (अर्थात् विभाव दो प्रकार का होता है—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव) ॥२॥

"यह (दुष्यन्त आदि नायक) इस तरह का है" तथा "यह (शकुन्तला आदि नायिका) इस तरह की है"—इस प्रकार से जो नायक आदि अथवा अभिमत (मालिनी नदी का तटरूप) देश एवं (वसन्त इत्यादि) काल आदि अतिशयोक्तिरूप काव्य-व्यापार के द्वारा (एक) विशिष्ट रूप को धारण कर लेने के कारण आलम्बन के रूप में अथवा उद्दीपन के रूप में जाने जाते हैं, वे विभाव कहे गये हैं । जैसा कि (आचार्य भरत मुनि के द्वारा अपने नाट्यशास्त्र अ० ७ में) कहा गया है—'जाना हुआ अर्थ ही विभाव है ।' जिस रस के जो विभाव होते हैं, उन्हें यथावसर रसों के विवेचन के प्रसङ्ग में प्रतिपादित करूँगा ।

विशेष—विभावः—रसानुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं । वे दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव । जिसे आलम्बन करके अर्थात् जिसे विषय बनाकर रस की उत्पत्ति होती है उसे "आलम्बन विभाव" कहते हैं । जैसे शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में और दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देख कर सामाजिक के मन में रस की उत्पत्ति होती है । इसलिए सीता, राम आदि शृंगार-रस के 'आलम्बन विभाव' कहलाते हैं । चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान, नदी-तट एवं वसन्त ऋतु के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है । इसलिए उनको शृंगार-रस का "उद्दीपन विभाव" कहा जाता है । प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव अलग-अलग होते हैं ।

तत्र=तेषु विभावादिष्वित्यर्थः, **ज्ञायमानतया**=प्रतीयमानतया, **विभावः**—विभाव्यते=प्रतीयते इति विभावः, विभाव्यते=प्रतीयते रसोऽनेनेति विभाव इत्युभयविधा व्युत्पत्तिरत्र ज्ञेया । प्रथमा व्युत्पत्तिस्तत्र ज्ञायमानतां तथा द्वितीया तद्भावपोषकतां व्यनक्ति । **अतिशयोक्तिरूपेत्यादिः**—अतिशयोक्तिरूपः=विशिष्टकथनरूपः यः काव्यव्यापारः=कविकर्मपद्धतिः, न त्वतिशयोक्तिरलङ्कार इति, तेन आहिता=गृहीता या विशिष्टरूपता=अद्भुतरूपतेत्यर्थः तया । काव्यवर्णनपद्धत्या साधारणोऽपि व्यक्तिरसाधारण इव प्रतीयते । इयं वर्णनशैली एवेतिहासादिभ्यः काव्यस्य भेदिकेति ज्ञेयम् ॥

अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता।

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते॥' इति।

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति।

अतिशयोक्तिरूप०—यहाँ 'अतिशयोक्ति' का अर्थ अलङ्कार-विशेष नहीं अपितु लोकोत्तर या लोकातिशायी वर्णन है। यह वर्णन-शैली ही काव्य की विशिष्टता है। यही कारण है कि काव्य इतिहास से भिन्न एक आकर्षक वस्तु है। इसी अतिशयोक्ति के द्वारा कवि साधारण पात्रों को भी असाधारण और आकर्षक बना कर उनमें एक सर्वथा नवीन रूप की उद्‌भावना कर डालता है।

तथा, (राम और सीता आदि आलम्बन विभाव एवं वसन्त आदि उद्दीपन विभाव) बाह्य सत्ता (अर्थात् स्थूलरूप) की अपेक्षा न करके शब्द की उपाधि के सामर्थ्य से उन-उन भावों को प्राप्त होते हैं (अर्थात् अपने-अपने स्वरूप को धारण करते हैं)। (ये विभाव अपने विशिष्टरूप में प्रकट न होकर) साधारणीकृत रूप से सहृदयों (भावकों) के द्वारा अपने से ही सम्बन्धित समझे जाते हैं। इस तरह भावकों (सहृदयों) के चित्त में साक्षात् रूप से परिस्फुरित होते हुए (ये) आलम्बन आदि भाव हो जाते हैं। अतः (काव्य-पाठ आदि के समय) नायक (जो वस्तुतः आलम्बन विभाव है), आदि का अभाव नहीं होता (न वस्तुशून्यता)।

इसी बात को भर्तृहरि ने भी कहा है—

(सहृदय) शब्द के सामर्थ्य से रूप को धारण करने वाले, बुद्धि के विषय-भाव को प्राप्त हुए (अर्थात् बुद्धि के विषय बने हुए) कंस आदि को, प्रत्यक्ष की तरह, (कर्म आदि) कारक के रूप में समझ लेता है॥

षट्साहस्री के कर्ता (आचार्य भरत) ने भी कहा है—"(शब्दों के द्वारा उपस्थापित) इन (विभाव आदि) से सामान्य गुणों के योग से रसों की निष्पत्ति हो जाती है।"

अमीषाम्=ज्ञायमानानां विभावानामिति भावः, अप्रत्यक्षाणामपि विभावानामालम्बनत्वमुद्दीपनत्वञ्च साधयति—**अनपेक्षितबाह्यसत्त्वानामित्यादिना**— अनपेक्षितम्=नावश्यकं बाह्यम्=बहिर्भवं, स्थूलमिति यावत्, सत्त्वम्=सत्ता, स्थितिरित्यर्थः, येषां ते तेषाम्, **शब्दोपधानात्**=शब्दः एव उपधानम्=उपाधिः तस्मात्, शब्दसामर्थ्यवशादित्यर्थः, **आसादिततद्भावानाम्**—आसादिताः=गृहीताः तद्भावाः=वर्ण्यनायकनायिकादिस्वरूपाः यैस्ते तादृशाः, **सामान्यानाम्**=साधारणीकृतानामित्यर्थः, **स्वस्वसम्बन्धित्वेन**—सहृदयैः स्वकीयभावनयेत्यर्थः, **विभावितानाम्**=अनुभूतानामिति यावत्, **भावकचेतसि**=सहृदयमनसि।

तत्रालम्बनविभावो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।

विशेष—अमीषाम्—इस सर्वनाम के द्वारा—'यह (नायक) ऐसा है', 'यह (नायिका) ऐसी है'—इस रूप से जाने जाते हुए विभावों को कहा गया है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि—श्रव्य काव्य के विभाव आदि तो शब्दों तक ही सीमित हैं। वस्तुतः इस समय उनकी सत्ता नहीं ही रहती है। ऐसी अवस्था में वे सहृदयों की रसानुभूति में आलम्बन आदि विभाव कैसे बन सकते हैं? दृश्य-काव्य में भी दुष्यन्त आदि वास्तविक न होकर अवास्तविक ही रहते हैं। अतः वे भी कैसे आलम्बन हो सकते हैं? इस शङ्का के उत्तर में धनिक ने "अमीषां" से "निष्पद्यन्ते" तक का अंश लिखा है।

अनपेक्षितबाह्यसत्त्वानाम्—जगत् की अन्य वस्तुओं की तरह, रसानुभूति के लिए नायक-नायिका आदि विभावों की बाह्य सत्ता आवश्यक नहीं है।

शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानाम्—पाठक जब काव्य-पाठ करता है, उस समय शब्द के समार्थ्य से उस (पाठक) के मानस में नायक-नायिका आदि विभावों की भी एक प्रतिमा बन जाती है।

सामान्यात्मनां···विभावितानाम्—उस समय ये विभाव व्यक्ति-विशेष के न होकर सर्वसाधारण के प्रतीत होते हैं। इनका साधारणीकरण हो जाता है। उस साधारणीकरण के बाद सहृदय का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपने संस्कार के अनुसार सहृदय उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है। ऐसी अवस्था में राम-सीता आदि के विभाव उसे अपने विभाव प्रतीत होने लगते हैं। इस तरह राम-सीता आदि के विभाव एक किसी व्यक्ति के न होकर सबके समानरूप से हो जाते हैं।

साक्षात्···विपरिवर्तमानानाम्—ऐसी स्थिति में ये विभाव स्पष्टरूप से सहृदय के मानस में उद्वेलित होने लगते हैं। अतः इनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि इन विभावों का अभाव है। अतः ये रसोद्बोधक नहीं बन सकते।

अब यहाँ आलम्बन विभाव का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक (१.८) से दिया जा रहा है। पुरुरवा उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। वह उसके सौन्दर्य की अनुपमता का वर्णन कर रहा है। अतः यहाँ नायक पुरुरवा की रति का आलम्बन उर्वशी है।

उन (दो तरह के विभावों) में आलम्बन विभाव यह है—

इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था (अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमा ने अपनी कान्ति से इसका निर्माण किया है) अथवा केवल शृङ्गाररस वाला स्वयं मदन अथवा पुष्पाकर मास (वसन्त इसका

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः' ॥ २११ ॥

उद्दीपनविभावो यथा—

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादैर्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥' २१२ ॥

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः । एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्त

प्रजापति बना) क्योंकि वेदाभ्यास के कारण मूढ़मति और (शृङ्गारोचित) विषयों में कौतूहलरहित बूढ़ा ब्रह्मा इस मनोहर रूप का निर्माण करने में कैसे समर्थ हो सकता है ॥

उद्दीपन विभाव (का उदाहरण) जैसे—

कर्पूर की तरह गौरवर्ण वाला, चाँदनी से समग्र संसार को प्रक्षालित करने वाला यह चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल आकाश में उदित हो रहा है । चाँदी की सीधी शलाकाओं से स्पर्धा करने वाली (अर्थात् चाँदी की सीधी शलाकाओं जैसी) जिसकी किरणों से यह संसार निर्मल कोमल मृणालों (भिसाड़ों) के पिंजड़े में स्थित-सा सुशोभित हो रहा है ॥

विशेष—ऊपर के श्लोक में चाँदनीरूप उद्दीपन विभाव का वर्णन है । मान लीजिये शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति-भाव का उदय होता है । इस रति-भाव के उदय होने में मालिनी नदी का तट, वसन्त ऋतु, लता-निकुञ्ज आदि सहायक होते हैं । यहाँ शकुन्तला आलम्बन विभाव तथा वसन्त आदि उद्दीपन विभाव हैं । रति का उदय शकुन्तला का अवलम्बन करके होता है तथा उसका उद्दीपन वसन्तादि करते हैं ।

अनुभाव

(हृदय-स्थित रति आदि) भावों को सूचित करने वाला विकार (शारीरिक व्यापार) ही अनुभाव है ।

सामाजिकों को (रति आदि) स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले, रस का परिपोष करने वाले, भ्रूविक्षेप तथा कटाक्ष आदि (शारीरिक व्यापार) अनुभाव हैं । अतः ये अभिनय (अर्थात् दृश्य-काव्य) तथा काव्य (अर्थात् श्रव्य-काव्य) में इन अनुभावों का साक्षात् अनुभव करने वाले रसिकों के अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं (अर्थात् सामाजिकों के अनुभव के विषय होते हैं) अतः ये अनुभाव रसिकों के समूह में अनुभवन (अनु = पश्चात् भवनम् = उत्पत्तिः येषां ते) या अनुभाव

भावसंसूचनात्मकः—भावानाम् = रत्यादिस्थायिभावानाम् संसूचनम् = निर्देशनम् एव आत्मा = शरीरम् यस्य सः । **विकारः** = शारीरिको व्यापारः ॥

इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥' २१३ ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः।

(अनुभूयन्ते इत्यनुभावाः) कहे जाते हैं। (कारिका में जो यह कहा गया है कि—) "भावों को सूचित करने वाला विकार अनुभाव है" यह कथन लौकिक रस की दृष्टि से है। यहाँ (नाट्य या काव्य में) तो वे (अनुभाव रस में) कारण ही हुआ करते हैं। (उदाहरण के तौर पर) जैसे यह मेरा (अर्थात् धनिक का) ही पद्य है—(जिसमें किसी युवक को देखकर रति भाव से आविष्ट किसी सुन्दरी के अनुभावों का वर्णन किया गया है—) हे मुग्धे, जँभाई लेकर, स्तन-तट को ऊपर उभारकर, सुन्दर भ्रू-लता को घुमाकर, पसीने के द्वारा भीगी शरीर-लता से लाज को धोकर, रोमाञ्चयुक्त (तुम्हारे) द्वारा अभिलाषापूर्वक जिसके मुख पर दुग्ध-सागर के फेन-समूह की तरह श्वेत कटाक्षों की छटा बिखेरी गई है, वह कोई (अर्थात् सौभाग्यशालियों में एक) नौजवान धन्य है ॥

इत्यादि, (इन अनुभावों के) रस के अनुसार (आगे) उदाहरण देंगे।

विशेष—अनुभवकर्मतयानुभूयन्ते—सहृदय जब नाटक को देखता या काव्य को पढ़ता है, उस समय साधारणीकरण के कारण, वह राम-सीता आदि के अनुभावों को स्वयं अपना ही अनुभाव समझकर रसानुभव करता है। यही कारण है कि अनुभाव उसके अनुभव के कर्म होते हैं।

विकारो···कारणत्वमेव—ऊपर की कारिका में धनञ्जय का कथन यही है कि—नायक अथवा नायिका के हृदयस्थित भावों को सूचित करने वाले शारीरिक विकार अनुभाव कहलाते हैं। जैसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखा। उनके मन में संस्कार के रूप में स्थित रति-भाव उद्बुद्ध हुआ। वसन्त के सुहावने मौसम ने उसे झकझोर कर बढ़ाया। दुष्यन्त का शरीर मचल उठा। वह अत्यन्त प्रेम-भरी अधीर आँखों से शकुन्तला को देख कर मुस्कराने लगा। उसका यह मुस्काना ही अनुभाव है। इस अनुभाव के द्वारा नायक दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति स्थित रतिभाव का ज्ञान होता है। रति आदि भावों के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन्हें अनुभाव

अनुभावयन्तः=अनुभवविषयं प्रापयन्तः, **रसपोषकारिणः**=रसपरिपोषकाः। **अनुभावयताम्**=अनुभवं कुर्वतां सामाजिकानाम्। **अनुभवनम्**—अनु=पश्चाद् भवनम्=उत्पत्तिर्येषां ते, अथवा अनुभूयन्ते इति अनुभावाः इति द्विविधा व्युत्पत्तिरिति ॥

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥ ३ ॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते। तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति।

कहा जाता है। किन्तु इस पर टीकाकार धनिक का कथन है कि—कारिकाकार का उक्त कथन लौकिक रस की दृष्टि से ही कहा गया है। लौकिक व्यवहार में ही अनुभाव रति आदि भावों के सूचक विकार (अर्थात् रति आदि भावों के कार्य) समझे जाते हैं। काव्यरसिकों के द्वारा आस्वादित रस की दृष्टि से तो अनुभाव रस के कारण होते हैं, कार्य (अर्थात् विकार) नहीं। सहृदयों के द्वारा अनुभूत काव्य-रस अलौकिक होता है। वह लौकिक रस से सर्वथा भिन्न होता है। वह अनुभाव के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अतः काव्य या नाटक में अनुभावों को रस का कारण ही मानना ठीक होगा। अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति होगी—सामाजिकान् स्थायिभावान् अनुभावयन्तीति अनुभावाः। अनुभावों को काव्य में पढ़ कर या नाटक में देख कर सहृदयों को दुष्यन्त आदि के रति का अनुभव होता है। यही कारण है कि अनुभाव रस के पोषण कर्ता निमित्त कारण बन जाते हैं। अथवा—अनुभूयन्ते इत्यनुभावाः। जिनका अनुभव किया जाय वे अनुभाव हैं।

ये दोनों (विभाव तथा अनुभाव लौकिक रस के प्रति) क्रमशः कारण एवं कार्य हुआ करते हैं। अतः इनका स्वरूप लोक-व्यवहार से ही सिद्ध है (यही कारण है कि इनका अलग से लक्षण नहीं किया गया है) ॥३॥

लौकिक रस (अर्थात् रति आदि भाव) के प्रति कारण एवं कार्यभूत क्रमशः उन विभाव तथा अनुभाव की सिद्धि लोक-व्यवहार से ही देखी जाती है। अतः उनका अलग से लक्षण करना आवश्यक नहीं है। जैसा कि (ना० शा०, अ० ७) में कहा भी गया है कि—"विभाव तथा अनुभाव लोक में प्रचलित ही हैं। ये लोक-व्यवहार का ही अनुगमन करते हैं। लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने के कारण (सुपरिचित होने से ही) इनका अलग से लक्षण नहीं किया जा रहा है।"

विशेष—विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ—लोक में रति आदिरूप स्थायी भाव के जो उत्पादक कारण नायिका आदि तथा उद्दीपक कारण चाँदनी, उद्यान, नदीतीर आदि हैं, वे ही काव्य में क्रमशः आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। लोक में रति आदि भावों के उत्पन्न होने के अनन्तर होने वाले जो कटाक्ष आदि हैं, वे रति आदि के कार्य हैं। रति आदि के इन्हीं कार्यों को ही काव्य में अनुभाव की संज्ञा दी जाती है। यहाँ इन विभाव तथा अनुभाव का लक्षण इसलिए नहीं दिया गया है क्योंकि इन्हें लोक-व्यवहार से ही सभी जानते रहते हैं।

अथ भावः—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः । तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति ।

यत्तु 'रसान्भावयन्भावः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम् । ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ।

भाव

विशेष—इसी प्रकाश की प्रथम कारिका में विभाव तथा अनुभाव के साथ सात्त्विक एवं व्यभिचारी का उल्लेख हुआ है । विभाव तथा अनुभाव के साथ ही सात्त्विक भाव और व्यभिचारीभाव के साथ भी भाव शब्द जुड़ा हुआ है । अतः भाव क्या है ? इसे बतलाने के लिए ही यहाँ 'भाव' शब्द की परिभाषा दी जा रही है ।

अब यहाँ भाव (का लक्षण बतलाया जा रहा) है—

(काव्य या नाटक में वर्णित अनुकार्य राम आदि के) सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा सहृदय के अन्तःकरण को भावित (अर्थात् वासित) करना ही भाव कहलाता है ।

अनुकार्य (राम आदि) को आश्रय बना कर वर्णित किये गये (अर्थात् अनुकार्य राम आदि का बतला कर उल्लिखित किये गये) सुख-दुःखादि रूप भावों के द्वारा, उनके भावों अर्थात् सहृदयों के चित्तों को भावित अर्थात् वासित करना ही भाव कहा गया है । जैसा कि (ना० शा०, अ० ७) में कहा भी गया है—"वाह ! निश्चय ही इस रस या गन्ध से यह सब भावित = वासित हो गया है ।"

शङ्का—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के ७-२,३ में भाव शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि—"रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहे गये हैं।" अथवा "कवि के आन्तरिक भाव को भावित करने के कारण ये भाव हैं।" अतः आपके द्वारा ऊपर प्रदत्त भाव की व्युत्पत्ति, इससे विपरीत होने के कारण, ग्राह्य नहीं हो सकेगी ।

समाधान—ठीक है । आपका कथन तो तब उचित होता जब कि किसी एक शब्द की एक ही उद्देश्य से व्याख्याओं में अन्तर होता । किन्तु यहाँ भाव शब्द के बारे में ऐसा नहीं है । आचार्य भरत की व्युत्पत्ति में तो अभिनय (अर्थात् नाट्य) तथा काव्य के लिए प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है अर्थात् ये दोनों व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की की गई हैं, जो नाट्य तथा काव्य के प्रवर्तक हैं और इसका प्रयोग उन्हीं दोनों तरह के काव्यों से सम्बद्ध भाव शब्द के लिए है । मैंने जिस भाव शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है वह रसिक के हृदय को भावित करने वाले भाव की दृष्टि से । अतः दोनों में विरोध नहीं है ।

प्रथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—'सत्त्वं नाम मनः-प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते । तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्य-मानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः । भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्य-मेषाम् ।' इति ।

ते च—

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥ ५ ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

ये भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायीभाव तथा व्यभिचारीभाव । इनका विवेचन आगे किया जायगा ।

यद्यपि सात्त्विक भाव अनुभाव (अर्थात् भावों के पश्चात् होने वाले) हैं, तथापि ये अलग रूप से भाव कहलाते हैं (अर्थात् अलग भाव होते हैं) । क्योंकि इन (सात्त्विक भावों) की उत्पत्ति सत्त्व से ही हुआ करती है । 'सत्त्व' का अर्थ है—अनुकार्य राम आदि के दुःखादि भावों से सहृदय के चित्त को भावित करना ॥४-५॥

दूसरे (अर्थात् काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय दुष्यन्त आदि) के हृदय में स्थित दुःख एवं सुख की भावना में प्रायः उसी तरह (अर्थात् नायक-नायिका के हृदय की तरह) अन्तःकरण वाला हो जाना ही सत्त्व कहलाता है । (अर्थात् सहृदय के द्वारा नायक दुष्यन्त आदि के सुख-दुःखादि में उन्हीं की तरह सुखी एवं दुःखी होना ही भाव कहलाता है) जैसा कि (ना० शा०, अ० ७, श्लोक ९३–९४ के मध्य का भाग)—"सत्त्व मन से उत्पन्न (होने वाली एक विशिष्ट अवस्था) है । वह मन के एकाग्र (एकतान) होने पर उत्पन्न होता है । इस (मन) का सत्त्व यही है कि खिन्न एवं अत्यन्त प्रसन्न (मन) के कारण (सहृदय के द्वारा) अश्रु तथा रोमाञ्च आदि निकाले जाते हैं । उस 'सत्त्व' से उत्पन्न होने के कारण वे भाव सात्त्विक कहलाते हैं तथा उनसे उत्पन्न होने के कारण अश्रु आदि भी भाव ही कहे जाते हैं । दूसरी ओर (ये अश्रु आदि, दुःख आदि) भावों के सूचक विकार (कार्य) होने के कारण अनुभाव भी कहे जाते हैं । इस तरह इन (अश्रु आदि भावों की) द्विरूपता है (अर्थात् ये सात्त्विक भाव तथा अनुभाव—दोनों ही होते हैं) ।

और वे (सात्त्विक भाव संख्या में आठ हैं)—

स्तम्भ, प्रलय (अचेतनता), रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य (मुख आदि का रङ्ग फीका पड़ जाना), वेपथु (कंपन), अश्रु तथा वैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन) । इनमें अङ्गों का निष्क्रिय (स्तब्ध) हो जाना ही स्तम्भ है । संज्ञा (अर्थात् चेतना) का

यथा—

'वेवइ सेअदवदनी रोमञ्चिअ गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्धेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ ॥' २१४ ॥
('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति ॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति')

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥ ७ ॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ।

नष्ट हो जाना ही प्रलय है । शेष के स्वरूप स्पष्ट ही हैं (अतः उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है) ॥५-६॥

जैसे—(एक सखी नायिका की काम-व्यथा का वर्णन करती हुई नायक से कहती है)—

तुम्हारे प्रेम के कारण वह (नायिका) भी धीरज नहीं धारण करती है । वह काँपने लगती है । उसके मुख पर पसीना आ जाता है । उसके शरीर पर रोमाञ्च हो जाता है । तदनन्तर (उसकी) बाहु-लता में चञ्चल कङ्गन धीरे-धीरे खनकने लगता है । उसका मुख श्यामल हो जाता है । वह विदग्धता के साथ क्षण भर के लिए मूर्छित हो जाती है । उसकी मुख-वल्लरी (भी) भोली-भाली है ॥

विशेष—इस एक ही उदाहरण में ऊपर कहे गये आठों सात्त्विक भावों का वर्णन किया गया है । यहाँ विरहिणी नायिका का विरह चरम सीमा पर पहुँचा हुआ प्रदर्शित होता है ॥

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारीभाव बतलाये जा रहे हैं । व्यभिचारीभाव का सामान्य लक्षण है—

विशेष रूप से (स्थायीभाव के) अनुकूल (अभिमुख) चलने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । ये (व्यभिचारीभाव) स्थायीभाव में उसी प्रकार उत्पन्न होकर विलीन होते रहते हैं जैसे सागर में बड़ी-बड़ी तरङ्गें ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सागर के होने पर ही बड़ी-बड़ी लहरियाँ उठती और विलीन होती हैं, उसी प्रकार रति आदि स्थायीभावों के रहने पर ही उनको लक्ष्य करके (अर्थात्

ते च—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥ ८ ॥

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्रचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥' २१५ ॥

उनको पुष्ट करने के लिए) जिनका आविर्भाव तथा तिरोभाव हुआ करता है, वे निर्वेद आदि व्यभिचारीभाव कहलाते हैं।

विशेष—व्यभिचारिण :—जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद योग्य बनाते हैं उन्हें 'व्यभिचारीभाव' कहा जाता है।

और वे—

व्यभिचारीभाव तैंतीस (३३) होते हैं-निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता ॥ ८ ॥

[अब यहाँ ३३ व्यभिचारीभावों के लक्षण तथा उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—]

१ – निर्वेद

इनमें निर्वेद (का लक्षण यह) है—

तत्त्वज्ञान, आपत्ति तथा ईर्ष्या आदि के कारण अपना तिरस्कार करना ही निर्वेद (नामक व्यभिचारीभाव) है। इसमें चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता (लक्षित) होती है ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद यह है, जैसे—

"सम्पूर्ण मनोरथों को पूरी करने वाली सम्पत्तियाँ प्राप्त कर ली गईं तो उससे क्या हुआ ? शत्रुओं के मस्तकों पर पैर रख दिया गया तो उससे क्या हुआ ? सम्पत्तियों (के प्रदान) से प्रेमी-जन तृप्त कर दिये गये तो उससे क्या हुआ ? शरीरधारियों के शरीर प्रलय पर्यन्त स्थित रहें तो उससे क्या हुआ ? (अर्थात् यह सब निरर्थक और मिथ्या है ॥ (वैराग्यशतक ७१) ॥

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥' २१६ ॥

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥' २१७ ॥

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठपीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्गसंक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥' २१८ ॥

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः। एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः।

आपत्ति से होने वाला निर्वेद यह है, जैसे—

"मेरे द्वारा कटु तथा निष्फल इस चिर-जीवन का यह फल भोगा जा रहा है कि—राजा से विपत्ति, स्वजनों के वियोग का दुःख, देश-परित्याग तथा बीहड़ रास्ते में यात्रा करने की पीड़ा हो रही है ॥"

ईर्ष्या से होने वाला निर्वेद यह है, जैसे—

(संसार में) मेरे शत्रु हों यही बड़ा-भारी अपमान है, उस पर भी यह तपस्वी! वह भी यहाँ (लङ्का में) ही है (और मेरी नाक के नीचे ही) राक्षस-कुल का नाश कर रहा है, (यह सब देख कर भी) रावण जीवित है यह आश्चर्य की बात है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है। कुम्भकर्ण को जगाने से क्या (लाभ) हुआ? और (दूसरों की बात क्या कही जाय) स्वर्ग की उस छोटी-सी ग्रामटिका (अर्थात् तुच्छ गाँव) को लूट कर व्यर्थ ही गर्व से फूली हुई मेरी इन भुजाओं का ही क्या फल है? ॥" (हनुमन्नाटक, १४)

वीर और शृङ्गार का व्यभिचारीभावरूप निर्वेद यह है, जैसे—

"निश्चय ही वे भुजाएँ निष्फल हैं, जो कि युद्ध में शत्रु के कठिन कण्ठ-स्थल से धारा के रूप में निकलते हुए रुधिर-समूह से स्कन्ध-प्रदेश पर सुशोभित न हुईं और प्रेयसी के विशाल स्तनों की पत्र-रचना के कुंकुम-रस से युक्त भी न हुईं ॥"

अपने अनुरूप शत्रु अथवा सुन्दरी स्त्री को न पा सकने वाले व्यक्ति की यह निर्वेद के कारण कही गयी उक्ति है। (इस श्लोक में निर्वेद नामक भाव वीर तथा शृङ्गार-रस के अङ्ग के रूप में प्रयुक्त हुआ है)। इसी तरह निर्वेद को अन्य रसों के भी अङ्ग के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्माद्यतः श्रूयताम् ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥' २१९ ॥

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो दर्शनीयः ।

अथ ग्लानिः—

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः । अस्यां च ववर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः । यथा माघे—

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः ।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥' २२० ॥

किसी भी रस का अङ्ग न होने वाले स्वतन्त्र प्रयुक्त निर्वेद का उदाहरण यह है, जैसे—**पथिक**—अजी, तुम कौन हो ? **वृक्ष**—बतला रहा हूँ—मुझे भाग्य का मारा शाखोटक (सेंहुड़) वृक्ष समझिये । **पथिक**—तुम तो वैराग्ययुक्त बोल रहे हो । **वृक्ष**—आपने ठीक समझा । "**पथिक**—क्यों (इस तरह बोल रहे हो) ? **वृक्ष**—जिस कारण से ऐसा बोल रहा हूँ, उसे सुनिये—यहाँ से बायीं ओर वटवृक्ष है । पथिक जन उसका सब तरह से उपयोग करते हैं । किन्तु मार्ग में स्थित भी मेरी छाया भी परोपकार करने में समर्थ नहीं है (यही मुझे दुःख है) ॥"

विशेष—यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वेद सूच्य है, जो कि परोपकार तो करना चाहता है किन्तु साधनाभाव के कारण नहीं कर पा रहा है ।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, किसी रस के अङ्गरूप तथा स्वतन्त्ररूप आदि भेद से निर्वेद के कई भेद दिखलाये जा सकते हैं ।

२—ग्लानि

अब ग्लानि (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

रमण-क्रिया की थकान, प्यास तथा भूख के कारण होने वाली शक्तिहीनता ही ग्लानि है । इसमें रङ्ग का फीका पड़ना, कम्पन, अनुत्साह, शरीर, वचन और क्रिया की शिथिलता आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ १० ॥

बार-बार रमण-क्रिया के कारण होने वाली थकान, प्यास, भूख एवं वमन आदि से होने वाली शक्तिहीनता ही ग्लानि है । इसमें (शरीर का) फीका पड़ जाना, कम्पन तथा अनुत्साह आदि अनुभाव पाये जाते हैं । जैसे माघ-काव्य (११ । २०) में—

"(प्रभात के कारण) झिलमिलाते तारों वाली, मलिन चन्द्रमावाली, क्लान्त इन्दीवर से युक्त तथा अन्धकारमय रात्रियों के समान ही अलसाये नयनताराओं वाली,

शेषं निर्वेदवदूह्यम् ।

अथ शङ्का—

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥ ११ ॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥' २२१ ॥

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

दूराद्‌वीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥' २२२ ॥

फीके मुखचन्द्र से युक्त, निद्रा से क्लान्त नीलकमल-जैसे नेत्रों वाली, अन्धकार-सरीखे बिखरे केशों को धारण करती हुई ये वेश्याएँ राजा के भवनों से जा रही हैं ॥"

शेष निर्वेद के समान ही समझ लेना चाहिए (अर्थात् विभाव आदि के भेद से ग्लानि के भी उसी तरह कई प्रकार होते हैं जैसे कि निर्वेद के) ।

३—शङ्का

अब शङ्का (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

दूसरे की क्रूरता अथवा अपनी दुर्नीति के कारण होने वाली अनर्थ की आशङ्का ही शङ्का कहलाती है । इसमें (शरीर का) कम्पन या सूखना, इधर-उधर देखना, रङ्ग एवं स्वर का परिवर्तन आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ ११ ॥

उनमें दूसरे की क्रूरता से होने वाली शङ्का यह है, जैसे रत्नावली (३।४) में (राजा उदयन रत्नावली की दशा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं)—

'जान ली गई हूँ' (अर्थात् मेरे विषय में सबने जान लिया है)—इस लज्जा से वह सबसे (अपना) मुँह छिपाती है । दो (व्यक्तियों) की बातचीत देख कर (अर्थात् दो व्यक्तियों को बात करते देख कर) अपने विषय की बात समझती है (अर्थात् सोचती है कि ये दोनों मेरे ही विषय में बात कर रहे हैं) । सखियों के मुस्कराने पर अत्यधिक लज्जा व्यक्त करती है । (इस प्रकार) प्रिया (सागरिका) प्रायः हृदय में बैठे आतङ्क से व्याकुल रहती है ॥

अपनी दुर्नीति से होने वाली शङ्का, जैसे महावीरचरित (२।१) में (रावण का मन्त्री माल्यवान् कह रहा है)—

"जिसने पर्वत की तरह (विशालकाय) ताड़का-पुत्र (मारीच) को तिनके के समान बहुत दूर फेंक दिया, जो सुबाहु का हन्ता एवं ताड़का का शत्रु (अर्थात् संहारक) है, वह राजपुत्र (राम) मुझे हृदय में व्यथित कर रहा है ॥"

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रमः—

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा—
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाता ॥ २२३ ॥

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥ २२४ ॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

अथ धृतिः—

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार (शङ्का के) अन्य (भेदों) को भी समझना चाहिये ।

४—श्रम

अब श्रम (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

मार्ग में चलने तथा रति आदि के कारण होने वाली थकान को श्रम कहते हैं । इसमें पसीना आना तथा (अङ्गों को) मलना आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ।

यात्रा से होने वाला श्रम यह है, जैसे उत्तररामचरित (१।२४) में (राम सीता से कह रहे हैं)—

"(यह वही स्थान है) जहाँ कि तुम मार्ग में चलने से होने वाली थकान के कारण अलसाये, शिथिल तथा मनोहर, मेरे कस कर किये गये आलिङ्गनों से दबाये गये, परिमर्दित मृणाली के समान दुर्बल अङ्गों को मेरी छाती पर रख कर सो गयी थी ॥"

रति (रमण-क्रिया) से होने वाला श्रम, जैसे माघ (१०।८०) में—

"काले तथा लम्बे केशोंवाली, जिनके स्तन का भार दुर्वह था ऐसी (अर्थात् विशाल एवं मोटे स्तनों वाली), वे सुन्दरियाँ काम के रस से सुरत की पराकाष्ठा को पहुँच कर पसीने से भींगे ललाट पर चिपके केशों से युक्त होती हुई थक गयीं ॥"

श्रम के विषय में इसी तरह और उदाहरणों को समझ लेना चाहिए ।

५—धृति

अब धृति (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

ज्ञान और शक्ति आदि के कारण होनेवाला सन्तोष ही धृति है । वह व्यग्रतारहित भोग कराने वाली है (अर्थात् व्यग्रतारहित भोग ही उसका अनुभाव है) ॥ १२ ॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥' २२५ ॥

शक्तितो यथा रत्नवल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥' २२६ ॥

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १३ ॥

ज्ञान से होने वाली धृति, जैसे भर्तृहरि के वैराग्यशतक (५३) में (कोई सन्तोषी सम्पत्तिशाली से कह रहा है)—

"इस संसार में हम लोग तो वल्कल-वस्त्रों से ही सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से। हम दोनों का परितोष समान ही है, कुछ भी विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः वही व्यक्ति दरिद्र है जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है। (अन्यथा) मन के सन्तुष्ट हो जाने पर कौन व्यक्ति धनी है और कौन निर्धन ? (अर्थात् सब समान ही हो जाते हैं) ॥"

शक्ति से होने वाली धृति, जैसे रत्नावली (१।९) में (विदूषक से राजा उदयन कह रहे हैं)—

"राज्य पराजित शत्रु वाला है (अर्थात् राज्य के सभी शत्रु परास्त कर दिये गये हैं। (राज्य-कार्य का) समस्त भार योग्य मन्त्री (यौगन्धरायण) पर सौंप दिया गया है। भली-भाँति पाली-पोसी गयी प्रजाएँ सभी उपद्रवों से रहित (हैं)। प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता मेरी पत्नी है)। वसन्त ऋतु का काल है। तुम (मेरे मित्र हो)। इस तरह कामदेव (मदन-महोत्सव इस) नाम के द्वारा भले ही सन्तोष कर ले, किन्तु (मैं) समझता हूँ (कि यह) महोत्सव मेरा है ॥"

इत्यादि समझ लेना चाहिए।

६—जडता

अब जडता (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

प्रिय अथवा अप्रिय के दर्शन या श्रवण से (कर्तव्य एवं अकर्तव्य) का ज्ञान न रहना (अर्थात् किंकर्त्तव्यविमूढ़ता) ही जडता है। इसमें पलक विना गिराये देखना तथा चुप हो जाना आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ १३ ॥

इष्टदर्शनाद्यथा—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनी प्रिये ॥' २२७ ॥

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे—'राक्षसः—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः ।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरःखरदूषणाः ॥ २२८ ॥

द्वितीयः—गृहीतधनुषा रामहतकेन । प्रथमः—किमेकाकिनैव ? । द्वितीयः—अदृष्ट्वा कः प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥ १२९ ॥

प्रथमः—सखे यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि ।' इति ।

अथ हर्षः—

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः । तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः यथा—

प्रिय के देखने से होने वाली जडता, जैसे (कुमारसम्भव ८।५ में)—

"प्रियतम (शङ्कर) के सामने आ जाने पर व्याकुल हुई वह पार्वती सखियों के इस उपदेश का स्मरण न कर सकीं कि—"हे सखी, भय को छोड़ कर एकान्त में इस प्रकार शङ्कर के साथ व्यवहार करना ॥"

अनिष्ट (अप्रिय) के श्रवण से होने वाली जडता, जैसे उदात्तराघव नाटक में—

"जिनके सेनापति त्रिशिरा, खर और दूषण थे, उन शक्तिशाली (महात्मानः) बहुसंख्यक राक्षसों को किसने मार डाला ?"

दूसरा (राक्षस)—धनुर्धारी अभागे राम ने। **पहला (राक्षस)**—क्या अकेले ही ? **दूसरा (राक्षस)**—बिना देखे (इस पर) कौन विश्वास करेगा ? देखो हमारी उतनी सेना के—

"केवल ये धड़ (कबन्ध) ही समर-भूमि में बचे हुए हैं, जो तत्काल काटे गये शिरों के गड्ढों में दौड़ कर झपटते हुए कङ्क नामक पक्षियों से घिरे हुए हैं तथा ताड़ के समान ऊँचे हैं ॥"

पहला (राक्षस)—मित्र, यदि ऐसा है तो इस अवस्था में पड़ा हुआ मैं क्या करूँ ?

७—हर्ष

अब हर्ष (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

उत्सव आदि से होने वाली (मन की) प्रसन्नता ही हर्ष है। इसके अनुभाव हैं)—आँसू आना, पसीना होना तथा वाणी में कम्पन आ जाना।

प्रिय या प्रिया के आगमन तथा पुत्रोत्पत्ति के उत्सव आदि विभावों से होने

हर्षं लक्षयति—प्रसत्तिरिति । प्रसत्तिः = मनःप्रसादः, **उत्सवादिभ्यः** = आदिनाभीष्टप्राप्तिः सूचिता ।

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लंघ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥' २३० ॥

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यम् । तत्र च कृष्णतामलिनवसनदंशनादयोऽनुभावाः । यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥' २३१ ॥

वाली चित्त की प्रसन्नता ही हर्ष है । इसमें आँसू का आना, पसीने का निकलना तथा वचन का गद्गद होना आदि अनुभाव होते हैं ।

जैसे—

"(दीर्घ-प्रवास के अनन्तर) प्रियतम के घर वापस आ जाने पर गृहिणी ने रेगिस्तान की भूमि को पार कर आने की कठिनाई को समझ सन्तोष की आँसुओं से भरी निगाह (प्रियतम के) मुख पर डाल कर (अपनी पीठ पर बैठा कर पथिक को रेगिस्तान पार कराने वाले) उस ऊँट के बच्चे को पीलु, शमी तथा करीर की पत्तियों के ग्रास देकर उसकी गर्दन के बालों पर लगी धूल को बड़े आदर के साथ अपने आँचल से पोंछ दिया ॥"

शेष बातें निर्वेद की ही भाँति समझ लेनी चाहिए ।

८—दैन्य

अब दैन्य (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

दरिद्रता आदि के कारण निस्तेज होना ही दैन्य है । इसमें (शरीर का) मुर्झा जाना तथा अस्वच्छता आदि (अनुभाव) होते हैं ॥ १४ ॥

दरिद्रता तथा तिरस्कार आदि विभावों से चित्त में तेजस्विता का अभाव हो जाना ही दैन्य है । इसमें (शरीर का) काला पड़ जाना, वस्त्रों तथा दाँतों की मलिनता आदि अनुभाव (पाये जाते) हैं । जैसे (भोजप्रबन्ध २५५ में, किसी वृद्धा की दरिद्रता के कारण होने वाली दीनता का वर्णन है)—

"यह पति वृद्ध, अन्धा तथा खाट पर पड़ा है, घर की थूनी (काठ का भोंदा खम्भा) भर शेष है, वर्षा-काल आ ही चुका है, (परदेश गये) पुत्र की कुशल-वार्ता

दैन्यं लक्षयति—**दौर्गत्येति । दौर्गत्याद्यैः**=दारिद्र्याद्यैः ('दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः), आदिना प्रियालाभ चिन्ताश्रमादीनां ग्रहणं बोध्यम् **अनौजस्यम्**=ओजोहानिः, निस्तेजस्त्वमिति यावत् ॥

शेषं पूर्ववत् ।

अथौग्रयम्—

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १५ ॥

यथा वीरचरिते—'जामदग्न्यः—

'उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥' १३२ ॥

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

भी नहीं मिली है, बड़े श्रम से एक-एक बूँद इकट्ठा करके भरी गयी तेल की घड़िया भी फूट गयी। इन बातों से विकल हुई सास पुत्र-वधू को गर्भ के भार से अलसायी हुई देख कर काफी देर तक रोती रही ॥"

शेष बातें पूर्ववत् (अर्थात् निर्वेद आदि की भाँति) ही हैं।

९—उग्रता

अब उग्रता (का स्वरूप बतलाया जा रहा) है—

अपराध, दुर्मुखता (अर्थात् अनुचित एवं अप्रिय बात बोलना) तथा क्रूरता आदि के कारण दुष्ट के ऊपर अत्यन्त क्रोध करना ही उग्रता है। उसमें पसीना आना, शिर को हिलाना, धमकाना तथा पीटना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ १५ ॥

जैसे, वीरचरित (२।४८) में परशुराम (राम से कह रहे हैं)—

"क्षत्रियों के सन्तान के प्रति कोप के कारण गर्भपिण्डों को भी (स्त्रियों के पेट से) उखाड़-उखाड़ कर खण्ड-खण्ड करने वाले, राजकुलोत्पन्न व्यक्तियों का इक्कीस बार विनाश करने वाले, उन (मारे गये क्षत्रियों) के रक्त से भरे हुए सरोवर में स्नान करने के पर्याप्त आनन्द से कोप की आग को शान्त करके पितृ-तर्पण करने वाले, दर्प से परिपूर्ण (उद्दाम) मेरे स्वभाव को सभी प्राणियों ने नहीं जाना है, ऐसा नहीं है (अर्थात् सभी ने जाना है) ॥"

१०—चिन्ता

अब चिन्ता (की परिभाषा दी जा रही) है—

अभीष्ट की प्राप्ति न होने के कारण (उसका) ध्यान करना ही चिन्ता है। शून्यता (बुद्धि तथा इन्द्रियों की जडता), श्वास (का बढ़ जाना) तथा ताप आदि (अनुभावों) को यह करने वाली है।

चिन्तां निरूपयति—**ध्यानमिति** । **ईहितानाप्तेः**—ईहितस्य = अभीष्टस्य अनाप्तिः = अप्राप्तिः तस्मात्, **ध्यानम्** = तद्विषयकं चिन्तनमेव चिन्तेति ॥

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥' २३३ ॥

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥' १३४ ॥

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्मनः क्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६ ॥

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरु-
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥' २३५ ॥

जैसे (एक सखी नायिका से कह रही है)—

"हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरी, मोतियों से स्पर्धा करने वाले (अर्थात् मोतियों की तरह बड़े तथा स्वच्छ), पलकों के अग्रभाग पर फैले आँसुओं के बिन्दुओं के समूह से अपने वक्षःस्थल पर, शङ्कर के हास्य की तरह (स्वच्छ), हार का आभूषण रचती हुई तुम कोमल मृणाल-नाल के कङ्कण नामक अलङ्कार से सुशोभित हाथ पर अपना मुख रख कर किस भाग्यशाली की याद कर रही हो ?"

अथवा जैसे—"(रूप आदि) विषयों के सङ्ग का परित्याग की हुई, नेत्र-कमलों को बन्द की हुई तथा बार-बार श्वास लेती हुई यह बाला, योगिनी (योग में लगी हुई स्त्री) की भाँति, किसी अलक्ष्य वस्तु का ध्यान कर रही है ॥"

११—त्रास

अब त्रास (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

(बादलों के) गर्जन आदि से होने वाला मन का क्षोभ ही त्रास कहलाता है। इसमें कम्पन आदि (अनुभाव देखे जाते) हैं ॥ १६ ॥

जैसे माघ (जल-विहार-वर्णन ८।२४) में—

"सुन्दर जाँघों वाली उस सुन्दरी के जाँघ से एक चञ्चल मछली टकरा गयी, इससे भयभीत हुई वह विलास की चरम सीमा को पहुँच गयी। अहा, रमणियाँ तो बिना कारण के केवल खिलवाड़ से भी बलात् क्षुब्ध हो जाया करती हैं, और यदि कारण हो तो फिर कहना ही क्या है ?"

त्रासं लक्षयति—**गर्जितादेरिति**। अत्रादिना विद्युदुल्कादीनां ग्रहणम्। **उत्कम्पितादयः—** अत्रादिना मूर्च्छादीनां परिग्रहः।

अथासूया —

परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥ १७ ॥

गर्वेण यथा वीरचरिते—

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥' २३६ ॥

दौर्जन्याद्यथा—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम्।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि ॥' २३७ ॥

१२—असूया

अब असूया (की परिभाषा दी जा रही) है—

दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकना ही असूया है। यह (असूया) गर्व, दुर्जनता तथा कोप से उत्पन्न होती है। (दूसरे के) दोषों का कथन, अवज्ञा, भौंहें चढ़ाना, शोक एवं क्रोध की चेष्टाएँ आदि (इसके अनुभाव) होते हैं ॥ १७ ॥

गर्व से उत्पन्न होने वाली असूया, जैसे वीरचरित (२।९) में (माल्यवान् राम के प्रति रावण की असूया का वर्णन कर रहा है)—

"(जनक से सीता के लिए) याचना करने पर भी (हमारे) स्वामी (रावण) को (सीतारूप) फल की प्राप्ति न हुई, प्रत्युत (स्वामी से) द्रोह करने वाले, विपरीत आचरण वाले दशरथ-पुत्र (राम) को वह कन्या प्राप्त हो गयी। इस प्रकार शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान एवं यश की हानि तथा स्त्री-रत्न का हाथ से निकल जाना—इन सबको जगती-पति गर्वीला रावण भला कैसे सहन कर सकता है?"

दुर्जनता से होने वाली असूया, जैसे (महेन्द्र कवि का श्लोक)—

"यदि तुम दूसरों के गुणों को नहीं सह सकते हो तो गुणों के अर्जन के लिए (स्वयं) प्रयास करो। निन्दा के बहाने से दूसरे लोगों का यश मिटाया नहीं जा सकता। यदि इच्छा तथा द्वेष से युक्त मनोरथवाले तुम (दूसरों की निन्दा से) नहीं विरत होते हो तब तो हाथों को छत्र बनाकर सूर्य की किरणों को रोकते हो अतः (व्यर्थ ही) श्रान्त होओगे॥"

अथासूयांलक्षयति—परेत्यादिना। परोत्कर्षाक्षमा—परस्य = अन्यस्य उत्कर्षः = उन्नतिः तस्य अक्षमा = असहिष्णुता, असूया कथ्यते॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥' २३८ ॥

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रु कलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥' २३९ ॥

अथामर्षः—

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १८ ॥

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ २४० ॥

मन्यु (क्रोध) से उत्पन्न होने वाली असूया, जैसे अमरुशतक (५१-५२) में (कुपित प्रिया को मनाने में असफल हुआ कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है)—

"उस कृशाङ्गी के समक्ष (अपने मुख से) दूसरी स्त्री का नाम अचानक निकल जाने से चकित हुआ अभागा मैं लज्जावश नीचा मुख करके कुछ योंही रेखा खींचने लगा। किन्तु (आश्चर्य तो यह है कि) वह रेखा-न्यास भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार का हो गया कि वही तरुणी अपने समस्त अङ्गों से (उस चित्र में भी) उभर आई ॥

तदनन्तर (उसे) पहचान कर उस मनस्विनी के कपोल फड़कने लगे तथा उनका रङ्ग लाल हो गया। कोप एवं प्रणय के आवेग से उसकी वाणी गद्गद हो उठी। (फिर उसने) आँखों में आँसुओं को भर कर 'वाह, स्पष्ट ही यह चित्र आश्चर्यजनक है' यह कह कर क्रोध के साथ ब्रह्मास्त्र जैसे अपने वाम चरण को मेरे शिर पर रख दिया ॥"

१३—अमर्ष

अब अमर्ष (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

तिरस्कार (अधिक्षेप) तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला अभिनिवेश (दृढ़ आग्रह) अमर्ष कहलाता है। उसमें पसीना आना, शिर को हिलाना, तर्जना (धमकाना) तथा ताड़न आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ १८ ॥

जैसे वीरचरित (३।८) में (परशुराम विश्वामित्र से कह रहे हैं)—

"आप पूज्य-जनों का उल्लङ्घन कर रहा हूँ इसका प्रायश्चित्त कर लूँगा, किन्तु शस्त्र-ग्रहणरूप महाव्रत को तो (इस प्रकार) दूषित न होने दूँगा ॥

अमर्षं लक्षयति—**अधिक्षेपेत्यादिना**। **अधिक्षेपः**=तिरस्कारः, **अभिनिविष्टता**=अभिनिवेशः, अत्यन्तमाग्रह इति यावत्, **तर्जनम्**=वाण्या भयदर्शनम् ॥

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥' २४१ ॥

अथ गर्वः—

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥ १९ ॥

यथा वीरचरिते—

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः
परिचरण समर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥' २४२ ॥

अथवा, जैसे वेणीसंहार (१।१२) में (भीम सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर के पास सन्देश भेज रहे हैं)—

"मेरे द्वारा आपकी आज्ञा के उल्लंघनरूप जल में भले ही डूब जाया गया (अर्थात् मैं भले ही आपकी आज्ञा का पालन न करने के कारण पाप का भागी बनूँ), मर्यादा का पालन करने वाले छोटे भाइयों के भी मध्य में निन्दा भले ही प्राप्त की गयी (अर्थात् छोटे भाइयों की सोसाइटी में भले ही मुझे धिक्कारा जाय) । (किन्तु) क्रोध से उठायी गयी तथा रक्त से लाल गदावाले, कौरवों को विनष्ट करते हुए मेरे (आप) आज एक दिन के लिए बड़े भाई नहीं है, (और) न (तो) मैं आपका आज्ञाकारी हूँ ॥"

१४—गर्व

अब गर्व (की परिभाषा दी जा रही) है—

महान् कुल, सुन्दरता, बल तथा ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न होने वाला मद ही गर्व है । दूसरे को परेशान करना (आधर्षणा), तिरस्कार करना तथा विलास पूर्वक अपने अङ्गों को देखना आदि इसके कार्य (अनुभाव) होते हैं ॥ १९ ॥

जैसे वीरचरित (२।२७) में (परशुराम से भयभीत सीता के प्रति राम कह रहे हैं)—

"ठीक है, यह मुनि (परशुराम) ऐसे वीर हैं, यह तो मेरे लिए प्रसन्नता की बात है । हे डरपोक, तुम्हारी कँपकँपी बन्द हो, (अरे) तुम तो क्षत्रिया हो और मैं भी तपस्या (करने) में विस्तृत कीर्ति वाले तथा दर्प से भुजाओं में खुजलाहटवाले (इन परशुराम की) (उचित) सेवा करने में समर्थ रघुवंशी क्षत्रिय हूँ ॥"

गर्वं लक्षयति—**गर्व इति ।** **अभिजनम्** = सत्कुलता, **ऐश्वर्यम्** = प्रभुता, **आधर्षणा** = परचित्तपीडनम् ॥

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥' २४३ ॥

अथ स्मृति—ः

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥ २० ॥

यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावण-
माः! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥' २४४ ॥

अथवा, जैसे वहीं (वीरचरित २।१० में परशुराम के द्वारा रावण को भेजे गये इस सन्देश में)—

"ब्राह्मणों का उल्लंघन (अर्थात् ब्राह्मणों के प्रति अपराध) छोड़ देना आप श्रीमान् के ही कल्याण के लिए होगा। जमदग्नि का पुत्र (परशुराम) आपका मित्र है। यदि आप ब्राह्मणों का उलंघन नहीं छोड़ते तो वह क्रुद्ध होगा (तथा आप की दुर्गति कर डालेगा) ॥"

१५—स्मृति

अब स्मृति (की परिभाषा दी जा रही) है—

सदृश वस्तु के ज्ञान अथवा चिन्तन आदि के कारण संस्कार (के जागृत होने) से स्मृति होती है। "इसे मैंने पहले देखा या सुना है" इस रूप में वस्तु का यह (स्मृति) भास कराती है। भौंहों का ऊँपर सिकोड़ कर चढ़ाना आदि इसमें (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ २० ॥

जैसे—(सीता को रथ पर बैठा कर आकाश-मार्ग से जाता हुआ रावण जटायु को देख कर सोच रहा है)—

"क्या आकाश में मेरे अप्रतिहत मार्ग को यह मैनाक (पर्वत) रोक रहा है? पर उसकी ऐसी शक्ति कहाँ? वह तो इन्द्र के वज्र के प्रहार से भयभीत (होकर सागर में छिपा) है। (तो फिर क्या यह) गरुड़ है? किन्तु वह भी अपने स्वामी (विष्णु) के साथ मुझ रावण को भली-भाँति जानता है। अच्छा, समझा, यह जटायु है, जो बुढ़ौती से दुःखित होकर अपना वध कराना चाहता है ॥"

स्मृतिं लक्षयति=**सदृशेत्यादिना**। सदृशस्य=समानवस्तुनो ज्ञानम्=बुद्धिः चिन्ता=मानसिकः संस्कारः, आद्यपदात् सम्बन्धिज्ञानादयश्च तैस्तथोक्तैः, **ज्ञातत्वेन**=पूर्वानुभूतत्वेन **अर्थभासिन्याम्**—अर्थस्य=वस्तुनो भासिन्याम्=प्रकाशिकायाम् ॥

यथा वा मालतीमाधवे—'माधवः—मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तैररतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्।'

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया॥' २४५॥

अथ मरणम्—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम्।
सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः'॥ २४६॥

अथवा, जैसे मालतीमाधव (५।१०) में माधव (कह रहा है)—पहले के ज्ञान से अपना जन्म पाने वाले (अर्थात् पहले के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले) संस्कार के निरन्तर प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत होने वाली, उससे भिन्न (अर्थात् अन्य) ज्ञानों के द्वारा अनवरुद्ध प्रवाहवाली, प्रियतमा (मालती) की स्मृतिरूपी ज्ञान की उत्पत्ति की परम्परा मेरी चेतना को वृत्ति के समानरूप वाली करती हुई मालतीमय ही बना रही है।

"वह प्रिया (मालती) मेरे चित्त में लीन-सी, प्रतिबिम्बत-सी, चित्रित-सी, खोद कर बनायी गयी-सी, जड़ी गयी-सी, वज्रलेप (सीमेण्ट) से जोड़ी गयी-सी, अन्तःकरण में गड़ी हुई-सी, कामदेव के पाँचों बाणों से जड़ दी गयी-सी, चिन्ता-प्रसाररूपी तन्तुओं से मजबूती के साथ सिल दी गयी-सी है॥"

१६—मरण

अब मरण (की परिभाषा दी जा रही) है—

सुप्रसिद्ध होने से तथा अनर्थरूप होने से मरण (का लक्षण) नहीं कहा जा रहा है।

जैसे (किसी प्रोषितभर्तृका की कोई दूती घर वापस आते हुए किसी नायक से कह रही है)—

"(घर वापस आने की) अवधि का दिन आने पर प्रत्येक क्षण तुम्हारे आने के मार्ग की सामने वाली खिड़की पर प्रतिक्षण आकर निश्चल होकर देर तक कुछ सोच-विचार कर अभी-अभी क्रीड़ा के लिए पाली गयी कुररी (पक्षिणी) को आँखों में

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् ।
अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥ २४७ ॥

अथ मदः—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥ २१ ॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन' ॥ २४८ ॥

इत्यादि ।

आँसू भर कर सखियों को समर्पित करके उस (तुम्हारी प्रियतमा) ने छोटी-सी माधवी लता का आम्र (वृक्ष) के साथ करुण पाणिग्रहण कर दिया ॥"

इत्यादि के समान शृङ्गार के आलम्बन (प्रिया अथवा प्रियतम) को लक्ष्य करके (आलम्बनत्वेन) जो मरण होता है, उसमें केवल उस (मरण) की तैयारी का ही वर्णन करना चाहिए (साक्षात् मरण का नहीं)। अन्य रसों में इच्छानुसार (मरण की तैयारी अथवा साक्षात् मरण का) वर्णन हो सकता है। जैसे वीरचरित (१।३९) में [ताड़का के साक्षात् मरण का ही वर्णन किया गया है]—

"आप ताड़का को देखें—हृदय के मर्मस्थल का भेदन करने वाले गिरते हुए (रामचन्द्र के) तीक्ष्ण बाणों के द्वारा वेगपूर्वक तत्काल ही उसका अङ्ग-भङ्ग कर दिया गया। उसके नासिकारूपी कुटीर के दोनों छिद्रों से समानरूप से बुद्बुदों से युक्त तथा शब्द करती हुई रक्त की धारा बह रही है। लीजिये वह मर ही गयी ॥"

१७—मद

अब मद (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

(मद्य) पान से होने वाली हर्ष की ऐसी उत्कृष्टता, जिसमें कि अङ्ग एवं वचन की गति लड़खड़ाने लगे, मद कहलाती है। इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम (व्यक्तियों) में क्रम से निद्रा, हँसना तथा रुदन (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥ २१-२२ ॥

जैसे माघ (१०।१३) में—"कामी तरुण के समान मद ने भोली-भाली वधू में भी हाव-भाव से मनोहारिणी हँसी, बोलने में कौशल तथा आँख में विशेष प्रकार के विकारों को पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न कर दिया ॥" इत्यादि ॥

मदं लक्षयति—**हर्षोत्कर्ष इति । पानात्**=मद्योपयोगात्, **हर्षोत्कर्षः**=हर्षाधिक्यम्, मद उच्यते। **ज्येष्ठमध्याधमादिषु**—अमुना ज्येष्ठो निद्राति, मध्यो हसति तथा अधमप्रकृतिश्च रोदितीति ज्ञेयम् ॥

अथ सुतम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥' २४९ ॥

अथ निद्रा—

मनस्सम्मीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३ ॥

यथा—

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।

१८—सुप्त

अब सुप्त (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

निद्रा से उत्पन्न होने वाला भाव सुप्त कहा गया है । इसमें श्वास तथा उच्छ्वास की क्रिया मुख्यरूप से होती है (और ये ही इसके अनुभाव हैं) ॥ २२ ॥

जैसे—"जौ के खेत के एक कोने में निर्मित छोटी-सी झोपड़ी में नये धानों के पुआल के बिछौने पर, जिस पर (पुआल का ही) तकिया लगा है, सोये हुए कृषक-दम्पति को—(कृषक-सुन्दरी के) कुच-कलश की अत्यधिक उष्णता के कारण एक सीमा पर ही रोक दिया गया (अर्थात् सीमा-बद्ध) तुषार—निकट से ही बचा रहा है (अर्थात् समीप में ही स्थित होते हुए भी उस पर अपना असर नहीं डाल पा रहा है)॥"

१९—निद्रा

अब निद्रा (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

चिन्ता, आलस्य तथा थकान आदि के कारण मन का सम्मीलन (अर्थात् इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध न होना) ही निद्रा है । उसमें जँभाई का आना, अँगड़ाई लेना, आँखों का मूँदना तथा सोने की अवस्था में बड़-बड़ाना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥ २३ ॥

जैसे—(एक नायक किसी नायिका की निद्रावस्था का वर्णन करते हुए कह रहा है)—

"नींद के कारण आधे मुँदे नेत्रों वाली उस मृगनयनी के मद के कारण धीमे-

---

निद्रां लक्षयति—**मनस्सम्मीलनमिति** । मन-सम्मीलनम्—मनसः = चेतसः सम्मीलनम् = इन्द्रियादिभिरसहकारः ॥

अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥' २५० ॥

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥' २५१ ॥

अथ विबोधः—

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥' २५२ ॥

धीमे कहे गये, न सार्थक और न निरर्थक ही, वे मधुर अक्षर अभी अब भी मेरे हृदय में अनिर्वचनीय ढङ्ग से गूँज रहे हैं ॥"

और, जैसे माघ (११।४) में—"किसी (पहरेदार) ने अपना पहरा समाप्त करके नींद लेने की इच्छा करते हुए (दूसरे पहरेदार को) बार-बार यह आवाज लगायी कि—"जागो जागो" । पर वह मनुष्य नींद के कारण अस्पष्ट अक्षरों वाला सूना-सूना-सा (अर्थात् निरर्थक-सा) उत्तर देते हुए भी भीतर से नहीं जाग रहा है ॥"

२०—विबोध

अब विबोध (की परिभाषा दी जा रही) है—

परिणाम आदि (अर्थात् अवस्था के परिवर्तन आदि) के कारण विबोध (=जागरण) उत्पन्न होता है । जँभाई लेना तथा आँखें मलना आदि उसमें (अनुभाव) होते हैं ॥

जैसे माघ (११।१३) में—"बाद में सोकर भी पहले ही जाग जाने वाली युवतियाँ न तो अपने शरीर को ही हिलाती-डुलाती हैं और न तो काफी देर तक की गयी रति की थकान से निद्रा के आनन्द को प्राप्त करने वाले अपने प्रियतम जनों की भुजाओं के दृढ़ आलिंगन को ही भङ्ग करती हैं (कि कहीं उनकी निद्रा भङ्ग न हो जाय) ॥"

विबोधं लक्षयति—**विबोध इति** । परिणामादेः—परिणामः =अवस्थान्तरप्राप्तिः तथा च निद्रापगमावश्यया विबोधो जायत इत्यभिप्रायः ॥

अथ व्रीडा—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावस्तमुन्नयेत्।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

यथाऽमरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥' २५३ ॥

अथापस्मारः—

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः (धि)।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥ २५ ॥

२१—व्रीडा

अब व्रीडा (की परिभाषा दी जा रही) है—

बुरे आचरणों आदि के द्वारा जो प्रगल्भता का अभाव होता है, उसे व्रीडा कहते हैं। एक ओर मोड़ कर मुख को छिपाना, (मुख के) रङ्ग का फीका पड़ना तथा मुख को नीचा कर लेना आदि (अनुभावों) के द्वारा इसे प्रकट करना चाहिए ॥ २४ ॥

जैसे अमरुशतक (४१) में (अपने प्रियतम के व्यवहार से लज्जित होने वाली नववधू का वर्णन है)—

"पति के आँचल पकड़ने पर वह अत्यन्त विनम्र होकर मुख नीचा कर लेती है, जबर्दस्ती आलिङ्गन करने की इच्छा करने पर धीरे से अपने अङ्गों को सिकोड़ लेती है। इस प्रकार मुस्कराते हुए मुखवाली सखियों पर दृष्टि डालती हुई भी वह कुछ कह नहीं सकती है। वह नववधू प्रथम परिहास के इस अवसर पर भीतर ही भीतर परेशान हो रही है ॥"

२२—अपस्मार

अब अपस्मार (की परिभाषा बतलायी जा रही) है—

ग्रहों (के प्रभाव) तथा दुःख आदि के कारण मन का विक्षिप्त होना ही आवेश (मनोविक्षेप = madness) है। इसमें यथायोग्य जमीन पर गिरना, काँपना, पसीना आना, (मुँह से) लाला (लार) तथा फेन निकलना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥२५॥

व्रीडां लक्षयति = **दुराचारादिभिरिति**। दुराचारादिभिः = अप्रशस्तैराचरणैरित्यर्थः। **साचीकृतेत्यादिः**—साचीकृतम् = वक्रीकृतम् यदङ्गम् = मुखमिति यावत् तस्य आवरणम् = अपवारणम् वैवर्ण्यम् = विवर्णता अधोमुखादिश्च = मुखनमनादिश्चेति तैः ॥

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥' २५४ ॥

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥' २५५ ॥

यथा चोत्तररामचरिते—

'विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' २५६ ॥

जैसे माघ (३।७२) में—"कृष्ण ने भूमि पर पड़े हुए, जोर से शब्द करने वाले, चञ्चल भुजाओं की तरह बड़ी-बड़ी तरङ्गों वाले, फेनयुक्त नदी-पति (सागर) को मृगी रोग से पीड़ित समझा ॥"

विशेष—अपस्मार (मृगी) रोग में भी व्यक्ति भूमि पर गिर जाता है, बड़बड़ाता है, भुजाओं को इधर-उधर फेंकता है तथा मुँह से झाग निकालता है ॥

२३—मोह

अब मोह (की परिभाषा दी जा रही) है—

भय, दुःख, मनोविक्षेप तथा शोक (अनुचिन्तन) के कारण होने वाली मूर्च्छा ही मोह है। इसमें सुझाई न पड़ना, चक्कर आना, धड़कन का होना (आघात), लड़खड़ाना तथा दिखलायी न पड़ना आदि (अनुभाव पाये जाते) हैं ॥२६॥

जैसे कुमारसम्भव (३।७३) में—"तीव्र आघात से उत्पन्न, इन्द्रियों के व्यापार को रोक देने वाले मोह (मूर्च्छा) के कारण कुछ देर तक रति को अपने पति (कामदेव) के भस्म हो जाने का ध्यान ही न रहा। इस प्रकार मोह ने मानो उसका उपकार ही किया ॥"

और जैसे उत्तररामचरित (१।३५) में (सीता के विषय में राम कह रहे हैं)—

"यह निश्चय करना सम्भव नहीं है कि यह सुख है या दुःख है, यह मूर्च्छा है अथवा निद्रा, यह विष का चढ़ना है या मद। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों को पूर्णरूप से शून्य (मूढ) बना देने वाला कोई ऐसा विकार हो रहा है, जो अन्तःकरण को जड बना रहा है तथा परिताप को भी पैदा कर रहा है ॥"

अपस्मारं लक्षयति—**अपस्मार इति**। **आवेशः** = मनःक्षेपः। मोहं लक्षयति—**मोह इति**। **विचित्तता** = चित्तस्य निमीलनत्वम्, ज्ञानलोप इति यावत् ॥

अथ मतिः—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' ॥ २५७ ॥

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते सन्तुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम्' ॥ २५८ ॥

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥ २७ ॥

यथा ममैव—

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः' ॥ २५९ ॥

२४—मति

अब मति (की परिभाषा बतलाई जा रही) है—

शास्त्र आदि से उत्पन्न होने वाला तत्त्वज्ञान ही मति है । यह भ्रम के विनाश तथा (शिष्य आदि के प्रति किये गये) उपदेश से युक्त होती है (अर्थात् भ्रम का निवारण तथा उपदेश देना इसके अनुभाव हैं) ॥

जैसे किरातार्जुनीय (२।३०) में—"किसी कार्य को बिना विचारे नहीं करना चाहिए, बिना विचार किये कार्य करना बड़ी-बड़ी आपत्तियों का जनक होता है । गुणों से मुग्ध हुई सम्पत्तियाँ विचार कर कार्य करने वाले व्यक्ति का निश्चय ही स्वयं वरण किया करती हैं ॥"

और जैसे—"बुद्धिमान् व्यक्ति सहसा कार्य करने वाले नहीं होते हैं । किसी बात को सुनकर भी वे तत्त्व का तुलनात्मक विचार करते हैं और फिर तत्त्व का निश्चय करके आचरण करते हैं । इस प्रकार वे अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लेते हैं और दूसरे के भी ॥"

२५—आलस्य

अब आलस्य (की परिभाषा दी जा रही) है—

परिश्रम तथा गर्भ-धारण आदि के कारण होने वाली पूर्ण शिथिलता आलस्य कहलाती है । इसमें जँभाई लेना तथा एक जगह बैठा रहना आदि (अनुभाव) पाये जाते हैं ॥२७॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—"वह सुन्दरी किसी-किसी तरह चलती है,

---

मतिं लक्षयति—**भ्रान्तिरिति** । शास्त्रादेः = शास्त्राध्ययनादेः, आदिना गुरुपदेशस्य ग्रहणम्, तत्त्वधीः = तत्त्वज्ञानम्, अर्थविनिश्चयमिति यावत् ॥

अथावेगः—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।
उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥

अभिसरो राजविद्रवादिः, तद्धेतुरावेगो यथा ममैव—

'आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भो निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीच्छन्
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत्' ॥ २६० ॥

सखियों के द्वारा पूछने पर किसी तरह उत्तर देती है। किन्तु पूरे गर्भ के भार से अल-साई हुई वह बैठे रहना ही पसन्द करती है ॥"

विशेष—यद्यपि श्रम एवं आलस्य—दोनों ही व्यभिचारीभाव हैं। फिर भी यहाँ श्रम आलस्य का विभाव होकर है। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब कि श्रम को भी यहाँ व्यभिचारीभाव के रूप में अङ्कित किया जाता। ध्यान रखना है कि व्यभिचारीभाव किसी न किसी स्थायीभाव के ही हुआ करते हैं ॥

२६—आवेग

अब आवेग (की परिभाषा दी जा रही) है—

सम्भ्रम (जल्दबाजी या घबराहट) को आवेग कहते हैं। इसमें (कारण और अनुभाव भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं, जैसे) (१) किसी के आक्रमण करने पर शस्त्र तथा हाथी आदि की तैयारी की जाती है, (२) झंझावात तथा धूलि से पीडित व्यक्ति जल्दी-जल्दी पैर उठा कर चलता है, (३) वर्षा से होने वाले आवेग में व्यक्ति अपने अङ्गों को सिकोड़ता है, (४) (वज्रपात आदि) उत्पात से होने वाले आवेग में व्यक्ति के अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, (५) शत्रु (अहित) के द्वारा होने वाले आवेग में शोक तथा मित्र (हित) के द्वारा होने वाले आवेग में प्रसन्नता होती है, (६) आग से होने वाले आवेग में व्यक्ति का मुख आकुल हो उठता है, तथा (७) हाथी से होने वाले आवेग के पश्चात् भय, स्तब्धता, कम्प तथा भागना आदि अनुभाव हुआ करते हैं ॥२८॥

राजा के आक्रमण आदि को विद्रव कहते हैं। इसके कारण होने वाला आवेग यह है, जैसे मेरा (अर्थात् धनिक का) ही (पद्य) है—

"हे राजन्, घोर पर्वत में सोये हुए तुम्हारे शत्रु जब तुम्हें स्वप्न में देख लेते हैं, तब व्याकुलतावश उनकी निद्रा टूट जाती है, नेत्र चकित हो जाते हैं और एक-दूसरे को लक्ष्य करके उनका ऐसा वार्तालाप होने लगता है—'आओ-आओ, श्रेष्ठ घोड़े को तैयार करो, शीघ्र मेरे पास आ जाओ, तलवार कहाँ है ? कृपाणी (कटार) लाओ, धनुषसे क्या (लाभ) ? अरे क्या (शत्रु छावनी के) भीतर आ गया ?' इत्यादि ॥

इत्यादि ।

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः' ॥ २६१ ॥

यथा वा—

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च वटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिताः' ॥ २६२ ॥

वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो-
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति' ॥ २६३ ॥

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।

"कवच-कवच, शस्त्र-शस्त्र, रथ-रथ—इस प्रकार की बड़े-बड़े योद्धाओं की भीषण उक्तियाँ चारों ओर सुनाई पड़ती थीं ॥"

अथवा जैसे (तपोवन में किसी राजा की सेना के पहुँचने पर वहाँ के तपस्वियों के आवेग का वर्णन है)—

"ये तापस-कुमारियाँ पुत्र-तुल्य लघु वृक्षों में चल रही सिञ्चन-क्रिया को एकाएक छोड़ कर 'यह क्या है' ऐसा कह कर आकुलतापूर्वक देख रही हैं। ब्रह्मचारी लोग आश्रम के वृक्षों पर चढ़ रहे हैं। और ये मौनी तपस्वी भी तुरन्त समाधि को छोड़ कर अपने आसनों पर ही पैर ऊँचा करके खड़े हो गये हैं ॥"

आँधी से उत्पन्न होने वाला यह है, जैसे—

"आँधी से आहत होकर यह दुपट्टा (उत्तरीय वस्त्र) अस्त-व्यस्त होकर उड़ रहा है" इत्यादि ।

वर्षा से उत्पन्न होने वाला आवेग, जैसे—

"(सायंकाल की बेला में) मेघ बरसने पर भोजन पकाने (की तैयारी) में व्यस्त स्त्रियाँ जल से भर हुए छप्पर के छोरों को हाथों से (पानी झाड़ने के लिए) ठोंक कर, शिर को सूप के छाते से ढँके हुई, कीचड़ से सतर्क होती हुई (अतः) काठ की पटरियों से बने हुए पुल से, आग लाने के लिए एक घर से दूसरे घर जा रही हैं ॥"

उत्पात से होने वाला आवेग, जैसे—

"रावण की मोटी भुजाओं के बल से उठाये गये कैलास पर्वत के कारण घबड़ाई

श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः' ॥ २६४ ॥

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमायः—(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायताम् । (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि ।

पुनः चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥ २६५ ॥

रामः—

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः' ॥ २६६ ॥

अतः चञ्चल दृष्टिवाली प्रियतमा (पार्वती) के विनष्ट कोप-चिह्न वाले आलिङ्गन से पुलकित चन्द्रशेखर (अर्थात् भगवान् शङ्कर) का आसन आप सबका मङ्गल करे ॥"

विशेष—निह्नुतकोपचिह्नम्—रावण ने लङ्का ले जाने के लिए कैलास पर्वत को उखाड़ लिया। खड़खड़ाहट से शङ्कर की समाधि टूटी। वे क्रुद्ध हो उठे। भौंहें तन गयीं। इतने में डरी हुई पार्वती शङ्कर से लिपट गयीं। शङ्कर आनन्द के सागर में डूब गये। उनके मुख-मण्डल पर लक्षित होने वाला कोप का सारा भाव समाप्त हो गया। हो भी क्यों न जो उन्हें प्रिया का वह अयाचित आलिङ्गन मिल गया जिसके लिए पार्वती उन्हें घण्टों परेशान करती थीं। कोप के चिह्नों के स्थान पर आनन्द के चिह्न उभर उठे। इसी भाव की ओर कवि का यहाँ सङ्केत है।

अहितकृत (आवेग) तो अनिष्ट (वस्तु) के दर्शन या श्रवण से होता है; जैसे कि उदात्तराघव (नामक नाटक) में—'चित्रमाय—(व्याकुलतापूर्वक) भगवन्, कुल के रक्षक रामभद्र बचाइये, बचाइये। (ऐसा कह कर व्याकुलता का प्रदर्शन करता है) इत्यादि।

पुनः (आगे) चित्रमाय (कहता है)—

मृग के रूप का परित्याग करके तथा भीषण आकार बना कर यह राक्षस संग्राम में लक्ष्मण को संशय में डाल रहा है (अर्थात् लक्ष्मण के जीवन को संशय में डाल रहा है)॥

राम—निर्भयता के सागर वत्स (लक्ष्मण) को राक्षस से भय हो रहा है, यह बात कैसे मान लूँ ? किन्तु यह मुनि (चित्रमाय) भयभीत होकर चिल्ला रहे हैं, अतः मेरे मन को घबराहट भी है। दूसरी ओर गुरु ने (वन-प्रस्थान के समय) बार-बार स्नेहपूर्वक यह अनुरोध किया था कि जानकी को (अकेले) मत छोड़ना। यह सब सोच कर व्याकुल बुद्धिवाला तथा किङ्कर्तव्यविमूढ मैं न तो रुकने का निश्चय कर पा रहा हूँ और न जाने का ही ॥'

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः महाराअ, एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' (महाराज, एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष—' ।) इत्यादि 'देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते' ॥ २६७ ॥

वह्निजो यथाऽमरुशतके—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः' ॥ २६८ ॥

यहाँ तक अनिष्ट-प्राप्ति से होने वाली व्याकुलता है ।

इष्ट-प्रप्ति से होने वाला संभ्रम, जैसे यहीं (उदात्तराघव में ही)—(पर्दा हटा कर घबराया हुआ वानर प्रवेश करता है) वानर—महाराज (सुग्रीव), पवनपुत्र (हनुमान्) के आगमन से हर्षित' 'इत्यादि से लेकर—'महाराज (आप) के हृदय को आनन्दित करने वाले मधुवन को उजाड़ दिया ।' यहाँ तक ।

अथवा जैसे महावीरचरित (१।५५) में—

"पूर्ण चन्द्रमा के समान, रघुकुल को आनन्दित करने वाले हे वत्स राम, आओ-आओ, बहुत दिनों के बाद (तुम्हारे) मस्तक पर चूम लूँ, तुम्हें हृदय से लगा लूँ, (अपने) हृदय में रखकर तुम्हें रात-दिन धारण किये रहूँ अथवा तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की वन्दना करूँ ॥"

अग्नि से उत्पन्न होने वाला (आवेग) जैसे अमरुशतक (२) में—

"अश्रुपूरित नयनकमलों वाली त्रिपुरतरुणियों के द्वारा, सद्यः अपराध करके आये हुए कामी की तरह, जो हाथ पकड़ने पर झटक दिया गया; जबर्दस्ती आँचल पकड़ते हुए ताडित किया गया; शिर के बालों को पकड़ते हुए दूर किया गया; चरण पर पड़ता हुआ जल्दबाजी के कारण नहीं देखा गया तथा आलिङ्गन करते हुए झटक दिया गया; वह (त्रिपुर-दाह के समय की) शिव के बाण की अग्नि आपके पापों को विनष्ट करे ॥"

यथा वा रत्नावल्याम् —

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि' ॥ २६९ ॥

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्मशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार' ॥ २७० ॥

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगाः व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

अथवा जैसे रत्नावली (४।१६) में (सागरिका को बचाने के लिए दौड़ कर जाते हुए उदयन की उक्ति है)—

"हे अग्नि, रुको, रुको । (शान्त हो जाओ, शान्त हो जाओ) । धुएँ के अम्बार को समाप्त करो । ऊँची ज्वालाओं के समूह को क्यों प्रकट कर रहे हो ? जो मैं प्राण-प्यारी (सागरिका) के प्रलयकालीन अग्नि की तरह धधकने वाली विरहाग्नि के द्वारा नहीं जलाया जा सका, उसका तुम (एक साधारण अग्नि होकर) क्या करोगे ? (अर्थात् कुछ नहीं कर सकोगे) ॥"

हाथी से उत्पन्न होने वाला आवेग, जैसे रघुवंश (५।४९) में—

"उस (बिगड़े हुए हाथी) ने सेना के शिविर में ऐसी गड़बड़ी मचा दी कि क्षण भर में ही वह (शिविर) बन्धन को तोड़ कर भाग जाने वाले घोड़ों से सूना हो गया, वहाँ भग्न धुरी वाले रथ यत्र-तत्र बिखरे थे, सारे योद्धागण स्त्रियों को बचाने में व्याकुल थे ॥"

(ग्रन्थ की कारिका में) 'करि' (हाथी) का उल्लेख (समस्त पशुजन्य) विनाश को उपलक्षित कराने के लिए है । इससे व्याघ्र, शूकर तथा वानर आदि से होने वाले आवेग की भी व्याख्या हो जाती है ।

२७—वितर्क

सन्देह से उत्पन्न होने वाला विचार ही तर्क है । यह भ्रुकुटियों, शिर तथा अङ्गुलि को नचाने वाला होता है (अर्थात् भ्रुकुटियों की वक्रता, शिर का हिलाना तथा अङ्गुलि का घुमाना इसके अनुभाव होते हैं) ॥

यथा—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्' ॥ २७१ ॥

अथवा—

'कः समुचिताभिषेकाद्रामं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना' ॥ २७२ ॥

अथावहित्था—

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्तावबहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्त्राणि गणयामास पार्वती' ॥ २७३ ॥

जैसे; (निम्न पद्य में लक्ष्मण तर्क कर रहे हैं)—

"(अपनी विनय आदि के लिए विख्यात) वह भरत ही क्या (राज्य-प्राप्ति के) लोभ के वशीभूत हो गये, जिन्होंने (कैकेयी के द्वारा) ऐसा करा दिया ? अथवा मेरी मझली माँ (कैकेयी) ही एकाएक स्त्रियों की (स्वाभाविक) क्षुद्रता को प्राप्त हो गई ? (नहीं), मेरा यह दोनों प्रकार का सोचना ही व्यर्थ है, क्योंकि (मेरे वे) बड़े भाई (भरत) तो पूज्य राम के लघु बन्धु हैं और मेरी वह माँ (कैकेयी) पिता (दशरथ) की धर्मपत्नी हैं । (अतः उन दोनों के द्वारा ऐसा अनुचित कार्य सम्भव नहीं हो सकता) । इसलिए मैं समझता हूँ कि इस अनुचित कार्य को विधाता ने ही किया है ॥"

अथवा (राम के वनवास को सुन कर लक्ष्मण के तर्क का दूसरा उदाहरण)—

"समस्त गुणों से अलङ्कृत होने के कारण श्रेष्ठ राम को उचित राज्याभिषेक से भला कौन वञ्चित कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि मेरे पुण्यों (के प्रताप) से ही विधाता ने मुझे (राम की) सेवा का (यह) अवसर प्रदान किया है ॥"

२८—अवहित्था

लज्जा आदि के कारण (मुख पर झलकने वाले मन के) विकारों को छिपाना ही अवहित्था है । अङ्गों में होने वाले विकार ही (इसके अनुभाव हैं) ॥

जैसे, कुमारसम्भव (६।८४) में—

"देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर (अर्थात् जब नारद हिमालय से शिव के साथ पार्वती के विवाह को कर देने की बात कह रहे थे उस समय) पास में ही बैठी हुई पार्वती मुख को नीचे की ओर करके खिलवाड़ के लिए हाथ में स्थित कमल के पत्तों को गिनने लगीं ॥"

अथ व्याधिः—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ २९ ॥

दिङ्मात्रं तु यथा—

'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
अद्य श्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया' ॥ २७४ ॥

अथोन्मादः—

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।
अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥ ३० ॥

यथा—'आः ! क्षुद्रराक्षस, तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे कथम्—

२९—व्याधि

सन्निपात आदि व्याधियाँ हैं । इनका अन्यत्र (अर्थात् आयुर्वेद के ग्रन्थों में) वर्णन किया गया है । (अतः वहीं द्रष्टव्य हैं) ॥२९॥

(उसका) सङ्केतमात्र तो यह है, जैसे (अमरुशतक ११० में एक दूती नायक से उलाहना देती हुई विरह से सन्तप्त नायिका का वर्णन कर रही है)—

"उस विरहिणी के द्वारा अनवरत बहने वाली अश्रु-धारा बन्धु-बान्धवों को समर्पित कर दी गई है, चिन्ता गुरु-जनों को दे दी गई है, सम्पूर्ण दीनता नौकर-चाकरों को अर्पित कर दी गई है, हृदय-सन्ताप सखियों पर रख दिया गया है । इस प्रकार उसके द्वारा (तुम्हारे) वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख बाँट दिया गया है । तुम अब निश्चिन्त हो जाओ । वह आज अथवा कल तक परम शान्ति (अर्थात् मृत्यु) को प्राप्त कर लेगी । उसे तो अब केवल श्वास ही कष्ट दे रहे हैं । (अर्थात् वह सम्प्रति मरणासन्न है । उसके मर जाने पर रोना-धोना आदि कार्य अब उसके बन्धु-बान्धव करेंगे) ॥"

३०—उन्माद

सन्निपात तथा ग्रह (आदि के प्रभाव) के कारण बिना विचारे कार्य करने की अवस्था को उन्माद कहते हैं । इसमें रोना, गाना, हँसना तथा बैठे रहना आदि अवस्थाएँ (अनुभाव) होती हैं ॥३०॥

जैसे (विक्रमोर्वशीय नाटक ४।७ में उर्वशी के वियोग से विह्वल पुरुरवा का कथन है)—

'अरे, नीच राक्षस, ठहर ठहर । मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहे हो ?' ऐसा प्रारम्भ करके—

उन्मादं लक्षयति—**अप्रेक्षाकारितेति** । प्रेक्षाकारिता=विचार्य कार्यप्रवृत्तिः सा न भवतीत्यप्रेक्षाकारिता, अविचार्यकारितेत्यर्थः, चित्तसंमोह इति यावत् । **सन्निपातग्रहादिभिः**—अत्र आदिपदात्कामशोकभयादीनां ग्रहणं बोध्यम् ॥

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ २७५ ॥ इत्यादि ।

अथ विषादः—

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

यथा वीरचरिते—हा आर्ये ताडके, किं हि नामैतत् अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते ।

'नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि' ॥ २७६ ॥

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥ ३२ ॥

'क्या यह नूतन जलधर उमड़ा है, यह गर्वीला राक्षस नहीं है। दूर तक फैला हुआ यह इन्द्र-धनुष है, उसका (अर्थात् राक्षस का) धनुष नहीं है। यह भी अत्यन्त तीव्र धारासार वृष्टि है, यह उसकी बाण-परम्परा नहीं है। यह कसौटी पर सुवर्ण की रेखा के समान बिजली है, मेरी प्रियतमा उर्वशी नहीं है। इत्यादि ॥'

३१—विषाद

आरम्भ किये गये कार्य की असफलता आदि के कारण सत्त्व (बल या उत्साह) का क्षीण हो जाना ही विषाद है। लम्बी-लम्बी श्वास छोड़ना और लेना, मन का सन्ताप तथा सहायकों का अन्वेषण इसके अनुभाव हैं ॥३१॥

जैसे वीरचरित (१।४०) में (रावण विषादग्रस्त हो रहा है)—"हाय! आदरणीये ताटके, यह क्या है, कि जल में तुम्बियाँ डूब रही हैं और पत्थर तैर रहे हैं।

"निश्चय ही (मुझ) राक्षस-पति का प्रताप घट गया है; क्योंकि मानव-बालक (राम) के द्वारा अद्भुत पराभव प्राप्त हुआ है। बैठे ही बैठे मेरे द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों का विनाश देखा गया। क्या करूँ दीनता तथा बुढ़ौती मुझे (कुछ करने से) रोक रही हैं ॥"

३२—औत्सुक्य (उत्सुकता)

किसी मनोहर वस्तु की अभिलाषा, प्रगाढ प्रेम तथा घबराहट के कारण समय (के विलम्ब) को सहन न कर सकना ही औत्सुक्य है। उसमें लम्बी-लम्बी श्वासें

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः' ॥ २७७ ॥

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः' ॥ २७८ ॥

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनापारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ ३३ ॥

यथा विकटनितम्बायाः—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः' ॥ २७९ ॥

छोड़ना, जल्दबाजी करना, लम्बी-लम्बी श्वास लेना, हृदय का सन्तप्त होना, पसीना आना और श्रम आदि (अनुभाव पाये जाते) हैं ॥३२॥

जैसे कुमारसम्भव (६।९५) में—

"निश्चल एवं विशाल नेत्रों वाली (पार्वती) ने दर्पण में अपने सुन्दर स्वरूप को देखकर शङ्करजी के पास पहुँचने के लिए शीघ्रता करने लगीं। वस्तुतः स्त्रियों का वेष (अर्थात् साज-सजा) तभी सफल है, जब कि उसे उनके प्रियतम देखें ॥"

अथवा, जैसे वहीं (कुमारसम्भव ६।९५)—

"पार्वती से मिलन की उत्कण्ठा से भरपूर भगवान् शङ्कर भी उन दिनों को बड़ी मुश्किल से व्यतीत किये। ये (काम सम्बन्धी) भाव जब उस विभु (अर्थात् इन्द्रिय-जयी) को भी प्रभावित करते हैं तब भला इन्द्रियों के अधीन रहने वाले किस दूसरे व्यक्ति को परेशान न करेंगे ? ॥

३३—चपलता

मात्सर्य, द्वेष तथा राग आदि के कारण चित्त का स्थिर न रहना 'चपलता' है। उसमें डाँटना, निष्ठुरता दिखलाना तथा मनमानी आचरण करना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥३३॥

जैसे विकटनितम्बा (नामवाली कवियित्री) के इस पद्य में है—

"हे भ्रमर, तुम किन्हीं दूसरी पुष्पलताओं पर अपने चञ्चल मन को (जाकर) बहलाओ, जो कि तुम्हारे बोझ एवं मर्दन को सह सकें। असमय में नवमल्लिका (नेवारी) की इस कली को व्यर्थ में ही क्यों मसल डाल रहे हो, जो कि अभी कच्ची है और जिसमें पराग नहीं पैदा हुआ है ॥"

यथा वा—

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि' ॥ २८० ॥

अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

अथ स्थायी—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

विशेष—उक्त पद्य में अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा कवियित्री किसी ऐसे अनुरागी नायक को सचेत कर रही है, जो अप्राप्त यौवन वाली और जिसे मासिक धर्म भी अभी नहीं प्रारम्भ हुआ है ऐसी बालिका को भोगना चाहता है।

अथवा जैसे (रावण के निम्न कथन में)—

"(दाँतों को) पीसने के कारण कड़-कड़ शब्द करती हुई कठोर दाढ़रूपी आरों से भयङ्कर कन्दरा के समान बीच भाग वाले मेरे ये मुख "मैं पहले खाऊँ, मैं पहले खाऊँ" यह कहते हुए क्या एक साथ ही कोप करके अभी इन (वानरों) पर कूद पड़ें ? ॥

अथवा पहले अवसर के अनुरूप कार्य ही भली-भाँति करूँगा।"

(इन भावों के अतिरिक्त) जो अन्य चित्तवृत्तियाँ हैं, उनका इन्हीं विभावों तथा अनुभावों के स्वरूपों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उनका अलग से कथन नहीं किया गया है।

विशेष—व्यभिचारीभाव एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ ही हैं। कतिपय आचार्यों ने इन तैंतीस के अतिरिक्त भी चित्तवृत्तियों की गणना की है। इस प्रकार के आचार्यों में नाट्यदर्पणकार तथा रसमञ्जरीकार भानुदत्त का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु दशरूपककार उक्त तैंतीस चित्तवृत्तियों (भावों) को मानते हैं और शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं।

स्थायीभाव

जो (रति आदि) भाव अपने विरुद्ध अथवा अनुकूल भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है तथा अन्य भावों को उसी तरह आत्मसात् कर लेता है जैसे कि सागर (सब तरह के जल को आत्मसात् करके खारा बना लेता है), वह स्थायीभाव कहलाता है ॥३४॥

स्थायिभावं निरूपयितुं प्रतिजानीते—**अथेति**। अथ व्यभिचारीभावप्रतिपादनानन्तरमिति भरतकारिकायां तस्यैवोद्देशक्रमप्राप्तत्वात्। **विरुद्धैः**=प्रतिकूलैः, **अविरुद्धैः**=अप्रतीपैः, अनुकूलैरिति यावत्, **न विच्छिद्यते**=न तिरोधीयते, यः सातत्येनावस्थातुं शक्नोतीति भावः। **आत्मभावम्**=स्वस्वरूपताम्, **नयति**=प्रापयति। **लवणाकरः**=सागर इवेत्यर्थः। यथा सागरः स्वस्मिन्नागतं सर्वविधं जलं मधुरममधुरं वाऽऽत्मभावं, क्षारतामित्यभिप्रायः, नयति तथैव यो भावोऽन्यान् भावान् आत्मसात्करोति स स्थायी निगद्यते॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी। यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः— 'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः, प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी।

(काव्य आदि में) वर्णित वह रीति आदि भाव जो सजातीय अथवा विजातीय अन्य भावों से तिरस्कृत नहीं हो पाता, स्थायीभाव कहलाता है। (सजातीय भावों से अभिभव न होने का उदाहरण है—) जैसे बृहत्कथा में वर्णित नरवाहनदत्त का मदनमञ्जूषा के प्रति होने वाला अनुराग, अन्य (नायकों के) अनेक नायिकाओं के प्रति वर्णित अवान्तर अनुरागों से, तिरस्कृत (न्यून) नहीं होता है। अतः (नरवाहनदत्त की मदनमञ्जूषा के प्रति स्थित रति) स्थायीभाव है। (विजातीय अर्थात् प्रतिकूल भावों से तिरस्कृत न होने का उदाहरण है—) जैसे कि मालतीमाधव में श्मशान के वर्णन से युक्त (पञ्चम तथा षष्ठ) अङ्क में बीभत्स के वर्णन से मालती (के प्रति होने वाले माधव) के अनुराग का तिरस्कार नहीं हुआ है। "पूर्व अनुभव (उपलम्भ) से उत्पन्न होने वाले संस्कार के अनवरत प्रबुद्ध होने से प्रतीत होती हुई (अर्थात् मन में अनुभूत होती हुई), उससे भिन्न (अर्थात् विजातीय) अन्य प्रतीतियों के द्वारा जिसका सतत प्रवाहित होने वाला प्रवाह रोका नहीं गया है ऐसी, प्रियतमा (मालती)की स्मृति-रूप ज्ञान की धारा मेरी चेतनता को अन्तःकरण की वृत्ति से मिल कर मालतीमय बना रही है"—इत्यादि (माधव) के कथनों से वर्णित किया गया है। तो इस प्रकार विरोधी अथवा अविरोधी (भावों) का समावेश (स्थायीभाव का) विच्छेदक नहीं होता है।

विशेष—विरुद्धै रविरुद्धै र्वा—एक व्यक्ति का रतिभाव दूसरे व्यक्ति के रतिभाव का सजातीय होता है। जुगुप्सा आदि भाव रतिभाव के विजातीय भाव हैं। ऊपर प्रदत्त उदाहरणों में नरवाहनदत्त का जो मालती के प्रति रतिभाव है, उसके सजातीय भाव हैं अन्य नायकों के रतिभाव। किन्तु मालतीमाधव में माधव का मालती के प्रति जो रतिभाव है; उसका विरोधी भाव है बीभत्स (जुगुप्सा), जो श्मशान के वर्णन से उद्बुद्ध होता है।

न विरोधी—स्थायीभाव का विच्छेदक नहीं होता है। ऊपर बतलाये गये उदाहरणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि सजातीय या विजातीय भाव स्थायीभाव के विच्छेदक नहीं होते हैं। सजातीय अथवा विजातीय भाव स्थायीभाव के अङ्ग = सहायक होकर काव्य में उपनिबद्ध किये जा सकते हैं। उनका समावेश करने से कोई क्षति नहीं हो सकती। इसी का विस्तृत विवेचन करते हुए आगे के अंश की अवतारणा की जा रही है—

तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा। उभयरूपेणापि न तावत्तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात्। स्थायिनां च भावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्—रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः। यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येष्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः सम्पद्यते। तस्मान्न तावद्भावाना सहानवस्थानम्। बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः। स च न स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्—प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्।

जैसे कि—विरोध दो प्रकार का होता है—(१) (दो भावों का) एक साथ न रह सकना (सह + अनवस्थान) और (२) एक भाव का दूसरे भाव की प्रतीति में बाधा उपस्थित करना (बाध्यबाधकभाव)। दोनों ही अवस्थाओं में इस (अङ्गी स्थायीभाव) का अन्य स्थायीभाव से विरोध (तादात्म्य) है ही नहीं, क्योंकि दोनों भावों की एक (रस के) रूप में ही प्रतीति हुआ करती है। (भाव यह है कि यदि दोनों भावों की प्रतीति अलग-अलग रसरूप में हो रही हो, तो ऐसी दशा में विरोध हो सकता है, किन्तु उनकी प्रतीति मिश्रितरूप से एक रस के रूप में होने पर विरोध नहीं माना जायगा, क्योंकि विरोध होने पर तो एकरूपता ही सम्भव न हो सकेगी)। यदि कोई कहता है कि स्थायीभावों का सञ्चारीभावों के साथ विरोध हो सकता है, तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इनमें सहानवस्थानरूप विरोध हो ही नहीं सकता। समस्त सहृदय यह अनुभव करते हैं कि रति आदि से उपरक्त चित्त में, माला के एक सूत्र में अनेक पुष्पों की भाँति, अविरोधी व्यभिचारियों का सम्बन्ध रहता ही है। और जिस प्रकार यह (अर्थात् स्थायीभाव तथा व्यभिचारियों की एक साथ स्थिति) अपने अनुभव से सिद्ध है, उसी प्रकार काव्य-व्यापार के उपाय (संरम्भ) से अनुकार्य (राम, दुष्यन्त आदि) में भी रति आदि भाव से युक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारियों की स्थिति दिखलाई जाती है तथा सहृदय के अपने चित्त से तादात्म्य के द्वारा वह उस प्रकार के आनन्द को उद्बुद्ध करने का हेतु बन जाता है। अतः (स्थायीभाव का) व्यभिचारीभावों के साथ सहावस्थानरूप विरोध तो है ही नहीं।

(बाध्य-बाधकरूप विरोध भी ऐसे स्थलों पर सम्भव नहीं है। क्योंकि) बाध्य-

---

विरोधप्रकारं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। भावानां द्विविधो हि विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावश्चेति। **अस्य**=स्थायिभावस्य, **तादात्म्यम्**=विरुद्धत्वम्, **एकरूपत्वेनैव**=अभिन्नरूपत्वेनैव, रसरूपेणैवेति यावत्, **आविर्भावात्**=प्रतीतिभावात्। **काव्यव्यापारसंरम्भेण**=काव्यव्यापारोपायेन, काव्यवैशिष्ट्येनेति यावत्, **अनुकार्ये**=रामादावित्यर्थः, **आवेश्यमानः**=वर्णित इत्यर्थः, **स्वचेतःसम्भेदेन**=स्वचेतसस्तादात्म्येन। **स चेति**=स्थायिना विभावादीनां बाध्यबाधकभावश्चेति। **अङ्गत्वायोगात्**=अङ्गत्वेनानुपपद्यमानत्वात्॥

आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम्। तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः। स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी।

यथा—'अण्णहुणाहुमहेलिअहुजुहुपरिमलुसुसुअन्धु।
मुहुकन्तह अगत्थगहअङ्ग ण फिट्टइ गन्धु॥' २८१॥
(नितान्तास्फुटत्वादस्य श्लोकस्य च्छाया न लिख्यते।)

बाधकभाव वहाँ होता है, जहाँ कि एक भाव के द्वारा दूसरे भाव का तिरस्कार किया जाता है। और वह (अर्थात् विरोध) तो स्थायीभावों का अपने अविरोधी व्यभिचारीभावों के साथ हो ही नहीं सकता है, क्योंकि वे स्थायी भाव के विरोधी न होकर उसके अङ्ग होते हैं। जो प्रधान भाव का विरोधी होता है, वह उसका अङ्ग ही नहीं हो सकता है।

विशेष—रत्याद्युपरक्ते ''भावकस्वसंवेदनसिद्धः—प्रेमी अपनी प्रेमिका से मिल रहा था। उसका अपनी प्रेयसी के प्रति रतिभाव चरम सीमा पर था। किन्तु इसके साथ ही उसके मन में यह भी चिन्ता थी कि कहीं कोई हम लोगों को देख न लें। यही है, स्थायीभाव का अपने अविरोधी व्यभिचारीभाव के साथ सहावस्थान।

स्वचेतःसम्भेदेन—सहृदय दर्शक जब रङ्गमञ्च पर नट को राम आदि का अभिनय करते हुए देखता है, तब वह काव्य-व्यापार की महिमा से अनुकार्य राम आदि में रति आदि का उदय देखता है। किन्तु रति आदि की यह स्थिति उसे सामान्यरूप से प्रतीत होती है। वह उसे न केवल राम का ही समझता है, न केवल अपना और न किसी अन्य का ही। उसे उस रतिभाव का किसी देश-काल से भी सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि वह उसके साथ तन्मय हो जाता है। अपने मन से उसका सम्बन्ध जोड़ लेता है। फिर उसे नाटक के दर्शन से आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रकार से आनन्तर्य-विरोध (एक स्थायी के तुरत बाद ही किसी विरोधी भाव की योजना) का भी परिहार हो जाता है। जैसा कि मालतीमाधव में शृङ्गार के अनन्तर ही बीभत्स की योजना की गई है। किन्तु ऐसा होने पर भी कुछ विरसता नहीं आने पाई है। तो ऐसा (अर्थात् सहानवस्थान आदि विरोध नहीं हो सकता इस बात के) सिद्ध हो जाने पर दो विरोधी रसों का किसी एक ही आलम्बन में स्थित होना ही विरोध का हेतु हो सकता है। किन्तु दो विरोधी रस एक ही आलम्बन में भी उस अवस्था में रह सकते हैं जब कि उन दोनों के बीच में उन दोनों का ही अविरोधी कोई रस उपनिबद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार वे एक ही आलम्बनन में अविरोधी के रूप में रह सकते हैं। जैसा कि "अण्णहु" इत्यादि श्लोक में है। (अत्यन्त अस्पष्ट होने के कारण उक्त प्राकृत श्लोक की संस्कृत छाया नहीं लिखी गई है। यही कारण है कि उसकी व्याख्या भी नहीं की जा रही है)।

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः। प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम्?

यथा—'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्स डोलाइअं हिअअम्' ॥ २८२ ॥
[एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥]

यहाँ बीभत्स-रस के अङ्गभूत दूसरे रस के बीच में वर्णित कर दिये जाने के अनन्तर शृङ्गार रस का समावेश किया गया है। अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अथवा विरोधी रसों की एक आश्रय में स्थिति का किसी और उपाय से परिहार करना चाहिए।

विशेष—आनन्तर्यविरोधित्वम्—रसों का परस्पर विरोध तीन प्रकार का होता है—(१) आनन्तर्यविरोध, (२) आलम्बनैक्यविरोध तथा (३) आश्रयैक्यविरोध।

(१) आनन्तर्यविरोध—जब दो रस, एक ही व्यक्ति में, बिना किसी अन्य रस के बीच में आये एक साथ नहीं रह सकते हैं, तब आनन्तर्यविरोध होता है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि शान्त और शृङ्गार एक साथ ही एक व्यक्ति में नहीं रह सकते हैं। अतः इनका नैरन्तर्य विरोध है। इन दोनों के इस नैरन्तर्य विरोध को दूर करने के लिए इन दोनों के बीच में, इन दोनों ही के अविरोधी, किसी दूसरे रस की योजना कर देनी चाहिए।

(२) आलम्बनैक्यविरोध—एक ही आलम्बन को मान कर दो विरोधी स्थायीभावों (रसों) का, किसी एक व्यक्ति में, एक समय में न होना ही आलम्बनैक्यविरोध है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि शकुन्तला के प्रति रतिभाव से युक्त (दुष्यन्त में उसी समय जुगुप्सा का भाव नहीं हो सकता है)।

(३) आश्रयैक्यविरोध—एक ही किसी व्यक्ति में एक समय में ही दो विरोधी भावों का न होना ही आश्रयैक्यविरोध है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि किसी एक ही नायक में एक ही समय में वीर तथा भयानक (भय) दो रस नहीं रह सकते हैं।

पूर्वपक्षी—अच्छा ठीक है, जहाँ किसी एक (भाव की प्रधानता) के अभिप्राय से अन्य—विरोधी तथा अविरोधी—भावों का उपस्थापन गौणरूप से होता है, वहाँ तो गौणभावों के प्रधान रस के प्रति अङ्ग होने के कारण 'विरोध भले ही' न हो। किन्तु जहाँ अनेक भावों की योजना समान स्तर पर की जाती है, वहाँ कैसे (अविरोध) होगा? जैसे—

"एक तरफ प्रिया रो रही है। दूसरी ओर युद्ध के नगाड़े की गड़गड़ाहट हो रही

इत्यादौ रत्युत्साहयोः । यथा वा—

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' ॥ २८३ ॥

इत्यादौ रतिशमयोः । यथा च—

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः' ॥ २८४ ॥

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः ।

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः' ॥ २८५ ॥

है । (ऐसी स्थिति में) भट का हृदय (प्रिया के प्रति) प्रेम तथा (रण के प्रति) उत्साह से दोलायित हो रहा है ॥"

इत्यादि में रति एवं उत्साहभाव की समानरूप से प्रधानता है ।

अथवा, जैसे (शृङ्गारशतक ३६ में)—

"मात्सर्य का परित्याग करके, आर्यजन मर्यादापूर्वक यह बतलावें कि पर्वतों के निचले भाग (अर्थात् गुफाओं) का सेवन करना उचित है अथवा काम-वासना से मुस्कराती हुई विलासिनी स्त्रियों के नितम्बों का ? ॥"

इत्यादि में रति और शमभाव की एक-जैसी प्रधानता है । और जैसे (रावण के निम्न कथन में)—

"एक तरफ तो तीनों लोकों के सौन्दर्य की एकमात्र खान, चञ्चल नेत्रोंवाली, जगद्विदित सीता है, और दूसरी ओर वह दुष्ट व्यक्ति (राम) है जिसने (नाक-कान आदि काट कर) मेरी बहन का अपकार किया है । इधर (सुन्दरी सीता के प्रति) तीव्र काम का भाव है, और उधर (राम के प्रति) महान् क्रोध की अग्नि । फिर भी मैंने यह (संन्यासी का) वेश बनाया है । अतः मेरा मन अस्थिर हो रहा है कि यह सब कैसे हो रहा है ।"

इत्यादि में रतिभाव तथा क्रोध की समानरूप से प्रधानता है । और जैसे—(मालतीमाधव ५।१८ में श्मशान के वर्णन के अवसर पर)—

"अत्यन्त प्रसन्न पिशाचों की ये स्त्रियाँ (अर्थात् पिशाचिनियाँ)—जो आँतों से मङ्गल-सूत्र बनाये हुई हैं, स्त्रियों के हस्तरूपी रक्त-कमलों के कर्णाभूषण धारण की हुई हैं, कलेजेरूपी कमल-माला को शिर पर बाँधे हुई हैं, रुधिर के कीचड़ का कुङ्कुम लगाये हुई हैं,—अपने प्रियतमजनों के साथ मिल कर कपाल के प्यालों में अस्थि-स्नेह (चर्बी) रूपी मदिरा का पान कर रही हैं ॥"

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः।

एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे श‍ृङ्गारभारालसम्।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः॥ २८६॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्।

'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम्।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा॥ २८७॥

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः?

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—'एक्कत्तो रुअइ पिआ इत्यादौ स्थायी-

---

इत्यादि में एक ही आलम्बन—पिशाचिनियों—में एक साथ ही समानरूप से प्रधान रति तथा जुगुप्सा दोनों भावों का निबन्धन हुआ है। और जैसे—

"एक (नेत्र) ध्यान के कारण बन्द करने से मुकुलित है। दूसरा नेत्र पार्वती के मुखकमल तथा स्तनों के निचले फैलने वाले हिस्सों पर, श‍ृङ्गार के भार से मदमस्त होकर, टिका हुआ है। तृतीय नेत्र दूर तक धनुष को खींचने वाले कामदेव के प्रति उत्पन्न कोप की ज्वाला से प्रज्वलित हो रहा है। इस प्रकार ध्यान के समय भिन्न-भिन्न रसों से युक्त शिव के तीनों नेत्र आप सबकी रक्षा करें॥"

इत्यादि में शम, रति तथा क्रोध की समानरूप से प्रधानता है। और, जैसे—

"दिन की समाप्ति पर प्रियतम के वियोग की आशङ्का करने वाली चक्रवाकी (चकई) क्रोधपूर्ण एक नेत्र के द्वारा आकाश में स्थित सूर्य के बिम्ब को देख रही है, और आँसुओं से भरे दूसरे नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को निहार रही है। इस प्रकार (वह) एक निपुण नर्तकी के समान एक साथ मिले हुए दो भावों को प्रकट कर रही है॥"

इत्यादि में रति, शोक और क्रोध की एक जैसी-प्रधानता के साथ योजना की गयी है। तो भी इनका (परस्पर) विरोध क्यों नहीं है?

विशेष—पूर्वपक्षी ने उपर्युक्त छः श्लोकों के द्वारा ऐसे स्थलों को उपस्थित किया, जहाँ उसके अनुसार एक साथ कई भिन्न भावों (रसों) का समानरूप से सन्निवेश किया गया है। फिर भी यहाँ विरोध क्यों नहीं होता? इसी आशङ्का का उत्तर आगे सिद्धान्ती की ओर से यह कह कर दिया जा रहा है कि उपर्युक्त उदाहरणों में समप्राधान्य है ही नहीं—

सिद्धान्ती—(तुम्हारी आशंका का समाधान) यहाँ बतलाया जा रहा है—उपर्युक्त उदाहरणों में भी एक ही स्थायी (भाव की प्रधानता है। अतः समप्राधान्य

भूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते। किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामौदासिन्येन महदनौचित्यम्। अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानाच्छमैकपरत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम्।

की तुम्हारी आपत्ति निराधार है) जैसे कि—"**एकतो रोदिति प्रिया**" इत्यादि में स्थायीभाव है उत्साह। वितर्क उस (उत्साह) का व्यभिचारीभाव है। सन्देह उस (वितर्क) का निमित्त है, तथा इसी सन्देह के उत्पादक के रूप में रुदन (करुण का) तथा रणभेरी का वर्णन किया गया है। इस रुदन तथा रणभेरी का वर्णन वीर-रस को ही पुष्ट करता है, यह बात '**भटस्य**' (अर्थात् 'योद्धा के') इस पद के द्वारा भी सिद्ध की गयी है। और दूसरी बात यह भी है कि समानरूप से प्रधान दो भावों में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव (अङ्गाङ्गिभाव) भी नहीं होता और उपकार्य-उपकारक भाव से रहित भावों की एकवाक्यता (एक वाक्य में कथन) भी नहीं होती (क्योंकि परस्पर साकांक्ष भावों का ही एक वाक्य में कथन होता है, निराकांक्ष का नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है)। इसके अलावा एक और अन्य बात भी है कि संग्राम के प्रारम्भ हो जाने पर सुभटों का अन्य (प्रेम आदि) कार्यों में लग जाना तथा प्रस्तुत संग्राम की ओर से उदासीन हो जाना नितान्त अनुचित भी है, (और अनुचित का काव्य में उपनिबन्धन नहीं हुआ करता है)। अतः यहाँ प्रियतमा का करुण-विप्रलम्भ (अर्थात् रतिभाव) पति की एकमात्र संग्राम में ही अभिरुचि प्रकट कर शौर्य को ही प्रकाशित करता हुआ वीर-रस को ही पुष्ट करता है।

विशेष—स्थायीभूत०—यहाँ स्थायीभाव है उत्साह। उत्साह का व्यभिचारी है वितर्क। उस वितर्क का कारण है सन्देह। इस सन्देह के कारण होने से करुण (अर्थात् विप्रलम्भ करुण) तथा युद्ध-वाद्य का ग्रहण वीर-रस की ही पुष्टि करता है।

इसी प्रकार 'मात्सर्यमुत्सार्य' इस पद्य में भी अनादिकाल से चली आ रही रतिवासना को तुच्छ बतलाने के कारण शम की ही प्रधानता है। यह बात '**आर्याः समर्यादम्**' इन दो पदों से प्रकट की गयी है।

विशेष—आर्याः समर्यादम्—यहाँ मर्यादापूर्वक आर्यों = आदरणीय जनों से यह

पूर्वप्रदत्तेषूदाहरणेषु भावानां समप्राधान्यं परिहरन्नाह—**अन्योन्यत इति**। **स्थायीभूतेत्यादिः**—स्थायीभूतो य उत्साहस्तस्य व्यभिचारलक्षणो यो वितर्कभावः तस्य हेतुर्यः सन्देहस्तत्कारणतया। **एकवाक्यभावः** = एकवाक्यता, अङ्गाङ्गिभाव इत्यर्थः। **महदनौचित्यम्**—अनौचित्यस्य काव्य उपनिबन्धनं न समीचीनमिति। **प्रियतमाकरुणः** = विप्रलम्भकरुण इत्यर्थः॥

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्कहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव।

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव।

विचार करने का निवेदन किया जा रहा है कि वे यह बतलावें कि 'रमणियों के नितम्ब सेवनीय हैं अथवा पर्वत की उपत्यकाएँ?' आर्यों से ही मर्यादापूर्वक पूछने से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि कवि का अभिप्राय पर्वत की उपत्यकाओं के सेवन से है। अतः यहाँ शम की ही प्रधानता है, रति और शम की समानता नहीं।

इसी प्रकार 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादि में भी रावण के प्रतिनायक (शत्रु-नायक) होने से, उसके निशाचर होने से तथा महान् मायावी होने से भी रौद्र-रस की ही प्रधानता है। रौद्र-रस का व्यभिचारीभाव है विषाद और विषाद का विभाव (निमित्त) है (सीता एवं लक्ष्मण के विषय में होने वाला) वितर्क। उस वितर्क के हेतु के रूप में रति एवं क्रोध दोनों का वर्णन किया गया है।

विशेष—रौद्रव्यभिचारि०—'इयं सा लोलाक्षी' इस पद्य में रौद्र का व्यभिचारी है विषाद। उस विषाद का विभाव है सीता तथा लक्ष्मण के विषय में होने वाला वितर्क। इस वितर्क के हेतु हैं सीताविषयक रति और लक्ष्मणविषयक क्रोध। इस प्रकार यहाँ रतिभाव की योजना रौद्र-रस को ही परिपुष्ट करती है।

इस बात को अधिक सरल शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है—रावण सीता के प्रति काम-वासना (रतिभाव) रखता है और लक्ष्मण के प्रति क्रोध। द्विविधा की इस घड़ी में उसके भीतर वितर्क का प्रादुर्भाव होता है। वह समझ नहीं पाता कि वह क्या करे। सीता को दुलारे कि लक्ष्मण को मारे। इस वितर्क से उसमें विषाद की उत्पत्ति होती है। विषाद रौद्र-रस का व्यभिचारीभाव है। इस प्रकार यहाँ रतिभाव की योजना रौद्र-रस की पुष्टि के लिए ही है। अतः यहाँ रौद्र-रस की ही प्रधानता है, रति और रौद्र की समानता नहीं।

"अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादि में भी हास्य-रस की ही प्रधानता है, (न कि रति एवं जुगुप्सा की समानता है)।

विशेष—पिशाचिनियों ने विचित्र सज-धज कर रक्खी है। उनकी चेष्टाओं तथा आकृतियों को देख कर हास्य-रस की अनुभूति होती है। हास्य की ही यहाँ प्रधानता है। जुगुप्सा एवं रति हास्य के पोषक के रूप में उपनिबद्ध किये गये हैं।

इयं सा लोलाक्षीत्यत्र रतिक्रोधयोः साम्यं निवारयति—**एवमिति**। **रौद्रव्यभिचारीत्यादिः**—रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभावो वितर्कस्तस्य हेतुतया। प्रभाकारास्तु रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभावः आलम्बनविभावः सीता तद्विषयकः कथम्पदव्यङ्ग्यो यो वितर्कस्तद्धेतुतया।' इति व्याख्यानं कुर्वन्ति। **रतिक्रोधयोः**—अत्र रतिः सीताविषयिणी तथा क्रोधो लक्ष्मणविषयको बोध्यः। **रौद्रपरम्** = रौद्रप्रधानम्॥

'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्थस्यापि योग्यन्तरशमाद्वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता ।

'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयम् । इति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः । यथा—

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।

"एकं ध्याननिमीलनात्" इत्यादि में शम्भु को अन्य (रति आदि) भावों से अविचलित दिखलाया गया है । इससे उनके शमभाव को अन्य योगियों के शमभाव से विलक्षण प्रतिपादित किया गया है । इससे तथा "समाधिसमये" इस पद से भी यहाँ एकमात्र शम की ही प्रधानता स्पष्टतया प्रतिपादित की गयी है । (अतः यहाँ शम की ही प्रधानता है । शम, रति तथा क्रोध—इन तीनों—की समप्रधानता नहीं है) ।

"एकेनाक्ष्णा" इत्यादि में समस्त वाक्य का (चक्रवाकी) के भावी विप्रलम्भ (वियोग) में ही तात्पर्य है । (यहाँ क्रोध एवं शोक रतिभाव के अङ्ग हैं । प्राधान्य रतिभाव का ही है । अतः रति, शोक एवं क्रोध की समप्रधानता यहाँ नहीं मानी जा सकती) ।

इस प्रकार उक्त उदाहरणों में कहीं भी अनेक (भावों के वर्णन) में तात्पर्य नहीं है । (अर्थात् अनेक भावों को समानरूप से उनमें वर्णित नहीं किया गया है) ।

विशेष—उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि श्लेष-रहित पदों के प्रयोग में कई भावों का समान प्राधान्य नहीं रहा करता, क्योंकि वहाँ एक ही भाव के वर्णन में कवि का तात्पर्य हुआ होता है । अब आगे यह बतलाने जा रहे हैं कि श्लेष वाले स्थलों पर भी, जहाँ कि एक पद से अनेक अर्थ निकलते हैं, अनेक भावों की एकसमान प्रधानता तथा भावों का परस्पर विरोध नहीं हुआ करता है ।

परन्तु जहाँ श्लेष आदि वाले वाक्यों में (अर्थात् श्लेष, ध्वनि, समासोक्ति और अन्योक्ति वाले वाक्यों में) अनेक अर्थों में तात्पर्य भी है, वहाँ वाक्यार्थ का भेद करके स्वतन्त्ररूप से ही दो अर्थों की उपस्थिति होती है, इसलिए कोई दोष नहीं हो सकता । (भाव यह है कि श्लेष के द्वारा एक ही वाक्य से दो अथवा अधिक अर्थों की प्रतीति होती है । जहाँ इन अर्थों में उपमानोपमेय भाव होगा, वहाँ तो उपमेय पक्षवाले अर्थ की प्रधानता हो जाया करती है । यदि दोनों ही अर्थ स्वतन्त्र हैं, तो फिर तत्तत् प्रकरण में तत्तत् अर्थों की प्रधानता सिद्ध हो जायगी । इस प्रकार श्लेष आदि के द्वारा दो या अधिक भावों का एक साथ समावेश विरुद्ध न होगा) । जैसे—

"सुन्दर हाथों वाले (अथवा सुदर्शन चक्र को हाथ में धारण करने वाले), चरणकमल के सौन्दर्य से लोकों को जीत लेने वाले (अथवा वामनावतार के समय चरण-

विभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्' ॥ २८८ ॥ इत्यादौ ।

तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वाश्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः ।

ते च—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

कमल की ललित नामक गति से लोकों को आक्रान्त कर लेने वाले), चन्द्रमा-जैसे (मोहक) नेत्र को धारण करने वाले (अथवा चन्द्रमारूपी नेत्र को धारण करने वाले। क्योंकि सूर्य तथा चन्द्र विष्णु के नेत्र माने गये हैं) विष्णु (कृष्ण) ने समस्त प्रशंसनीय शरीर को धारण करने वाली, समग्र अङ्गों की शोभा से त्रिलोकी को जीत लेने वाली, चन्द्रमा की तरह सुन्दर कान्ति से सम्पन्न मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को, उचित रूप में ही, अपनी शरीर से श्रेष्ठतर समझा वह रुक्मिणी आप सब की रक्षा करें ॥" इत्यादि में ॥

विशेष—श्लेष आदि स्थलों में जब कि वाक्य-भेद के द्वारा दो या अधिक अर्थ किये जाते हैं, वहाँ समप्राधान्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। भिन्न-भिन्न अर्थ वाक्य की पुनरावृत्तियों से निकाले जाते हैं। एक बार उच्चरित वाक्य एक ही अर्थ को बोधित करा कर निवृत्त हो जाता है। फिर दूसरे अर्थ के लिए पुनः वाक्य का उपस्थापन होता है। क्योंकि नियम है कि—(१) सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति। (२) शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः। और जब दो अर्थ एक साथ उपस्थित ही नहीं होंगे तो समप्राधान्य का प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस तरह से उपर्युक्त प्रक्रिया से रति आदि स्थायीभावों के उपनिबन्धन में कहीं भी विरोध नहीं होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि जिन वाक्यों में रति आदि शब्दों का काव्य में प्रयोग नहीं होता है, वहाँ भी रति आदि भावों के ही वर्णन में तात्पर्य होता है। यही बात आगे दिखलाई जायगी।

यथा वाश्रूयमाण०—आचार्यों ने रस के स्थायी एवं व्यभिचारीभाव के शब्द द्वारा कथन को 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष माना है। किन्तु इस स्थल को देखने से प्रतीत होता है कि धनिक इस तरह के दोष को मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके कथन का भाव यह है कि काव्य में रति आदि पदों का प्रयोग किया जाय अथवा विभाव आदि कारणों से उनका आक्षेप किया जाय—दोनों ही स्थितियों में—भावों के उपनिबन्धन में कुछ अन्तर नहीं आता। दोनों का ही तात्पर्य रस-योजना में हुआ करता है।

और वे स्थायीभाव (ये) हैं—

(१) रति, (२) उत्साह, (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय और (८) शोक। कुछ आचार्य लोग शम को भी (नवम)

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः--'नास्त्येव शान्तो रसः' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति। यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।

स्थायीभाव मानते हैं; किन्तु उस (शम) की पुष्टि रूपकों में नहीं होती है। (क्योंकि यह भाव रूपकों के अनुकूल नहीं पड़ता है)।

विशेष—नाट्यदर्पण (३।१७७-१८१), प्रतापरुद्रिय, साहित्यदर्पण (३।१८२) आदि में शमभाव का निर्देश है तथा वहाँ शान्त नामक नवें रस को मान्यता दी गयी है। नाट्यदर्पणकार रूपकों में भी शान्त-रस की योजना स्वीकार करते हैं।

यहाँ शान्त-रस के विषय में विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। इनमें कुछ लोग कहते हैं कि—"शान्त-रस है ही नहीं", क्योंकि आचार्य (भरत) ने उसके विभाव आदि का वर्णन नहीं किया है और न तो उसका उन्होंने लक्षण ही बतलाया है। कुछ लोगों का कहना है कि—"वस्तुतः शान्त-रस का अभाव ही है, क्योंकि (शमभाव की पुष्टि ही शान्त-रस है। किन्तु यह शम तभी सम्भव है जब कि राग-द्वेष समाप्त हो जायँ। परन्तु) अनादि काल से अनवरत प्रवाह के रूप में चले आते हुए राग-द्वेष का विनाश ही असम्भव है।" अन्य आचार्य (शान्त-रस का) वीर तथा बीभत्स आदि में ही अन्तर्भाव मान लेते हैं। इस प्रकार कहते हुए (ये विद्वान् जन) शमभाव को भी स्वीकार नहीं करते हैं। जो कुछ भी हो (अर्थात् इनमें चाहे जो भी मत ठीक हो), किन्तु हम लोग तो अभिनयात्मक नाटक आदि में शम के स्थायीभाव होने का पूर्ण निषेध करते हैं। शम की अवस्था में समस्त व्यापारों (Actions) का अभाव हो जाता है (अर्थात् व्यक्ति शान्त हो जाता है)। अतः वह अभिनय के योग्य नहीं है। (यही कारण है कि हम उसका नाटक आदि में निषेध करते हैं)।

विशेष—आचार्येण...लक्षणाकरणात्—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल शृङ्गार आदि आठ ही रसों के विभाव आदि कारणों का वर्णन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में न तो शान्त-रस के विभाव आदि का ही वर्णन किया है और न उसका लक्षण ही दिया है। ऐसी अवस्था में यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य भरत को शान्त नामक नवाँ रस अभीष्ट नहीं है। अतः शान्त-रस को मानना प्रस्थानविरुद्ध तथा आचार्य भरत के अभिमत के प्रतिकूल है।

वीरबीभत्सादावन्तर्भावं—संसार के प्रति घृणा, जो शम का एक तत्त्व है, बीभत्स के अन्तर्गत आ जाता है। इसी प्रकार अविनाशी परम तत्त्व के प्रति उन्मुखता वीर के स्थायीभाव उत्साह का अङ्ग हो जाता है। इस तरह शान्त को अलग से रस मानने की आवश्यकता नहीं है।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात्। ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजीगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिनः।

ननु च—

'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥'

जो कि कुछ लोगों ने नागानन्द आदि में 'शम' को स्थायीभाव बतलाया है, वह तो पूरे नाटक में चलने वाले (जीमूतवाहन के) मलयवती के प्रति अनुराग तथा विद्याधर-चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति के विपरीत है। (क्योंकि नायिका के प्रति अनुराग तथा चक्रवर्तित्वरूप फल की प्राप्ति—ये दोनों ही—शमभाव के विपरीत हैं)। एक ही अनुकार्य (जीमूतवाहन आदि) के विभाव तथा आलम्बन एक साथ विषयानुराग (विषय के प्रति आसक्ति) एवं विषयापराग (विषय के प्रति विरक्ति = शम) दोनों नहीं हो सकते हैं। अतः (नागानन्द में शम स्थायी भाव न हो कर) वहाँ दयावीर का उत्साह ही स्थायीभाव है। उसी (दयावीर के उत्साह) के ही अङ्गरूप में शृङ्गार आया है और चक्रवर्ती के पद की प्राप्ति फलरूप से वर्णित है। इस प्रकार वहाँ कोई विरोध नहीं होता है। सर्वत्र कर्तव्य का पालन करना ही अभीष्ट है, ऐसा विचार कर परोपकार करने में प्रवृत्त, विजय की अभिलाषावाले व्यक्ति को (कर्तव्य के) अवश्यम्भावी फल की प्राप्ति तो हो ही जाती है—यह पहले ही द्वितीय प्रकाश के धीरोदात्त नायक के प्रकरण में बतला चुके हैं। इसलिए (रूपक में) आठ ही स्थायीभाव हुआ करते हैं।

विशेष—तत्तुविरुद्धम्—यदि नागानन्द में शान्त-रस माना जाय तो उसमें शम-भाव की प्रधानता माननी पड़ेगी। शम का अर्थ है विषयों से विरक्ति। ऐसी स्थिति में जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग की बात एकदम असङ्गत जान पड़ेगी। जीमूतवाहन के द्वारा विद्याधरों के चक्रवर्ती के पद का लाभ भी शान्त-रस से मेल नहीं रखता। अतः उसमें शान्त-रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती।

पूर्वपक्षी—"जिस प्रकार मधुर (तिक्त) आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहलाते हैं। उसी प्रकार इन (रति आदि) को भी आस्वाद्य होने के कारण ही

यत्तु कैश्चिदिति। नागानन्दे नायको धीरोदात्तः। तत्र न शान्तो रसः। यदि स्यात्तत्र शान्तस्तदा शमे स्थायिभावे सति नायके शमप्राधान्यं स्यात्। विषयापराग एव शमः। तस्यामवस्थायां जीमूतवाहनस्य मलयवतीं प्रत्यनुरागः कथं संगच्छेत्। विद्याधरचक्रवर्तित्वलाभोऽपि नायकस्य शमविरुद्ध एव। अतस्तत्र न शान्तो रसः।

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः।

अत्रोच्यते—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥ ३६॥

(अताद्रूप्यात् =) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात्।

आचार्यों ने रस कहा है। इनका रसन (अर्थात् आस्वादन) होता है, अतः ये रस हैं। इस प्रकार की आस्वाद्यता निर्वेद आदि भावों में भी पर्याप्त है। इसलिए वे भी रस हैं।" (रुद्रट काव्यालङ्कार १२।४)॥

इत्यादि कथन के द्वारा अन्य आचार्यों ने दूसरे भी रसों की सत्ता स्वीकार की है। और इस प्रकार उन रसों के दूसरे स्थायीभावों की कल्पना भी की है। ऐसी अवस्था में आपके द्वारा आठ ही रसों की मान्यता ठीक नहीं बैठ पाती।

सिद्धान्ती—(ठीक है, आपकी शङ्का का समाधान) यहाँ बतलाया जा रहा है—

निर्वेद आदि में ताद्रूप्य न होने से (अर्थात् निर्वेद आदि में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने का गुण न होने से) उन्हें स्थायी कैसे माना जा सकता है? तथा उनका आस्वादन भी कैसे किया जा सकता है? यदि किसी प्रकार से इन (निर्वेद आदि) की पुष्टि हो भी जाय तो वह वैरस्य ही उत्पन्न करने के लिए होगी। यही कारण है कि आठ ही स्थायीभाव माने गये हैं॥ ३६॥

निर्वेद आदि स्थायीभाव नहीं बन सकते, क्योंकि उनमें तद्रूपता (अर्थात् विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न न होना) नहीं है। (जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते हैं, वे ही स्थायीभाव कहलाते हैं)। यही कारण है कि निर्वेद आदि स्थायीभाव नहीं बन सकते हैं (और उनकी रसरूपता भी नहीं हो सकती है)। यदि (शृङ्गार आदि के) अपने-अपने चिन्ता आदि व्यभिचारीभावों के द्वारा व्यवहित (अलग) कर दिये जाने पर भी वे (निर्वेद आदि) पुष्ट हो जाते हैं तब भी वे वैरस्य ही उत्पन्न करते हैं। (अतः उनका स्थायीभाव होना युक्ति-युक्त नहीं है)।

[**पूर्वपक्षी**—निर्वेद आदि भावों का अन्त (परिणाम) फलरहित होता है। इसलिए उन्हें स्थायी नहीं माना जा सकता। ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। इस पर आपका क्या विचार है?]

निर्वेदादीनां स्थायित्वं खण्डयन्नाह—**निर्वेदादिरिति। अताद्रूप्यात्**—तद्रूपस्य भावरताद्रूप्यं न ताद्रूप्यमताद्रूप्यं तस्मात् "विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः" इति पूर्वपरिभाषाविरुद्धत्वादित्यर्थः, निर्वेदादिरस्थायी अतः कथं स्वदते? न स्वदते इत्यर्थः। **तत्पोषः** = निर्वेदादिपरिपोषः, **वैरस्याय** = कुत्सितास्वादायेति भावः॥

पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात्। अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति, किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम्। न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः। ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते। अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता॥

सिद्धान्ती—इन (निर्वेद आदि) का अन्त में फलरहित होना इनके स्थायी न होने का कारण नहीं कहा जा सकता है। (अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता है कि निर्वेद आदि अन्त में फल रहित होते हैं। अतः इन्हें स्थायी नहीं माना जाता)। इस तरह तो हास आदि भाव भी स्थायी नहीं बन पायेंगे। (क्योंकि मनोरञ्जन के अतिरिक्त हास आदि का भी कोई लौकिक या पारलौकिक फल नहीं है)।

पूर्वपक्षी—परम्परा से हास आदि का फल हुआ करता है। (अतः हास को स्थायी मानने में कोई आपत्ति न आयेगी)।

सिद्धान्ती—तब तो परम्परा से निर्वेद आदि का भी फल हुआ ही करता है। (क्योंकि निर्वेद आदि किसी न किसी स्थायी के अङ्ग बन कर आते हैं। यह स्थायी फल रहित नहीं होता। इस प्रकार परम्परया वे भी फलयुक्त हो ही जाते हैं)।

अतः निष्फल होना किसी भाव के स्थायी न होने का कारण नहीं बन सकता है। अपितु विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होना ही किसी भाव के स्थायी होने का कारण है। और यह बात (अर्थात् किसी भी प्रकार के भावों से तिरस्कृत न होना) निर्वेद आदि में पाई नहीं जाती। अतः वे स्थायीभाव नहीं हो सकते। यही कारण है कि वे रसरूप भी नहीं हो सकते हैं (अर्थात् जब वे भाव ही नहीं तो उनके शान्त आदि रस भी नहीं हो सकते हैं)। इस प्रकार निर्वेद आदि भाव रसरूप नहीं होते, क्योंकि वे स्थायीभाव ही नहीं बन पाते हैं।

विशेष—एषामरसता—स्थायीभाव ही विभाव आदि से परिपुष्ट होकर रस हुआ करता है। अब यदि कोई स्थायीभाव ही नहीं बन सका तो वह रस कैसे कहला सकेगा ? अतः निर्वेद आदि स्थायी न बन सकने के कारण रसरूप नहीं हो सकते हैं।

स्थायीभाव, रस एवं काव्य का परस्पर सम्बन्ध

काव्य-पाठ तथा नाट्य-दर्शन के समय सहृदय पाठकों तथा दर्शकों को रसानुभूति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान भारतीय आचार्यों ने विभिन्न ढंग से किया है। इनमें से कुछ प्रमुखतम विचारों का दिग्दर्शनमात्र यहाँ करा दिया जा रहा है—

१—ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रस की प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा हुआ करती है—ऐसा माना है। रस व्यङ्ग्य हुआ करता है और काव्य-नाटक व्यञ्जक। दोनों में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध माना गया है।

२—मीमांसकों के एक वर्ग प्रभाकर मिश्र के अनुयायियों के अनुसार अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार के माध्यम से ही रस की प्रतीति हुआ करती है।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि श्रृङ्गारादिरसेषु काव्येषु श्रृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात्। यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण।

३--भाट्टमतानुयायी एक अन्य मीमांसकवर्ग तात्पर्यवृत्ति के द्वारा रस की प्रतीति स्वीकार करता है।

४—मुकुलभट्ट ने अपनी लघुकाय पुस्तक अभिधावृत्तिमातृका में रस को लक्षणा का विषय बतलाया है।

५—व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट मानते हैं कि रस की प्रतीति अनुमान के द्वारा हुआ करती है।

६—धनञ्जय एवं धनिक रस को व्यङ्ग्य नहीं मानते हैं। वे ध्वनिवादियों के द्वारा प्रतिपादित रस की व्यङ्ग्यता का खण्डन करते हुए अपने मत की स्थापना के लिए पूर्वपीठिका प्रस्तुत करने जा रहे हैं। यहाँ वे ध्वनिवादियों के मत को उपस्थित कर रहे हैं, जिसके उत्तर में अगली कारिका की अवतारणा की गयी है।

ध्वनिवादियों के अनुसार रस आदि तथा काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव

अच्छा, इन (स्थायीभाव आदि) का काव्य से कैसा सम्बन्ध है? (क्या काव्य और स्थायीभाव तथा रस में परस्पर वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है? काव्य वाचक है और स्थायीभाव तथा रस उस काव्य के वाच्य हैं?)

नहीं, काव्य तथा स्थायीभाव एवं रस में परस्पर वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं है। (अर्थात् भाव एवं रस न तो वाच्य हैं और काव्य न उनका वाचक है)। क्योंकि रति आदि भाव तथा रस का कथन कहीं भी अपने शब्द से नहीं किया जाता। श्रृङ्गार आदि रस जिनमें प्रधानरूप से हैं, उन काव्यों में भी श्रृङ्गार आदि (रसवाचक) और रति आदि (स्थायीभाव के वाचक) शब्द नहीं सुने जाते (अर्थात् उनका उल्लेख नहीं किया जाता), जिससे यह बात प्रकट हो कि रति आदि भाव एवं उनके परिपोषस्वरूप होने वाले (श्रृङ्गार आदि रस) वाच्य होते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी यह बात है कि जहाँ भी कहीं (काव्य में श्रृङ्गार आदि तथा रति आदि शब्द) सुनाई भी पड़ते हैं, वहाँ भी ये (श्रृङ्गार अथवा रति आदि शब्द) विभाव आदि के वर्णन द्वारा ही आस्वाद्य (अर्थात् रसरूप) होते हैं, न कि केवल अपने (श्रृङ्गार अथवा रति आदि) शब्दों के वाच्य होने से।

कः पुनरिति। **एतेषाम्**=स्थायीभावादीनामित्यर्थः। **स्वशब्दैः**=भावरसादिशब्दैः, **अनावेदितत्वात्**=कथनाभावादित्यर्थः, **श्रृङ्गारादिरसेषु**—श्रृङ्गारादयो रसाः येषु तेषु काव्येषु। **तत्परिपोषस्य**=रत्यादिपरिपाकस्य। रत्यादीनां पुष्टिरेव रस इति निगद्यते, **एतेषाम्**=रत्यादीनाम्।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः—तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात्। नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः; यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपलक्षयति। अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः?। को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत? अत एव 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः।

विशेष—ध्वनिवादियों के अनुसार रस व्यङ्ग्य हुआ करता है। वे यह मानते हैं कि शृङ्गार अथवा रति आदि शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा रस की प्रतीति नहीं होती। विभाव तथा अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट हुआ रति आदि भाव ही रस कहा जाता है।

रति आदि भाव तथा काव्य में परस्पर लक्ष्य-लक्षकभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता (अर्थात् यह भी नहीं कहा जा सकता कि रति आदि भाव लक्ष्य = लक्षणावृत्ति से प्रतीत होने वाले पदार्थ हैं और काव्य उनका लक्षक = लक्षणावृत्ति से बोध कराने वाला काव्य है)। काव्य में सामान्य रस आदि के वाचक किसी लक्षक पद का प्रयोग नहीं होता है। (अतः उपादानलक्षण के द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है)। लक्षितलक्षणा के द्वारा भी रस-भाव आदि की प्रतीति नहीं हो सकती है, जैसी प्रतीति कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में हुआ करती है। वहाँ ('गङ्गायां घोषः' में) तो (गङ्गा शब्द के) अपने गङ्गाप्रवाहरूप अर्थ में घोष की स्थिति सम्भव ही नहीं हो सकती, अतः अपने अर्थ (गङ्गाप्रवाह) को कहने में 'गङ्गा' शब्द असमर्थ हो जाता है; तब पुनः वह अपने अर्थ (गङ्गाप्रवाह) से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गा-तट को लक्षित कराता है। किन्तु यहाँ (काव्य में) तो नायक आदि शब्द, (जो विभाव आदि के वर्णन के द्वारा रस-प्रतीति में सहायक होते हैं), अपने अर्थ को बतलाने में पूर्णतः समर्थ हैं। अतः वे क्यों किसी (भाव आदि) दूसरे अर्थ को लक्षित करावेंगे? अथवा रूढि (निमित्त) एवं प्रयोजन के विना तथा मुख्य अर्थ के अनुपपन्न न रहने पर कौन व्यक्ति लाक्षणिक प्रयोग करेगा? (अर्थात् कोई नहीं)। इसलिए 'सिंहो माणवकः' (बालक सिंह है) आदि की तरह गौणी वृत्ति से भी (नायक आदि शब्दों से भाव आदि की) यह प्रतीति नहीं हो सकती है।

विशेष—नापि लक्ष्यलक्षकभावः—मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की बोधिका-शक्ति का नाम है—अभिधा। अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहले अभिधा-शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य

तत्प्रतिपत्तिः—तस्य = रसादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य प्रतिपत्तिः = ज्ञानम्। **तत्र** = गङ्गायां घोष इत्यत्र, **स्वार्थे** = स्रोतोलक्षणेऽर्थे, **स्खलद्गतिः** = वाधितप्रवृत्तिः। **निमित्तप्रयोजनाभ्याम्** = रूढिप्रयोजनाभ्याम्, **मुख्ये** = प्रधानेऽर्थे, **उपचरितम्** = लाक्षणिकम्, औपचारिकमिति यावत्॥

पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा उपस्थित होती है अथवा उससे वक्ता के तात्पर्य की सिद्धि नहीं हो पाती वहाँ रूढि अथवा प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेषप्रयोजन के प्रतिपादन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्ति को 'लक्षणा-शक्ति' कहते हैं। लक्षणा-शक्ति के व्यापार के लिए तीन कारणों की आवश्यकता होती है—

१. मुख्यार्थ-बाध, २. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा ३. रूढि या प्रयोजन में से कोई एक।

लक्षणा का एक उदाहरण बहुत ही प्रसिद्ध है—"गङ्गायां घोषः"। गङ्गा शब्द का वाच्य अर्थ होता है—गङ्गा का प्रवाह। घोष का अर्थ है—आभीरों की बस्ती। प्रवाह में बस्ती का होना सम्भव नहीं है। फलतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। वाच्य अर्थ ठीक नहीं बैठता। ऐसी अवस्था में गङ्गा शब्द का अर्थ किया जाता है—गङ्गातट। गङ्गातट गङ्गाप्रवाह से सम्बद्ध भी रहता है। तब 'गङ्गायां घोषः' का अर्थ होता है—गङ्गा के तट पर आभीरों की बस्ती है। यह अर्थ, अभिधा के केवल सङ्केतित शब्द तक ही सीमित रह सकने के कारण, दूसरी वृत्ति के आश्रय से निकाला जाता है। इसी दूसरी वृत्ति का नाम है 'लक्षणा'। 'गङ्गातटे घोषः' यह प्रयोग न करके 'गङ्गायां घोषः' प्रयोग करने का प्रयोजन है—गङ्गा के तट में भी गङ्गा-प्रवाह की शीतलता तथा पवित्रता का बोध होना। इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणा है।

एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि 'अभिधावृत्तिमातृका' के रचयिता आचार्य मुकुल भट्ट ने रस को लक्षणागम्य ही माना है। वे 'दुर्वारा मदनेषवो' आदि उदाहरण में विप्रलम्भ शृङ्गार को लक्ष्य मानते हुए लिखते हैं—"तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भ-शृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा" (अभिधावृत्तिमातृका)। इसका काव्य-प्रकाशकार ने खण्डन किया है। उसी बात को यहाँ संक्षेप में उपस्थित किया गया है।

तत्सामान्याभिधायिनस्तु—सामान्य अर्थ का वाचक जो लक्षक पद है, उसका काव्य में प्रयोग नहीं होता है। काव्य में इस प्रकार के शब्द नहीं मिलते जो सामान्य-रूप से रस का बोध कराकर लक्षणा के द्वारा शृङ्गार आदि विशेष रस की प्रतीति करावें। सम्भवतः यहाँ उपादानलक्षणा की ओर सङ्केत किया गया है।

लक्षितलक्षणया—लक्षितलक्षणा के द्वारा भी काव्य में रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि यहाँ लक्षणा के हेतु ही नहीं उपस्थित हैं। काव्य में प्रयोग किये गये शब्दों का मुख्यार्थबाध आदि होता ही नहीं है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि—लक्षणा के प्रथमतः दो भेद होते हैं—१. रूढिलक्षणा, २. प्रयोजनवती लक्षणा। प्रयोजनवती लक्षणा के पुनः दो भेद होते हैं—(क) उपादानलक्षणा, (ख) लक्षितलक्षणा। रूढिलक्षणा का उदाहरण—'कर्मणि कुशलः' अथवा 'कलिङ्गः साहसिकः'

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत्। न च काल्पनिकत्वम्—अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः। अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति।

है। प्रयोजनवती का उदाहरण—'गङ्गायां घोषः' है। उपादानलक्षणा का उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति' तथा लक्षितलक्षणा का उदाहरण—'गङ्गायां घोषः' है। इसके अतिरिक्त लक्षणा का एक और विभाग होता है—१. गौणी और २. शुद्धा।

गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः—प्राभाकर मीमांसक गौणीवृत्ति को लक्षणा से भिन्न एक अलग वृत्ति मानते हैं—"गौणीवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः" (प्रतापरुद्रीय)। वे लोग 'उपचार' को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म मानते हैं। 'उपचार' से रहित लक्षणा 'शुद्धा' एवं उपचार से युक्त लक्षणा 'गौणी' कही जाती है। उपचार का लक्षण 'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्' यह किया गया है। इसका आशय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अत्यन्त समानता के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी बालक में शूरता, सतर्कता आदि सादृश्य के कारण 'सिंहो माणवकः' 'यह बालक शेर है' आदि प्रयोग उपचारमूलक होते हैं, यही कारण है कि ये गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सब में गौणी लक्षणा मानी गयी है, और जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के अलावा सामीप्य आदि कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धालक्षणा होती है। गौणी भी मुख्यार्थबाध आदि तीनों हेतुओं के रहने पर ही हुआ करती है। अतः रस आदि की प्रतीति गौणीवृत्ति का भी विषय नहीं हो सकती।

टिप्पणी—किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मीमांसा के सम्प्रति प्राप्त किसी भी ग्रन्थ में गौणीवृत्ति का उल्लेख नहीं मिलता है। पता नहीं प्राचीन आचार्यों में मीमांसकों की गौणीवृत्ति की बात किस भ्रम के कारण फैल गयी है। यह भी संभव है कि किसी ग्रन्थविशेष में इसकी चर्चा रही हो जो आज अनुपलब्ध है। किन्तु वृत्तिविषयक यह सिद्धान्त केवल एक ही ग्रन्थ में विवेचित रहा होगा यह बात ठीक बैठती नहीं है।

(इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि) यदि रस की प्रतीति अभिधाशक्ति के द्वारा हुआ करे तो जो लोग केवल वाच्य-वाचकभावमात्र का ज्ञान रखते हैं (अर्थात् जो लोग केवल इतना ही भर जानते हैं कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है या अमुक अर्थ अमुक शब्द का वाच्य है) ऐसे अरसिक जनों को भी रसा-

---

केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसाम्—केवलं वाच्यवाचकभावमात्रे = शब्दार्थज्ञानमात्रे व्युत्पन्नम् = अभिज्ञं चेतः = हृदयं येषां तादृशानाम्, **अरसिकानाम्** = अनिर्मलान्तःकरणानामसहृदयानाम्। **अविगानेन** = बाधराहित्येन। **वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यः**—वाच्यान्तरेषु = अर्थान्तरेषु परिकल्पिताः = निश्चिताः शक्तयो यासां ताभ्योऽभिधालक्षणागौणीभ्यः॥

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात्, यथा कुमारसम्भवे—

स्वाद हुआ करे (किन्तु ऐसा होता नहीं है)। रस आदि की प्रतीति को काल्पनिक भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सभी सहृदय (नाटक आदि के दर्शन के समय) बिना किसी बाधा के रस का आस्वादन किया करते हैं। अतः कुछ आचार्य (अर्थात् ध्वनिवादी आचार्य) अन्य अर्थों के बोधन कराने में निश्चित शक्तियों वाली अभिधा, लक्षण तथा गौणीवृत्तियों से नितान्त भिन्न व्यञ्जनात्मक शब्द का एक व्यापार मानते हैं (अर्थात् व्यञ्जनात्मक शब्द की एक शक्ति मानते हैं)। उनके अनुसार रस, अलङ्कार तथा वस्तु की प्रतीति इसी व्यञ्जनानामक शब्दव्यापार के द्वारा हुआ करती है।

विशेष—अरसिकानाम्—कोई व्यक्ति शब्दों तथा उनके अर्थों का ज्ञाता होने भर से ही काव्यरस का आस्वादक नहीं हो सकता है। शब्दार्थों के ज्ञान के साथ ही साथ जिनका मन रज एवं तम के विगलित हो जाने से शुद्ध, निर्मल तथा केवल सत्त्व से द्योतित हो रहा है, जिनकी बुद्धि अलौकिक काव्यार्थों के परिशीलन से परिपक्व हो चुकी है, कवियों एवं विद्वानों की चरण-धूलि से जिनका ललाट चमक रहा है ऐसे ही व्यक्ति काव्यरस के आस्वादक हुआ करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लोग, चाहे वे शब्दार्थों के अप्रतिम ज्ञाता क्यों न हों, अरसिक ही कहे जाते हैं।

न च काल्पनिकत्वम्—कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो रस को किसी वृत्ति का विषय न मानकर उसे काल्पनिक मानते हैं। ये लोग यह मानते हैं कि कवि स्वरचित काव्य के शब्दों को अपने इच्छित रस का काल्पनिक सङ्केत मान लेता है। वह यह निश्चयात्मक धारणा बना लेता है कि हमारे काव्य में अमुक शब्दों के प्रयोग से अमुक रस की प्रतीति हुआ करेगी। किन्तु यह मत भी तर्कसम्मत एवं अनुभवसिद्ध नहीं है। रस को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। यदि रस को काल्पनिक माना जाय तब तो रसप्रतीति कुछ ही लोगों को हो सकेगी जो कवि के भावों से परिचित होंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं है। रसप्रतीति सब सहृदयों को एक जैसी ही हुआ करती है।

अभी ऊपर (पूर्वपक्षी) ध्वनिवादी की ओर से यह स्वीकार किया गया है कि व्यञ्जना का विषय अर्थ तीन प्रकार का होता है—(१) रस, (२) वस्तु और (३) अलङ्कार। इन त्रिविध व्यङ्ग्य अर्थों के उदाहरण नीचे क्रमशः दिये जा रहे हैं—

रसव्यञ्जना—यतः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव के द्वारा रस आदि की प्रतीति होती है। ऐसी अवस्था में फिर वह वाच्य कैसे हो सकती है ? (अर्थात् रस काव्योपात्त शब्दों का वाच्य कैसे हो सकता है ?), जैसे कि 'कुमारसम्भव' (३।६८) में—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन' ॥ २८९ ॥

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद्गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाशब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः ।

न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि । यथा—

'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण' ॥ २९० ॥
('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशाब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

'(जिस समय कामदेव ने शिव को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया उस समय) पर्वत-पुत्री (पार्वती) भी विकसित होते हुए बाल कदम्ब के सदृश (रोमाञ्चित) अवयवों के द्वारा (प्रेम-) भाव को व्यक्त करती हुई, चञ्चल नेत्रों से अलङ्कृत (अतः) अत्यधिक आकर्षक मुख से युक्त होकर कुछ तिरछी-सी खड़ी हो गई ॥'

इत्यादि श्लोक में (शिवविषयक) अनुराग से होने वाली जो विशेष प्रकार की अवस्था (अर्थात् अङ्गों का पुलकित होना, नेत्रों की चञ्चलता तथा मुख का साचीकरण) रूप अनुभाव से युक्त पार्वतीरूप विभाव के वर्णनमात्र से ही, (शृंगार के वाचक) किसी शब्द के बिना शृङ्गार की प्रतीति होती है । दूसरे रसों के भी विषय में यही नियम है (वहाँ भी रति या शृङ्गार आदि के वाचक किसी शब्द के उपन्यास के विना ही केवल विभाव आदि के वर्णनमात्र से ही रस की प्रतीति होती है) ।

यह (उपर्युक्त) नियम केवल रस के ही विषय में हो ऐसी बात नहीं है; अपितु वस्तुमात्र (की व्यञ्जना) में भी यही बात देखी जाती है । (अर्थात् जहाँ वस्तु व्यङ्ग्य होती है, वहाँ भी उसके वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता है । विना शब्द के ही व्यङ्ग्य वस्तु की प्रतीति होती है) । जैसे—

'हे धार्मिक, अब आप निश्चिन्त होकर (गोदावरी तट पर) भ्रमण करें, क्योंकि गोदावरी नदी के कछार के कुञ्जों में रहने वाले मतवाले सिंह ने उस कुत्ते को आज मार दिया है (जो आप को परेशान करता था)॥ गाथासप्त० २।७५ ॥

इस गाथा में निषेध का स्पष्ट प्रयोग नहीं है । निषेध का वाचक कोई शब्द भी वहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है । एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति के आधार पर ही वहाँ निषेध की प्रतीति होती है ।

विशेष—यौवन से मतवाली कोई कामिनी अपने प्रेमी से मिलने, उसके साथ विहार करने गोदावरी नदी के कुञ्जों में जाया करती थी । उसी समय एक पुजारी महाशय भी पूजा के निमित्त फूल तोड़ने वहाँ पहुँच जाते थे । एक दिन भगवान् के उस वृद्ध पुजारी ने कामदेव के उन तरुण पुजारियों को कामार्चन में तल्लीन देखा ।

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः' ॥ २९१ ॥

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति।

अब क्या था। उस वृद्ध को भी कुछ मजा आ गया। वह लुक-छिप कर उन दोनों के काम-कृत्यों को देखा करता था। उन लोगों ने इस बुढ़वा को अपने आनन्द मौज में भारी विघ्न समझा। फलतः तरुणी अपना एक पालतू कुत्ता भी साथ ले जाया करती थी। यह कुत्ता भोंक-भोंक कर पुजारी महाराज को दूर किये रहता था। किन्तु पुजारी भी तो पुराना गुरुघण्टाल था। वह जिस किसी तरह वहाँ पहुँच ही जाता था। उस पुराने कामसेवक को इसे देखे विना भला चैन कैसे मिल सकता था? नायिका इस बूढ़े धार्मिक से बचने का अब एक नया तरीका निकाल रही है। एक दिन बड़ी प्रसन्नता के साथ उस धार्मिक से वह कहती है—'हे धार्मिक जी, वह कुत्ता (जो आपको परेशान किया करता था) शेर के द्वारा मार डाला गया है। अतः आप अब निश्चिन्त होकर भ्रमण करें।' वह वाच्य अर्थ है। यह अर्थ विधिरूप है। किन्तु नायिका का अभिप्राय यह है कि कभी भूल कर भी उधर पैर मत रखना, नहीं तो जान खतरे में है। यह अभिप्राय निषेधरूप है। यह निषेध व्यञ्जना के द्वारा ही प्रकट होता है। यह वाक्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसका वाचक कोई शब्द नहीं है।

ऐसी ही बात अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थ के विषय में भी कही जा सकती है। जैसे—

"हे चञ्चल एवं बड़े-बड़े नेत्रों वाली (प्रिये), सम्प्रति सौन्दर्य की कान्ति से दिग-दिगन्तर को पूर्ण कर देने वाले तुम्हारे आनन के मन्द मुसकानयुक्त होने पर भी जो यह समुद्र स्वल्प भी उमड़ नहीं रहा है, इससे मैं समझता हूँ कि यह स्पष्ट ही जलराशि (जाड्य-समूह) है॥"

इत्यादि में 'तन्वी का मुखकमल चन्द्रमा के समान है' इस उपमा अलङ्कार की प्रतीति व्यञ्जना के ही कारण हो रही है (क्योंकि उक्त श्लोक में ऐसे पद-समूह नहीं प्रयुक्त हुए हैं, जिससे कहा जा सके कि यहाँ उपमा उन शब्दों का वाच्य अर्थ है)।

विशेष—लावण्य०—यहाँ 'जलराशि' का श्लेष से 'जडराशि' (जाड्य-समूह) अर्थ है। श्लेष की दृष्टि से ल और ड का अभेद मान लिया जाता है। यहाँ भाव यह है कि—यदि यह पयोधि जड न होता तो पूर्णचन्द्रसदृश तुम्हारे मुख को देख कर इसमें जल-चाञ्चल्यरूप क्षोभ अवश्य होता। यहाँ श्लेष के द्वारा मुख और चन्द्र का साम्य (अर्थात् उपमा) व्यङ्ग्य है।

न चासावर्थापत्तिजन्या अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात्। नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्षाविषयत्वात्। तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षण-प्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो

यह (अर्थात् रस भाव आदि की प्रतीति) अर्थापत्ति से भी नहीं हो सकती; क्योंकि (रसप्रतीति के लिए) अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा नहीं होती है।

टिप्पणी—मीमांसक तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान आदि की भाँति ही अर्थापत्ति नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। किसी वाक्य को सुनने के अनन्तर जब उसका अर्थ ठीक नहीं बैठता है तब वहाँ अर्थापत्ति के द्वारा अर्थसङ्गति कराई जाती है। जैसे—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' अर्थात् 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है।' देवदत्त की पीनता (मोटापा) बिना खाये बन ही नहीं सकती (अनुपपन्न है)। पर इसके साथ यह भी सच है कि वह दिन में खाता ही नहीं है। अतः अर्थ बैठाने के लिए यह कल्पना की जाती है कि—वह रात्रि में भोजन करता होगा। दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की पीनता रात्रि-भोजन के बिना बन ही नहीं सकती (नोपपद्यते)। अतः रात्रि-भोजन की कल्पना कर ली जाती है। यह कल्पना अर्थापत्ति का विषय है। जो बात अर्थात् करके कल्पना के द्वारा ठीक बैठाई जाती है, वह अर्थापत्ति का विषय बनती है। अर्थात् आपड़ना ही अर्थापत्ति है।

अब कुछ विद्वानों का कहना है कि रस की प्रतीति अर्थापत्ति के द्वारा ही हो जाया करेगी। इसके लिए व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इसके उत्तर में ध्वनिवादियों का कहना है कि रस-प्रतीति अर्थापत्ति से नहीं हो सकती है, क्योंकि अर्थापत्ति वहाँ हुआ करती है जहाँ कि वाच्य अर्थ अनुपपद्यमान (अनुभव या संगति विहीन) होता है। अनुपपत्ति के स्थल में ही अर्थापत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है। जैसे कि ऊपर के उदाहरण में दिन में भोजन न करनेवाले देवदत्त की पीनता रात्रि के भोजन के बिना अनुपपद्यमान है। किन्तु इसी तरह काव्य में रस आदि की प्रतीति के अभाव में कोई अर्थ अनुपपद्यमान नहीं होता है। रस आदि की प्रतीति के बिना भी काव्य में अर्थ ठीक बैठ जाता है। ऐसी अवस्था में अर्थापत्ति के द्वारा रस आदि की प्रतीति कैसे मानी जा सकती है ?

टीका—व्यङ्ग्य (रस आदि रूप अर्थ) को वाक्यार्थ (वाक्य का अर्थ) भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि वह (अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ शब्दजन्य बोध में) तृतीय कक्षा (तीसरे क्षण) का विषय है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि में अभिधा के द्वारा पदार्थों (प्रत्येक पद के वाच्यार्थों) का बोध कराया जाता है। यह प्रथम कक्षा या प्रथम क्षण है। इस प्रथम कक्षा के अनन्तर

उपमाऽलङ्कारप्रतिपत्तिरिति—उपमाऽलङ्कारस्य प्रतिपत्तिः = ज्ञानं प्रतीतिरिति यावत्, **व्यञ्जकत्वनिबन्धनी**—व्यञ्जकत्वम् = व्यञ्जनाव्यापारो निबन्धनम् = निमित्तं यस्याः सा तथाभूता, व्यञ्जनाजन्येत्यर्थः॥

निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवावभासते अतो नासौ वाक्यार्थः।

क्रिया और कारक का अन्वय (संसर्ग) रूप वाक्यार्थ उपस्थित होता है। यह वाक्यार्थ ('हे धार्मिक, तुम स्वतन्त्र भ्रमण करो' इत्यादि रूप) विधि का बोध कराता है। यह द्वितीय कक्षा है। पुनः इसके भी बाद ('तुम यहाँ भूलकर भी मत आना' इत्यादि) निषेध रूप जो व्यङ्ग्य अर्थ जाना जाता है, वह तृतीय कक्षा का विषय है। यह निषेध व्यञ्जना वृत्ति के माध्यम से होता है, यह स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है। अतः हम कह सकते हैं कि यह (रस आदि रूप व्यङ्ग्य अर्थ) वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है।

विशेष—दशरूपककार धनञ्जय तथा अवलोककार धनिक रस आदि की प्रतीति को वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) के रूप में मानते हैं। आगे (४।३७) यह बात स्पष्ट की जायगी। मीमांसक भी रस आदि (व्यङ्ग्य) की प्रतीति को वाक्यार्थ ही मानते हैं। ध्वनिवादियों ने मीमांसकों के इस मत का खण्डन किया है। उनका यह खण्डन ही यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा गया है।

वाक्यार्थ-बोध

वाक्यार्थ का बोध कैसे होता है ? इस विषय में मीमांसकों के दो मत हैं—(१) अभिहितान्वयवाद और (२) अन्विताभिधानवाद। अन्विताभिधानवाद भाट्ट मीमांसकों का है। उनके अनुसार वाक्य में आये हुए पद सर्वप्रथम अभिधा-शक्ति के द्वारा अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते हैं। यही पहली कक्षा है। इसके बाद अभिधा के द्वारा उपस्थित हुए पदों के अर्थों का आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के आधार पर परस्पर अन्वय (संसर्ग) होता है। पदों के संसर्ग से एक ऐसे अर्थ का बोधन होता है, जो पदों का अर्थ न होते हुए भी वाक्यार्थ होता है—'विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः'। यह वाक्यार्थ तात्पर्य वृत्ति के द्वारा प्रतीत होता है। यह दूसरी कक्षा है। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी (अभिहितानाम् अन्वयं वदतीति अभिहितान्वयवादी) के अनुसार वाक्यार्थबोध दूसरी कक्षा में होता है। किन्तु प्रभाकर मीमांसक अभिहितान्वयवाद न मान कर अन्विताभिधान (अन्वितानाम् अभिधानम् अन्विताभिधानम्) मानने वाले हैं। वे यह मानते हैं कि अभिधा वृत्ति के द्वारा परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) अर्थ की ही प्रतीति होती है। पद स्वतन्त्ररूप से पदार्थों का बोध न करा कर अन्वित अर्थ का ही बोध कराते हैं। उनके मत से तात्पर्य वृत्ति को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है। ध्वनिवादी का कहना है कि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति द्वितीय कक्षा में हो जाती है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति उसके बाद ही हुआ करती है। व्यङ्ग्यार्थ की यह प्रतीति तृतीय कक्षा (क्षण) में हुआ करती है। ऐसी हालत में व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ कैसे बन सकता है ?

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः। तन्न, स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्, सैव निषेधकक्षा। तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

(इस पर वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ में ही व्यङ्ग्यार्थ का समावेश करनेवाला ध्वनिविरोधी शङ्का प्रस्तुत करता है—)

वाक्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय बनता ही है। देखिये जिन वाक्यों का तात्पर्य वाक्य में प्रयुक्त न किये गये शब्दों के अर्थ में होता है, उन स्थलों में वाक्य का अर्थ तृतीय कक्षा का ही विषय बनता है; जैसे 'विषं भुंक्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' अर्थात् 'चाहे विष खा लो, पर इस (अधम) के घर कभी मत खाना' इसमें 'विषं भुंक्ष्व' अर्थात् 'विष खा लो' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य (पर इसके घर कभी मत खाना इत्यादि) निषेध में है। और, इस स्थल पर व्यञ्जनावादी को भी निषेधरूप वाक्यार्थ मानना पड़ेगा; इसका कारण यह है कि उस (ध्वनिवादी) के अनुसार ध्वनि तो तात्पर्य से पूर्णतः भिन्न है। (अतः यह निषेध ध्वनि का विषय बन नहीं सकता है)।

(ध्वनिवादी का उत्तर—) नहीं, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जब तक द्वितीय कक्षा में वाक्य के अर्थ (वाक्यार्थ) की परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कक्षा का उदय ही नहीं होता है। अतः निषेध रूप अर्थ को भी प्रकट करने वाली यहाँ वही द्वितीय कक्षा ही है (क्योंकि निषेध रूप अर्थ को सुनने के बाद ही 'विष खा लो' इस वाक्य के अर्थ की परिसमाप्ति मानी जाती है)। 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्य में (तत्र) द्वितीय कक्षा में ('विष खा लो' इस प्रकार का) विधि रूप अर्थ लेने पर क्रिया एवं कारक का अन्वय ही नहीं ठीक बनता है। इसका कारण यह है कि प्रकरण के अनुसार यहाँ कहने वाला पिता है और पिता अपने पुत्र को विष-भक्षण का आदेश नहीं दे सकता है।

विशेषः—ध्वनिविरोधी का अभिप्राय यह है कि आप जो यह कहते हैं कि वाक्यार्थ तृतीय कक्षा में जाता ही नहीं है, वह द्वितीय कक्षा में ही परिसमाप्त हो जाता है। ऐसी बात नहीं है। वाक्यार्थ भी तृतीय कक्षा में जाता है। उदाहरण के तौर पर 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादि वाक्य को लिया जा सकता है। यहाँ दो वाक्य हैं—(१) 'विषं भुंक्ष्व' तथा (२) 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (अर्थात् विष खा लो, पर इसके घर मत खाना)। 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्य का तात्पर्य भी दूसरे वाक्य (मा चास्य गृहे भुंक्थाः) के अर्थ में ही है। यह तात्पर्य भी तृतीय कक्षा में ही समाप्त होता है। प्रथम कक्षा में 'विषं भुक्ष्व' इस वाक्य के दोनों पदों (१) 'विषं' तथा (२) 'भुंक्ष्व' के अर्थ (पदार्थ) का बोध होता है। फिर द्वितीय कक्षा में संसर्ग मर्यादा से (अर्थात् अन्वयवश) 'विष खा लो' यह विधिरूप वाक्यार्थ जाना जाता है। पुनः तृतीय कक्षा में 'विष खा लो' यह

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात् ।

तदुक्तम्—'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ॥
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥'

इत्येयं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्-व्यङ्ग्यत्वम् ।

वाक्यार्थ ठीक नहीं बैठता है तब 'पर इसके घर कभी मत खाना' इस निषेध रूप अर्थ में तात्पर्य का निश्चय होता है ।

इस पर ध्वनिवादी के दिये गये उत्तर का अभिप्राय यह है कि—'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि वाक्य में भी वाक्यार्थ की प्रतीति द्वितीय कक्षा में ही हो जाती है । प्रथम कक्षा में 'विषं' तथा 'भुंक्ष्व' पदों के अर्थ उपस्थित होते हैं अर्थात् पदार्थ बोध होता है । फिर द्वितीय कक्षा में सर्वप्रथम 'विष खा लो' इस विधि रूप अर्थ का बोध होता है । किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं बैठता । क्योंकि कोई भी पिता अपने पुत्र को विष खाने का आदेश नहीं दे सकता । अतः (मा चास्य गृहे भुंक्थाः) 'इसके घर मत खाना' इस वाक्य के साथ पूर्व वाक्य की एकवाक्यता से 'इसके घर भूल कर भी मत खाना' इस निषेध में वाक्य का अर्थ (अर्थात् तात्पर्यार्थ) समझा जाता है । जब तक वक्ता का अभिप्राय नहीं ज्ञात हो जाता तब तक तात्पर्यवृत्ति का कार्य (अर्थात् वाक्यार्थ) भी पूर्ण नहीं होता है । अतः यहाँ और अन्यत्र भी सभी स्थलों में द्वितीय कक्षा में ही वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है । इसलिये आपका यह कहना कि 'वाक्यार्थ की परिसमाप्ति तृतीय कक्षा में भी होती है' मान्य नहीं हो सकता है ।

किन्तु रस से युक्त वाक्यों में तो विभाव अनुभाव तथा सञ्चारी भाव का बोध द्वितीय कक्षा में होता है, पर उस कक्षा में रस की प्रतीति होती नहीं है । (रस की प्रतीति तो विभाव आदि के बाद तृतीय कक्षा में होती है, जिसे हम वाक्यार्थ नहीं कह सकते हैं । जैसा कि कहा भी गया है)—

'जब वाक्य अपने अर्थ में पूरी तरह ठीक नहीं बैठता तथा परिसमाप्त भी नहीं हो पाता तब वह (वाक्य) जिस अर्थ तक पहुँच कर समाप्त (विश्रान्त) होता है, उस वाक्य का उसी (परिसमाप्त होने वाले) अर्थ में तात्पर्य मानना समीचीन है । परन्तु जब वाक्य अपने अर्थ में विश्रान्त हो जाता है तथा ठीक बैठ भी जाता है और वाक्य फिर उसके आगे जिस किसी अर्थ में पहुँचता है तो उस (अगले अर्थ) में उस वाक्य की व्यञ्जना से ही स्थिति होती है (अर्थात् अग्रिम अन्तिम अर्थ व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, क्योंकि वाक्यार्थ तो पहले ही विश्रान्त हो चुका होता है)।

इस प्रकार (हमने देखा कि) रस सर्वत्र व्यङ्ग्य (व्यञ्जना के ही विषय) होते हैं । वस्तु और अलङ्कार तो कहीं-कहीं वाच्य होते हैं और कहीं-कहीं व्यङ्ग्य ।

तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। तदुक्तम्—

यत्रार्थः शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।

यथा—'उपोढरागेण' इत्यादि।

उपर्युक्त कथन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विभावादि रूप वाक्यार्थ के विश्रान्त हो जाने पर प्रतीयमान रस व्यङ्ग्य ही है, वाक्यार्थ नहीं। वस्तु तथा अलङ्कार के विषय में दूसरी बात है। वे कहीं व्यङ्ग्य हुआ करते हैं और कहीं वाच्य भी, पर रस सर्वदा व्यङ्ग्य ही होता है। लेकिन वस्तु तथा अलङ्कार के व्यङ्ग्य रूप में होने पर भी जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान होता है, वहीं ध्वनि होगी और स्थानों पर वाच्य के समकक्ष होने पर अथवा वाच्य अर्थ के प्रधान होने पर व्यङ्ग्य अर्थ गौण हो जाता है। अतः ऐसे काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य कहे जाते हैं। जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है—

'जहाँ अर्थ स्वयं अपने को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।' (ध्वन्यालोक १।१३)।

'जहाँ अन्य (अर्थात् अङ्गभूत रस आदि से भिन्न, रस या वस्तु अथवा अलङ्कार) प्रधान वाक्यार्थ हो और उसमें रसादि (रस भाव, तदाभास, भावशान्त्यादि) अङ्ग हों तो उस काव्य में अङ्गभूत रस आदि अलङ्कार (रसवदलङ्कार आदि) के विषय होते हैं। (अर्थात् वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है), यह मेरा मत है।' (ध्वन्यालोक २।५)।

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि में (गुणीभूत व्यङ्ग्य) है।

विशेषः—ध्वनिवादी काव्य के तीन भेद करते हैं—(१) ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम) तथा (३) चित्र (अधम)। काव्य का यह भेद व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर किया गया है। ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है। वह (व्यङ्ग्य अर्थ) वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारयुक्त है। इस (ध्वनि-काव्य) के उदाहरण आगे दिये जायेंगे।

व्यङ्ग्यार्थ के वाच्य से अधिक चमत्कारी न होने पर अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से दबे रहने पर गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम) काव्य होता है। इस तरह के काव्य में वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य गौण रहता है, अथवा कोई एक व्यङ्ग्यार्थ दूसरे व्यङ्ग्यार्थ का अङ्ग हुआ करता है। जैसे (ध्वन्यालोक वृत्ति १।१३)—

'(उदय के समय) राग (ललिमा, अनुराग) को धारण किये हुए शशि

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम्। अविवक्षितवाच्योऽप्य-त्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा। विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः, तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति।

(चन्द्र, शशिनामक नायक) ने निशा (नायिका) के चञ्चल (झिलमिल, इधर-उधर घूमनेवाले) ताराओं (नक्षत्रों, कनीनिकाओं) से युक्त मुख को इस प्रकार ग्रहण किया कि राग (लालिमा, नायिका के हृदयगत अनुराग) के कारण समस्त अन्धकाररूपी वस्त्र के खिसक जाने पर भी उसने (रात्रि या नायिका ने) नहीं देखा।'

यहाँ चन्द्रमा के उदय का वर्णन प्रस्तुत है और यही वाच्यार्थ है। पर व्यङ्ग्यरूप में नायक-नायिका की रति-क्रीडा के श्रीगणेश की भी प्रतीति हो रही है। किन्तु वाच्यार्थ (चन्द्रोदय-वर्णन) ही यहाँ प्रधान है और व्यङ्ग्य अर्थ इसकी अपेक्षा गौण है। अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य है, ध्वनि नहीं।

काव्य का तृतीय भेद है—चित्रकाव्य। चित्रकाव्य (स्फुट) व्यङ्ग्य अर्थ से विहीन रहता है, इसमें शब्द एवं अर्थ का चमत्कार ही विशेष रूप में पाया जाता है। चित्रकाव्य के दो भेद होते हैं—(१) शब्द-चित्र और (२) अर्थ-चित्र। (उदा-हरणार्थ देखिये काव्यप्रकाश १।५)।

(काव्य का प्रथम भेद है—ध्वनि या ध्वनिकाव्य) उस ध्वनि के प्रथमतः दो भेद हैं :—(१) 'विवक्षितवाच्य ध्वनि' तथा (२) 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि'। ('अवि-वक्षितवाच्य ध्वनि' का दूसरा नाम 'लक्षणामूल ध्वनि' तथा 'विवक्षितवाच्य ध्वनि' का दूसरा नाम 'अभिधामूल ध्वनि' भी है। 'लक्षणामूल ध्वनि' में वाच्य विवक्षित नहीं होता है इसलिये उसका नाम 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' रक्खा गया है)। इस (अवि-वक्षितवाच्य ध्वनि) के फिर दो अवान्तर भेद होते हैं—(क) पहला 'अत्यन्त तिर-स्कृत वाच्य' और दूसरा (ख) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। विवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की ही होती है—(अ) 'असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' और (आ) 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य'। जब रस आदि की प्रधानरूप से प्रतीति होती है तब असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। परन्तु जब इन (रस आदि) की किसी वाच्य अथवा व्यङ्ग्य अर्थ के अङ्गरूप में प्रतीति होती है तो रसवद् अलङ्कार होता है।

विशेषः—ध्वनि काव्य के मुख्य दो भेद हैं :—(१) अविवक्षितवाच्य (२) विवक्षितवाच्य। अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की होती है—(क) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य और (ख) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य। विवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की होती है—(अ) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा (ब) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

(१) अविवक्षित वाच्य ध्वनि—अविवक्षित वाच्य ध्वनि वह है जहाँ वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में नहीं होता। वहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर लक्ष्यार्थ का बोध कराता

हुआ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराता है। इसे लक्षणामूल ध्वनि भी कहा जाता है। इसके दो भेद होते हैं—

(क) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य**—जब वाच्यार्थ बाधित होकर तिरस्कृत हो जाता है और लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराता है तब अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है। जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

अर्थात् 'आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय! हे मित्र, सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी होकर (इस संसार में) रहो॥'

कोई परेशान व्यक्ति अपकार करने वाले के प्रति विपरीत लक्षणा से यह कह रहा है। अतः **'उपकृतम्'** आदि का वाच्यार्थ बोधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है; अर्थात् 'उपकृतम्' का लक्ष्यार्थ होता है—'अपकृतम्। इसी प्रकार 'सुजनता' का लक्ष्यार्थ 'दुर्जनता' हो जाता है। अपकार की बहुलता ही यहाँ व्यङ्ग्य है।

(ख) **अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य**—जहाँ वाच्य अर्थ बाधित होकर अपने से सम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित करता है, वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

अर्थात् 'मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, इसलिए अपनी बुद्धि को ठीक करके (जरा सँभल कर) रहना॥'

यहाँ पर 'वच्मि' का अर्थ है 'कहना' किन्तु जब कहने वाला कह ही रहा है, तब 'कहता हूँ' (वच्मि) यह कथन व्यर्थ हो जाता है। अतः उसका लक्ष्यार्थ लिया जाता है—वच्मि = उपदिशामि (उपदेश देता हूँ)। इस लक्ष्यार्थ के द्वारा हितकारिता व्यङ्ग्यार्थ है।

(२) **विवक्षितवाच्य**—अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित (अर्थात् वाच्यतावच्छेदकरूप से अन्वय योग्य) होने पर भी अपने से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराने में तत्पर होता है, वह ध्वनिकाव्य का अभिधामूलक ध्वनि या विवक्षितवाच्य ध्वनि अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि होता है। इसके भी दो भेद हैं—

(अ) **असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**—जहाँ वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्य अर्थ तक पहुँचने का क्रम प्रतीत नहीं होता वहाँ यह ध्वनि होती है। जहाँ रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ यह ध्वनि होती है।

(ब) **संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**—इस ध्वनि के कई भेद होते हैं। इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम स्पष्टतः परिलक्षित हुआ करता है। (विशेष विवरण के लिए काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण देखें)॥

अत्रोच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥ ३७ ॥

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु, अश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्वा-

---

ध्वनिवादी के इस पूर्व पक्ष का—जिसके अनुसार रस व्यङ्ग्य है, तथा वह व्यञ्जनाशक्तिगम्य है—खण्डन करते हुए धनञ्जय निम्नकारिका में अपने मत का अवतारण कर रहे हैं—

ग्रन्थकार धनञ्जय का अभिमत—(रस आदि तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध)

जिस प्रकार (शब्दों के द्वारा) वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धि में वर्तमान क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है, उसी प्रकार अन्य (अर्थात् विभाव आदि) से युक्त होकर स्थायी भाव (रति आदि) भी वाक्यार्थ होता है ॥ ३७ ॥

विशेषः—इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्य में कहीं वाच्या अर्थात् श्रूयमाणा और कहीं 'द्वारं-द्वारं' आदि अश्रूयमाण क्रियावाले वाक्यों में प्रकरणादिवश बुद्धिस्थ क्रिया ही अन्य कारकों से सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ रूप में प्रतीत होती है । इसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव आदि के साथ मिल कर रत्यादि स्थायी भाव ही वाक्यार्थ रूप से प्रतीत होता है । विभाव आदि पदार्थस्थानीय और उनसे संसृष्ट रति आदि वाक्यार्थस्थानीय हैं । अर्थात् पदार्थसंसर्गबोध के समान तात्पर्या शक्ति से ही उनका बोध हो जाता है । अतः उनके लिये व्यञ्जना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार रति आदि भाव या रस काव्य के वाक्यार्थ ही होते हैं ।

'जैसे 'गाय लाओ' आदि जिनमें (अभ्याज अर्थात् लाओ) क्रियापद प्रयुक्त होकर सुनाई पड़ते हैं तथा 'द्वार-द्वार को' इत्यादि जिनमें (पिधेहि = बन्द करो आदि) अप्रयुक्त होने के कारण क्रियापद सुनाई नहीं पड़ता—इन दोनों तरह के लौकिक वाक्यों में क्रमशः अपने (अर्थात् क्रिया के) वाचक शब्द के प्रयोग से अथवा प्रकरण आदि के कारण बुद्धिस्थ क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है । ठीक इसी प्रकार काव्यों के विषय में भी होता है । जैसे—

कहीं तो 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि स्थलों में स्थायी भाव के वाचक (प्रीति आदि) पदों का प्रयोग होने से और कहीं प्रकरण आदि के आधार पर अथवा काव्य में वर्णित (किसी रस के साथ) नियत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव के साथ

चेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः।

(स्थायी भाव का) अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सहृदय जनों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव साक्षात् रूप से स्फुरित होने लगता है। स्फुरित होता हुआ यह स्थायी भाव (काव्य में ग्रथित) भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा वर्णित अपने-अपने विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा संस्कारपरम्परा से पुष्ट होता हुआ (काव्य में) वाक्यार्थ होता है।

विशेषः—धनञ्जय और धनिक ने यह दिखलाया है कि रति आदि भाव अथवा रस काव्य में वाक्यार्थ ही होते हैं। उनके लिए व्यञ्जना शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इन लोगों ने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए लौकिक वाक्यों का उद्धरण दिया है। मीमांसक यह मानता है कि वाक्य के अर्थ में क्रिया की ही प्रधानता होती है। कारकों से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। वाक्य सुनने वाले व्यक्ति को क्रिया का ज्ञान दो प्रकार से होता है—(१) कहीं-कहीं वाक्य में ही क्रिया का प्रयोग सुन कर उसका बोध होता है; जैसे 'गामभ्याज' (अर्थात् 'गाय लाओ')। यहाँ क्रिया 'अभ्याज' पद की वाच्य है। और (२) कहीं-कहीं क्रिया का प्रयोग वाक्य में नहीं किया जाता। ऐसे स्थलों में श्रोता को प्रकरण आदि के द्वारा क्रिया का ज्ञान हो जाता है; जैसे 'द्वारं-द्वारं' (अर्थात् द्वार-द्वार को)। ऐसे स्थलों पर श्रोता प्रकरण आदि के द्वारा क्रिया का बोध कर लेता है। वह 'द्वारं द्वारं' सुनने के बाद 'बन्द करो' इस क्रिया का अध्याहार कर लेता है। इस प्रकार के दोनों ही स्थलों में कारक से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्य का अर्थ मानी जाती है। प्रथमतः पदों का बोध होता है। फिर पदों से अन्वित क्रिया का अर्थपरिज्ञान होता है। यही वाक्यार्थ है। अभिहितान्वयवादी मीमांसक ऐसा ही वाक्यार्थ मानते हैं।

ठीक ऐसी ही बात काव्य में भी जाननी चाहिये। उक्त वाक्यों में क्रिया के बोध के ही समान स्थायी भाव के बोध में भी दो अवस्थायें हो सकती हैं—(१) कभी-कभी तो स्थायी भाव शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किये जाते हैं; जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि। इस वाक्य में 'प्रीति' शब्द के द्वारा रति भाव का परिज्ञान होता है। किन्तु (२) कभी-कभी स्थायी भाव शब्दों के द्वारा नहीं कहा जाता है। ऐसे स्थलों में वह (रति भाव) अनुराग आदि के वर्णन के प्रसङ्ग से श्रोता के मन में स्फुरित होता है अथवा 'अमुक-अमुक स्थायी भाव के अमुक-अमुक विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव होते हैं। इस नियम को जानने वाले श्रोता के चित्त में उन-उन विभावादि को पढ़ कर, उसके चित्त में, वे-वे स्थायीभाव स्फुरित हो जाते हैं। विभावादि के द्वारा स्फुरित तथा पुष्ट हुआ यह रति भाव ही शृङ्गार आदि रस कहलाता है। इस तरह काव्य में वर्णित विभाव आदि का बोध पदार्थ स्थानीय है और उन विभाव आदि से अन्वित स्थायी भाव की प्रतीति वाक्यार्थ स्थानीय है। धनञ्जय एवं धनिक का कहना है कि वाक्यार्थबोध के समान

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्—कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। तथा हि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते।

तात्पर्यवृत्ति से ही विभाव आदि के द्वारा स्थायी भाव (अर्थात् रस) की प्रतीति हो जाती है। अतः उसके लिये अलग से व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है।

संस्कारपरम्परया—इसका अभिप्राय यह है कि काव्योपात्त शब्दों के द्वारा परिज्ञात विभाव आदि का ज्ञान तो तीसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में वे विभाव आदि के पोषक कैसे बन सकते हैं? अतः यह मानना पड़ेगा कि वह विनष्ट होता हुआ विभाव आदि का ज्ञान अपना संस्कार छोड़ जाता है। संस्कारों की यह परम्परा आगे भी चलती रहती है। उसी संस्कार-परम्परा से रति आदि भाव पुष्ट हुआ करते हैं॥

पूर्वपक्षी—जो पदार्थ (पदों का अर्थ) नहीं है, वह वाक्यार्थ कैसे बन सकता है? (क्योंकि पदों का अर्थ ही संसृष्ट होकर वाक्यार्थ बनता है। रस आदि पदों के अर्थ तो हैं नहीं, अतः वे वाक्यार्थ कैसे हो सकते हैं?)।

सिद्धान्ती—आपका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान कार्य (प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप प्रयोजन) में हुआ करती है (अर्थात् जैसे अभिधा शक्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ में होता है, लक्षणा शक्ति का पर्यवसान लक्ष्यार्थ में हुआ करता है, वैसे ही तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वक्ता के कार्य में होता है)। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि संसार में जितने भी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों अथवा वैदिक भाषा के, उन सब का तात्पर्य कार्य में ही होता है। यदि किसी वाक्य का तात्पर्य कार्य में न हो तो वह ग्राह्य न होगा, उपादेय न हो सकेगा; जैसे पागलों का प्रलाप ग्राह्य नहीं होता। (निरर्थक शब्द वाक्य न होकर ध्वनि-समूह हो सकते हैं)।

काव्य में प्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति का विषय है प्रतिपादक (विभाव आदि) तथा प्रतिपाद्य (रति आदि स्थायी भाव)। इन (प्रतिपाद्य-प्रतिपादक) का अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निरशय आनन्दानुभूति के अलावा दूसरा कोई प्रयोजन दिखलाई नहीं देता है। अतः अपने निरतिशय आनन्द की अनुभूति कराना ही काव्य के शब्दों का प्रयोजन निश्चित किया जाता है। (काव्य में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य इसी

न चापदार्थस्येति। पदानां समूहो वाक्यम्। संसृष्टानां पदानामर्थो वाक्यार्थ इति स्थितिः। अपदार्थो रसः पदार्थत्वाभावे कथं वाक्यार्थो भवितुं शक्नोतीत्याशङ्का। अत्रोत्तरयति—**कार्यपर्यवसायित्वादिति**। तात्पर्यशक्तिः कार्यपर्यवसायिनी। यथाऽभिधा वाच्यार्थे विरमति लक्षणा च लक्ष्यार्थे तथैव तात्पर्यशक्तिरपि प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपे प्रयोजन एव विरमतीति भावः। **अतत्परत्वे**=अकार्यपरत्व इत्यर्थः [illegible] तात्पर्यार्थ इति

तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

आनन्दानुभूतिरूप प्रयोजन में ही है)। इस प्रकार की आनन्दानुभूति का एकमात्र निमित्त है—विभाव आदि के संसर्ग से युक्त स्थायी भाव। अतः काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की जो प्रतिपादक शक्ति (अर्थकथन की शक्ति, तात्पर्य शक्ति) है, वह भिन्न-भिन्न रसों के द्वारा आकृष्ट की जाती है (अर्थात् कार्यरूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने के लिये बाध्य करता है) और उन-उन रसरूप स्वार्थ के लिये अपेक्षित जो विभाव आदि हैं उनके प्रतिपादन के द्वारा उस (तात्पर्य शक्ति) की विश्रान्ति अपने (अर्थात् तत्तत् रस के) स्वरूप में कर ली जाती है (अर्थात् काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की तात्पर्य-शक्ति भिन्न-भिन्न रसों का प्रतिपादन करके ही पर्यवसित होती है)। वाक्यार्थावगम की इस प्रक्रिया में (तत्र) विभाव आदि पदार्थों (पदों के अर्थों) के स्थान पर हैं और रति आदि भाव वाक्यार्थस्थानीय (अर्थात् वाक्यार्थ) हैं। ऐसा यह काव्य-वाक्य ही है जिसके ये दोनों (विभाव आदि तथा रति आदिभाव) क्रमशः पदार्थ तथा वाक्यार्थ हैं (अर्थात् विभाव पदार्थ हैं और रति आदि स्थायी भाव वाक्यार्थ हैं)।

विशेषः—अन्वयव्यतिरेक०—एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु का होना 'अन्वय' है तथा एक के अभाव में दूसरी भी वस्तु का न रहना 'व्यतिरेक' है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयस्तदभावे तदभावे व्यतिरेकः।

स्वानन्दोद्भूतिरेव—अपने आनन्द की अनुभूति कराना ही काव्य के शब्दों का प्रयोजन है। यही काव्य-वाक्य का कार्य, तात्पर्य-विषय एवं वाक्यार्थ है। आनन्द की यह अनुभूति ही रस है। विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव से अन्वित स्थायी भाव उस आनन्द का निमित्त है। अतः विभाव आदि पदार्थ हैं तथा उनसे संसृष्ट स्थायी भाव वाक्यार्थ है।

पूर्वपक्षी—यदि काव्य आनन्दोद्भूति (रूप रस) का निमित्त है, तब तो यह भी

तन्त्रवार्तिके। **काव्यशब्दानाम्** = काव्योपात्तशब्दानामित्यर्थः, **प्रवृत्तिविषययोः**—प्रवृत्तेर्विषययोः, **प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः**—काव्ये स्थायी वा रसो वा प्रतिपाद्यो विभावादिश्च तत्प्रतिपादकस्तयोः, **अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्** = साहचर्यनियमेनेत्यर्थः। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वेत्यन्वयस्तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः। विभावस्थायिनोर्निरतिशयसुखास्वादेन सहैव स्थितिरथवा तादृशसुखास्वादस्य विभावस्थायिभ्यां सहैव स्थितिर्भवतीति निर्गलितार्थः॥

कार्यत्वेनावधार्यते = काव्यशब्दानां कार्यत्वेन निश्चीयते। **तदुद्भूतिनिमित्तत्वम्**—तस्य = निरतिशयानन्दस्य उद्भूतिनिमित्तत्वम् = उद्भूतिकारणत्वम्॥

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः विशिष्ट-विभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः। तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

गीत आदि के समान (बिना अर्थ-ज्ञान के ही) आनन्दानुभूति का कारण बन सकता है। ऐसी अवस्था में काव्य तथा आनन्दानुभूतिरूप रस में वाच्य-वाचक-भाव का कोई उपयोग न होगा।

सिद्धान्ती—नहीं, यह आशङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि जो व्यक्ति विशिष्ट विभाव आदि सामग्री को जानते हैं तथा उस प्रकार की रति आदि की भावना से युक्त हैं, केवल उन्हीं सहृदयों के हृदय में काव्य को सुन कर तत्तत् रसपरक आनन्द की अनुभूति होती है। इस तरह इस कथन से (अरसिकों को भी काव्य से वाच्य-वाचक-भाव के द्वारा रसास्वाद रूप आनन्दानुभूति होने लगेगी, इस) इस अतिप्रसङ्ग का भी निराकरण हो जाता है।

विशेषः—रसानुभूति के दो कारण हैं—(क) तत्तत् विभाव आदि सामग्री का ज्ञान और (ख) सहृदय के हृदय में रस के आस्वाद के योग्य रति आदि की वासना का होना। काव्योपात्त शब्दों से विभाव आदि का परिज्ञान होता है। अतः काव्य-शब्द विभाव आदि के वाचक हैं और विभाव आदि उनके वाच्य हैं। यही कारण है कि रसानुभूति में वाच्य-वाचक-भाव का उपयोग है। संगीत में राग, लय आदि से भी आनन्द की अनुभूति होती है। वहाँ कौन शब्द वाचक है और उनका वाच्य क्या है? इसकी अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी बात काव्य में नहीं होती है। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्व की बात तो यह है कि काव्य-श्रवण-काल में शृङ्गार आदि रस की अनुभूति उन्हीं को होती है, जिनका हृदय रति आदि की वासना से भावित रहता है। अतः केवल अर्थ-परिज्ञान मात्र से रसास्वादन नहीं होता। रसास्वादन के लिये व्यक्ति का सहृदय होना भी आवश्यक है। इस प्रकार विभाव आदि सामग्री का ज्ञान तथा रस के आस्वाद के योग्य, सहृदय में, रति आदि की वासना का होना—ये दोनों ही बातें मिलकर रसास्वाद का कारण बनती हैं।

अनेन—रति आदि की भावना से भावित सहृदय जनों को ही काव्य से आनन्द की अनुभूति होती है, ऐसा मानने से।

अतिप्रसङ्गः—जो सहृदय नहीं हैं उन्हें भी रसास्वाद होता है, यह मानना अभीप्सित नहीं है। यदि हम यह मान लें कि वाच्य-वाचक-भाव के द्वारा रस का आस्वादन होता है, तब तो असहृदय (अरसिक) को भी होने लगेगा, यही अतिप्रसङ्ग है।

नचैवमिति। एवं सति=काव्यमानन्दोद्भूतिनिमित्तमिति स्वीकृते सतीति। **अतिप्रसङ्गः**=अरसिकजना अपि काव्येन वाच्यवाचकभावद्वाराऽऽनन्दमनुभविष्यन्तीतिरूपोऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः, **निरस्तः**=अपास्तः॥

ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः, यथावोचाम काव्यनिर्णये—

'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १ ॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥

इस प्रकार के वाक्यार्थ का निर्णय हो जाने पर सबके द्वारा जानी गई (परिकल्पित) अभिधा आदि (अर्थात् अभिधा, तात्पर्यशक्ति तथा लक्षणा) के द्वारा ही सब प्रकार के वाक्यार्थ का बोध हो जाने से (अर्थात् रस आदि भी वाक्यार्थ ही हैं और उनका बोध भी अभिधा आदि से ही हो जाने से) अन्य शक्ति (व्यञ्जना) की कल्पना (रस आदि के लिये) केवल प्रयासमात्र है, उसका कोई प्रयोजन नहीं है ? इसी बात को हमने अपने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ में बतलाया भी है—

'व्यञ्जनीय (अर्थात् व्यङ्ग्य कहलाने वाला) अर्थ तात्पर्यरूप अर्थ से अलग नहीं होता। अतः ध्वनि (अर्थात् व्यञ्जना नामक वृत्ति) नहीं होती (और ध्वनि नामक कोई काव्य भी नहीं होता है)।'

विशेषः—ईदृशि—सारे वाक्य काव्यपरक होते हैं। कार्य का बोध तात्पर्य शक्ति से ही हो जाता है। तात्पर्य शक्ति से परिज्ञायमान अर्थ वाक्यार्थ ही कहलाता है। रस भी काव्योपात्त वाक्यों का कार्य है। अतः उसका भी बोध तात्पर्य शक्ति से हो जाता है। इसलिये रस भी वाक्यार्थ ही है—ऐसा मान लेने पर।

(धनिक के सिद्धान्त पर ध्वनिवादी का आक्षेप)—

यदि ध्वनि (व्यञ्जना) न हो तो जहाँ उच्चरित (अतः श्रुत) शब्दों के अभिधेय अर्थ में तात्पर्य नहीं होता, उस अन्योक्तिरूप वाक्य के विषय में आप क्या कहेंगे ? (जैसे 'कस्त्वं भोः, ...मां विद्धि शाखोटकम्, पूर्वोक्त उदा० २१९ इत्यादि के विषय में) ॥१॥

इसी तरह जब पिता आदि कोई व्यक्ति (पूर्व) दूसरे व्यक्ति पुत्र आदि से यह कहता है कि तुम 'विष खा लो' ('पर इसके घर भोजन मत करो' अर्थात् 'इसके घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है' इत्यादि) प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ की प्रधानता के कारण यहाँ ध्वनि ही होगी, इसे कौन रोक सकता है ? ॥२॥ (इसके

ईदृशीति। ईदृशि=पूर्वं विवेचिते, **वाक्यार्थनिरूपणे**—वाक्यार्थनिर्णये जाते सति, **परिकल्पितेत्यादिः**—परिकल्पिताः=सकलजनप्रसिद्धाः अभिधादिशक्तयः=अभिधातात्पर्यालक्षणाख्याः शक्तयस्तासां वशेन, **शक्त्यन्तरपरिकल्पनम्**=शक्तित्रयातिरिक्तव्यञ्जनाशक्तिकल्पनम्, **प्रयासः**=केवलमायास एवेत्यर्थः ॥

तात्पर्येति। व्यञ्जनीयस्य=व्यञ्जनागम्यस्यार्थस्येत्यर्थः, **तात्पर्यानतिरेकात्**—तात्पर्यरूपादर्थादभिन्नादित्यर्थः। **अश्रुतार्थतात्पर्ये**—न विद्यते श्रुतस्य=प्रयुक्तस्य शब्दस्य अर्थे=वाच्यार्थे तात्पर्यं यस्य तस्मिन्, **अन्योक्तिरूपिणि**=अन्योक्तिस्वरूपे, किमुक्तं स्यादिति ॥

ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

अतिरिक्त ध्वनि और तात्पयार्थ में स्पष्ट भेद भी है—) यदि वाक्य स्वार्थ (अपने अर्थ) में विश्रान्त (अर्थात् समाप्त) होकर भी किसी दूसरे अर्थ का बोधक होता है तो वहाँ दूसरा अर्थ ध्वनि (व्यङ्ग्य)होता है। किन्तु यदि वाक्य अपने अर्थ (स्वार्थ) में विश्रान्त नहीं होता तथा (अपनी विश्रान्ति के लिये) किसी अन्य अर्थ का भी बोध करा देता है तो वहाँ दूसरा अर्थ तात्पर्यार्थ हुआ करता है।

विशेष—किमुक्तं स्यादिति—ध्वनिवादी के तर्क इस प्रकार हैं—(क)—तात्पर्य का अर्थ होता है वक्ता का अभिप्राय। 'कस्त्वं भोः···मां विद्धि शाखोटकम्' आदि ऊपर के उदाहरण में प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि अभिप्राय किसी चेतन में ही हो सकता है जड में नहीं। शाखोटक तो वृक्ष अतः जड है। इस लिये वहाँ ध्वनि ही होगी तात्पर्यार्थ नहीं होगा। (ख)—इसके अतिरिक्त ध्वनि और तात्पयार्थ में स्पष्ट भेद भी है। अतः दोनों एक नहीं बन सकते हैं। भेद के स्पष्टीकरण के लिये देखिये हिन्दी अनुवाद।

(धनिक की ओर से ध्वनिवादी की आशङ्का का समाधान आगे किया जा रहा है—)

नहीं, आपका कथन समीचीन नहीं है; क्योंकि किसी भी वाक्य के अर्थ की विश्रान्ति (बीच में ही) असम्भव है (अर्थात् जब तक कि उस वाक्य के समस्त तात्पर्यों का बोध नहीं हो जाता तब तक उसकी विश्रान्ति नहीं होगी) ॥३॥ तात्पर्य की विश्रान्ति केवल इतने (अर्थात् नियत अर्थ) में ही हो जाती है, ऐसा नियम किसने बना दिया है? सच तो यह है कि कार्य (प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप प्रयोजन) का जब तक बोध नहीं हो जाता तब तक तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है; क्योंकि तात्पर्य कोई नपी-तुली वस्तु नहीं है। (जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि तात्पर्य का विषय यहीं तक है आगे नहीं) ॥४॥

ध्वनिवादी की आशङ्का—

'हे धार्मिक, निःशङ्क होकर भ्रमण करो' यहाँ तो (भ्रमि क्रिया के द्वारा) भ्रमण का ही प्रतिपादन किया गया है। यह वाक्य तो निषेध-वाचक पद से रहित है। ऐसी अवस्था में यह (वाक्य) भ्रमण के निषेध रूप अर्थ तक कैसे जा सकता है?

ध्वनिश्चेति। वाक्यं स्वार्थविश्रान्तं स्वार्थे परिसमाप्तं सदर्थान्तराश्रयमर्थान्तरबोधकं स्यात्तर्हि ध्वनिस्तत्र भवति, यदि वाक्यं स्वार्थेऽविश्रान्तं सदर्थान्तरबोधकं स्यात्तदा तत्रार्थान्तरस्तात्पर्यार्थ एव भवतीत्याशयः॥

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥' इति ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः ? काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

(अर्थात् भ्रमण के निषेध का बोध कैसे करा सकता है ? ध्वनिवादी के यहाँ तो निषेधरूप अर्थ व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत हो जाता है ॥५॥

(ध्वनिवादी के इस कथन पर धनिक का उत्तर इस प्रकार है—)

यदि 'भ्रम धार्मिक' आदि में (श्रोता धार्मिक की) आकांक्षा पूरी हो जाने के कारण (तुम्हारे अनुसार) तात्पर्य (अर्थात् प्रतिपाद्य) अर्थ की विश्रान्ति मानी जाती है, तो कहने वाले (वक्ता) के अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति न होने के कारण यहाँ तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों नहीं मानी जाती ? (अर्थात् वक्ता की दृष्टि से तो यहाँ तात्पर्य की विश्रान्ति अभी हुई नहीं है । कहने वाली नायिका कुलटा है । अतः उसका अभिप्राय धार्मिक के घूमने में नहीं, अपितु घूमने के निषेध में है । इसलिए तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति इस वाक्य में भी तब तक नहीं होती जब तक कि भ्रमण के निषेधरूप अर्थ का बोध नहीं हो जाता) ॥६॥

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि सभी लौकिक या पौरुषेय वाक्य विवक्षा के अधीन हुआ करते हैं (अर्थात् मानव कुछ कहने की इच्छा से ही वाक्य का प्रयोग करता है) । अतः वक्ता के अभिप्रेत अर्थ में ही काव्य (वाक्य) का तात्पर्य मानना उचित है ॥७॥

विशेषः—जैसे लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है । ठीक ऐसी ही बात काव्य में भी समझनी चाहिये । काव्य में रस आदि अर्थ (जो ध्वनिवादी के अनुसार व्यङ्ग्य होते हैं) काव्य या कवि के अभिप्रेत हैं, अतः वे तात्पर्यार्थ ही हैं। इसलिये उनके लिये व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है ।

धनिक के मत का उपसंहार

इस तरह रस आदि का काव्य के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध नहीं है (न तो काव्य रस आदि का व्यञ्जक ही है, और न रस आदि उसके व्यङ्ग्य ही) । तो फिर इन दोनों में कौन-सा सम्बन्ध है ? भाव्य-भावक-सम्बन्ध है । काव्य (रस आदि का) भावक (भावना अथवा आस्वादन कराने वाला) है और रस आदि भाव्य

भ्रम धार्मिक इति । निर्व्यावृत्ति = निषेधवाचकपदविरहितमित्यर्थः, वाक्यं कथं **निषेधमुपसर्पति** = निषेधरूपमर्थमवबोधयति ? मम मते तु व्यञ्जनावृत्त्या निषेधरूपोऽर्थोऽवबुध्यत इति ध्वनिवादिनां मतमिति ॥

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्—भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्। किञ्च मा चान्यत्र तथाऽस्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात्। तदुक्तम्—

'भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥' इति।

(जिनकी भावना करायी जाती है, या जिनका आस्वादन कराया जाता है, ऐसे) हैं। वे (रति आदि भाव अथवा रस) सहृदयजनों के चित्त में स्वभावतः (सर्वदा) विद्यमान रहते हैं। उन-उन रसों के विशेष प्रकार के विभाव आदि का वर्णन करने वाले काव्य उन (रति आदि भाव) की भावना (चर्वणा, आस्वादन) करा देते हैं।

विशेषः—भावकेषु—धनिक ने काव्य तथा सहृदय दोनों को भावक कहा है। रति आदि भावों की भावना (चर्वणा, आस्वादन) कराने के कारण काव्य भावक है। सहृदय रति आदि की भावना करने वाले हैं, अतः भावक कहलाते हैं।

पूर्वपक्षी—अन्यत्र (अर्थात् व्याकरण आदि के) दूसरे शब्दों में भाव्य-भावक रूप सम्बन्ध तो होता नहीं, इसलिये काव्य के शब्दों में भी वह सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती—नहीं, आपका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भावना के रूप में क्रिया को मानने वाले (मीमांसकों) ने अन्यत्र ('स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यों में) भी (वाक्यों में) भाव्य-भावकरूप सम्बन्ध माना ही है। और इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि चाहे अन्यत्र भाव्य-भावक सम्बन्ध भले ही न हो, किन्तु अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह सम्बन्ध काव्य में माना ही जाता है। इस बात का समर्थन (नाट्यशास्त्र ७।३) में किया भी गया है—

'यतः सामाजिकों को ये (चिन्ता आदि) भाव के अभिनय से सम्बन्धित रसों की भावना (चर्वणा, आस्वादन) कराते हैं, अतः नाट्य-प्रयोक्ता जनों के द्वारा ये भाव कहे गये हैं ॥'

विशेषः—भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकारात—भाट्ट मीमांसकों के अनुसार क्रिया का अर्थ है— भावना। इनके अनुसार 'स्वर्गकामो यजेत' अथवा 'पुत्रकामो यजेत' अर्थात् 'स्वर्ग की कामनावाला याग से स्वर्ग को भावित करे' 'पुत्र की कामनावाला याग से स्वर्ग को भावित करे' इन वाक्यों के द्वारा याग में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति याग

न चान्यत्रेति। **अन्यत्र**=अन्येषु शास्त्रेषु, **तथा भाव्यम्**=भाव्यभावकसम्बन्धाभावेन भाव्यम्, **भावनाक्रियावादिभिः**=क्रियां भावनापदेन वादिभिर्मीमांसकैरित्यर्थः, **तथाङ्गीकृतत्वात्**=भाव्यभावकसंबन्धस्य स्वीकृतत्वात। **अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्**—यत्र यत्र काव्यरसचर्वणा तत्र तत्र काव्यशब्दोपस्थितिरित्यन्वयः यत्र यत्र काव्यशब्दोपस्थित्यभावस्तत्र तत्र काव्यरसचर्वणाभाव इति व्यतिरेकोऽत्रबोध्यः ॥

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत्? लोके तथाविध-चेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूत-चेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः। यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः।

से स्वर्ग को भावित करता है। यहाँ याग-क्रिया भावक है और स्वर्ग भाव्य। अतः यह नहीं कह सकते कि भाव्य-भावक-सम्बन्ध अन्य शास्त्रों के द्वारा अनुमोदित नहीं है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्—जहाँ-जहाँ काव्य-रस की चर्वणा होती है, वहाँ-वहाँ काव्य शब्द अवश्य ही उपस्थित होते हैं (अन्वय); तथा जहाँ-जहाँ काव्य-शब्दों का अभाव हुआ करता है, वहाँ-वहाँ काव्य-रस की चर्वणा का भी अभाव होता है (व्यतिरेक)। इस अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध से काव्य के शब्दों को भावक माना जाता है और रस आदि को भाव्य॥

पूर्वपक्षी—(सभी शब्द अपने सङ्केतित अर्थ के ही बोधक हुआ करते हैं, जिन शब्दों का जिन अर्थों के साथ सम्बन्ध ज्ञात है वे शब्द उन्हीं अर्थों के बोधक हुआ करते हैं—यह नियम है)। किन्तु काव्य में प्रयुक्त शब्दों का रति आदि स्थायी भावों के साथ सङ्केत-ग्रह नहीं किया गया है। (यह नहीं बतलाया गया है कि इन-इन शब्दों का स्थायी भावों के साथ सम्बन्ध है); अतः उन शब्दों से (रति आदि) स्थायी भावों का बोध कैसे होगा ?

सिद्धान्ती—लोक में रति आदि के कारण होनेवाली (तथाविध) चेष्टाओं से युक्त स्त्री-पुरुषों में (उन-उन चेष्टाओं का) रति आदि स्थायी भावों के साथ अविना-भाव-सम्बन्ध (कभी न टूटने वाला सम्बन्ध) देखा जाता है। यहाँ काव्य में भी जब कुछ वैसा ही वर्णन किया जाता है, तब रति आदि भावों के बिना न रह सकने-वाली जो चेष्टाएँ (अर्थात् अनुभाव) हैं उनके वाचक शब्द सुने जाते हैं तथा उन शब्दों के वाच्य अर्थ (अर्थात् चेष्टाओं) के साथ निश्चित रूप से सर्वदा रहने के कारण लक्षणा के द्वारा रति आदि भावों की प्रतीति होती है। काव्य रस की भावना कैसे कराता है, यह आगे बतलायेंगे।

विशेष—पूर्वपक्षी का भाव यह है कि काव्योपात्त पदों का रति आदि स्थायी भावों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः काव्य-शब्द रति आदि भावों का बोध नहीं कराएँगे ? क्योंकि यह नियम है कि संसार के सारे शब्द उन्हीं अर्थों को बतलाते हैं जिनके साथ उनका सम्बन्ध बतला दिया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि लोक में हम दो प्रेमियों को देखते हैं। वे समय पाकर भिन्न-भिन्न कामचेष्टाओं को करते हैं। इन काम-चेष्टाओं को देख कर हम उनके परस्पर प्रेम को भी जान लेते हैं।

कथं पुनरिति। तथाविधचेष्टादि०—तथाविधाः = रत्यादिजन्याः चेष्टाः = अनुभावा इत्यर्थः तताभिर्युक्ताः स्त्रीपुंसादयस्तेषु, तासां चेष्टानामिति शेषः, **रत्याद्यविनाभावदर्शनात्** = रत्यादिभिः सह नियतसम्बन्धदर्शनादित्यर्थः, **इहापि** = काव्येऽपि, **लाक्षणिकी** = लक्षणाजन्येति यावत्॥

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥ ३८ ॥
द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९ ॥

क्योंकि जहाँ कामचेष्टाएँ हुआ करती हैं वहाँ अनुराग अवश्य होता है अथवा जहाँ अनुराग होता है वहाँ ही काम-चेष्टाएँ हुआ करती हैं। ठीक ऐसी ही बात काव्य के विषय में भी कही जा सकती है। काव्य में तत्तत् स्थायी भावों की चेष्टाएँ उपनिबद्ध की जाती हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द इन चेष्टाओं के वाचक हैं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दों के सुनने से चेष्टाओं की (अर्थात् अनुभावों की) प्रतीति होती है। ये चेष्टाएँ रति आदि स्थायी भावों के बिना हो नहीं सकतीं। अतः इनके द्वारा रति आदि स्थायी भावों का बोध करा दिया जाता है। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दों से उनके अभिधेय चेष्टा आदि से सम्बद्ध रति आदि की प्रतीति हो जाती है। रति आदि का यह बोध यहाँ लक्षणा के द्वारा होता है, यह प्रतीति लाक्षणिकी (लक्षणाजन्य) है ॥

रस का आश्रय

वह (अर्थात् विभाव आदि के द्वारा उद्भावित रति आदि स्थायी भाव) ही रस होता है; क्योंकि उसका आस्वादन किया जाता है। (जिसका आस्वादन किया जाता है उसे ही रस कहते हैं—रस्यते आस्वाद्यते इति रसः)। यह रस रसिक (सामाजिक सहृदय) में ही रहता है; इसका कारण यह है कि उस समय (अर्थात् रस-प्रतीति के समय) रसिक ही वर्तमान रहता है। रस की यह प्रतीति अनुकार्य (राम, दुष्यन्त आदि) के हृदय में नहीं होती है; क्योंकि उनकी स्थिति तो भूतकाल में थी (काव्य-नाटक के समय में नहीं)। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि काव्य-नाटक आदि उनके रसास्वादन के लिये रचे भी नहीं जाते हैं ॥३८॥ (यदि अनुकार्य राम आदि में रसास्वादन या रस की स्थिति मानी जाय तो) जिस प्रकार अपनी नायिका से युक्त किसी सांसारिक पुरुष को देख कर होता है, उसी प्रकार अभिनय के दर्शक (अथवा काव्य के श्रोता या पाठक) को (इसमें रति-भाव है इस प्रकार की) प्रतीति भर होगी (रसास्वादन नहीं होगा) अथवा (देखकर दर्शक के हृदय में) लज्जा, ईर्ष्या तथा राग-द्वेष आदि होंगे ॥३९॥

अधुना रसाश्रयं निर्णीते—**रसः स एवेत्यादिना**। **सः**=रत्यादिस्थायी भावः, **रसः**—रस्यत आस्वाद्यत इति रसः, एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थः; कस्मात् स्वाद्यत्वात; कस्य हृदयेऽयं वर्तते? **रसिकस्यैव**=सहृदयस्यैव, एवकारेणान्यत्र तत्सत्ताया निषेधः कृतः; कस्मात्तस्यैव नानुकार्यस्य? **वर्तनात्**=अभिनयकाले सहृदयस्यैव वर्तमानत्वात्; अनुकार्यस्य रामादेस्तु न, कुतः? **वृत्तत्वात्**—अतीतत्वात्; काव्यस्य, **अतत्परत्वतः**=अनुकार्यरामादीनां कृते तन्निर्माणाभावादिति भावः। यद्यनुकार्ये रसस्थितिः स्यात्तर्हि कास्ति विप्रतिपत्तिरित्युच्यते—यथा स्वनायिकासहितस्य लौकिकस्य जनस्य दर्शनाद्भवति तथैव **द्रष्टुः**=अभिनयदर्शकस्य, **प्रतीतिः**=अत्र रतिरस्तीति सामान्या प्रतीतिः स्यान्न तु रसास्वादः, अथवा लज्जादीनामनुभूतिः स्यादित्यभिप्रायः ॥

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैवाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्।

(कारिका ३८ में) 'सः' (वह) पद से रति आदि स्थायी भाव का निर्देश किया जाता है। यह रति आदि स्थायी भाव रसिक (सामाजिक) के हृदय में रहता है तथा काव्यार्थ (विभाव आदि) के द्वारा उद्भावित हुआ करता है। वह रति आदि स्थायी भाव ही आस्वादन का विषय होकर अर्थात् पूर्ण आनन्दानुभूतिरूपता को प्राप्त कर रस कहलाता है। यह रस रसिक (सामाजिक) के हृदय में वर्तमान होता है, क्योंकि अभिनय आदि के काल में सामाजिक ही वर्तमान रहता है। यह अनुकार्य राम आदि में नहीं रहता, क्योंकि (अभिनय आदि के समय तक) वे अतीत काल के व्यक्ति बन गये होते हैं।

यद्यपि यह ठीक है कि (अभिनय के समय में अनुकार्य राम आदि के) वर्तमान न रहने पर भी, काव्य-शब्दों के द्वारा (उनके) रूप के उपस्थित करा दिये जाने से, विद्यमान के समान उनका आभास होता है। किन्तु रसास्वादन के लिये तो वे अविद्यमान ही रहते हैं। पर विभाव के रूप में तो राम आदि की विद्यमान के समान प्रतीति अभीष्ट ही है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि कवियों के द्वारा काव्य का निर्माण अनुकार्य राम आदि में रस का प्रादुर्भाव कराने के लिये नहीं किया जाता है, अपितु सहृदय जनों को आनन्दित करने के लिये किया जाता है। वह रस समस्त सहृदय जनों के द्वारा अपनी अनुभूति का विषय बनाया जाता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि शृङ्गार (रति भाव) आदि की प्रतीति अनुकार्य राम आदि को हुआ करती है, तो नाटक आदि के दर्शकों (अथवा काव्य के पाठकों) को वैसे ही किसी रस का आस्वादन होगा, जैसे किसी लौकिक प्रेमी को अपनी कान्ता से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी-सी प्रतीति होती है कि यह युवक शृङ्गार (रति भाव) से युक्त है। रसास्वाद की बात तो दूर रही (राम आदि रति भाव से युक्त हैं) इस प्रकार की प्रतीति से देखने वाले सज्जन पुरुषों को लज्जा होगी, तथा अन्य जनों को अपने स्वभाव के अनुसार ईर्ष्या, राग आदि होगा। कुछ लोगों को यह भी इच्छा हो सकती है कि यह नायिका सुन्दरी है, अतः इसका अपहरण कर लिया जाय।

एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते, प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेनाऽविरोधः? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते॥ ४०॥

और, ऐसा सिद्ध हो जाने पर (अर्थात् काव्य के द्वारा रसिक के हृदय में भावित रति आदि भाव ही रस हैं—ऐसा मान लिया जाने पर) रस आदि की व्यङ्ग्यता भी खण्डित हो जाती है (अर्थात् 'रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं' इस मत का खण्डन भी हो जाता है)। क्योंकि जो वस्तु किन्हीं अन्य कारणों से अस्तित्व में आ चुकी होती है, वही दूसरे निमित्त के द्वारा भी व्यञ्जित होती है; उदाहरणार्थ अन्य कारणों से निर्मित घट पहले से ही (अन्धकार में) वर्तमान रहता है, उसके बाद ही दीपक उसे व्यञ्जित करता है। वह वस्तु व्यङ्ग्य नहीं कही जा सकती है जिसका स्वभाव (अर्थात् अस्तित्व) अभिव्यञ्जक कारणों के द्वारा उसी समय (अर्थात् व्यञ्जना के क्षणों में) ही उत्पन्न किया जाता है। (रस के विषय में यही बात है क्योंकि) विभाव आदि के द्वारा दर्शकों के हृदय में रस की भावना (रूपक के दर्शन के समय में ही) करायी जाती है, यह बात पहले ही बतलायी जा चुकी है। (अतः रस की पूर्वसत्ता न होने से व्यञ्जनावादी उसे व्यङ्ग्य नहीं कह सकते हैं)।

विशेष—आपाद्यस्वभावम्—जो वस्तु अभिव्यञ्जक कारणों के द्वारा अभिव्यक्त होती है, उसी को ही व्यङ्ग्य कहा जा सकता है। जो उनके द्वारा उत्पन्न होती है वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकती॥

पूर्वपक्षी—सामाजिकों के हृदय में स्थित रसों का विभाव क्या होता है? और सीता आदि (पवित्र) देवियों को (सामाजिक में रहनेवाले रति भाव का) आलम्बन विभाव स्वीकार करने में कैसे विरोध नहीं होता है?

सिद्धान्ती—बतलाया जा रहा है—

(रूपक आदि में नट के द्वारा अनुकृत) राम आदि धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के प्रतिपादक हैं। वे (राम आदि) रति आदि स्थायी भावों को (सामाजिकों में) भावित करते हैं (अर्थात् रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति में कारण बनते हैं) और उन रति आदि स्थायी भावों का रसिक सामाजिक के द्वारा आस्वादन किया जाता है॥४०॥

एवञ्च सतीति। व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्=व्यङ्ग्यत्वं निरस्तम्। **लब्धसत्ताकम्—**लब्धा=प्राप्ता सत्ता=अस्तित्वं येन तत्। **अभिव्यञ्जकत्वाभिमतैः—**अभिव्यञ्जकत्वेन अभिमतैः=स्वीकृतैः, अभिव्यञ्जकैरिति यावत्। **आपाद्यस्वभावम्**=लब्धसत्ताकम्॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणा स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि) दधति ।

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः ?

कविजन योगियों के समान ध्यान-चक्षु से देख कर काव्य में, इतिहास आदि की तरह, राम आदि की व्यक्तिगत यथार्थ अवस्था का उपनिबन्धन नहीं करते हैं। तो फिर वे क्या करते हैं ? (अर्थात् कैसी अवस्था का वर्णन करते हैं ?), वे इस तरह की धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का वर्णन प्रस्तुत करते हैं, जो सामान्यरूप से सभी (धीरोदात्त आदि) व्यक्तियों में पायी जाती हैं तथा जो कवि के द्वारा अपनी कल्पना के सहारे वर्णित की जाती हैं। (इन सर्वसाधारण अवस्थाओं का कवि) केवल किसी (राम आदि) को आश्रय भर बना लेता है (न कि वस्तुतः ये राम आदि की सच्ची अवस्थाएँ हुआ करती हैं)।

(राम आदि की) व्यक्तिगत विशेषताओं से विहीन वे (उदात्त आदि अवस्थाएँ) ही रस का कारण होती हैं।

काव्य में सीता आदि शब्द 'जनकपुत्री होना', 'रामपत्नी होना' आदि विशेषताओं को छोड़कर केवल स्त्रीवाचक हुआ करते हैं। (ऐसी अवस्था में फिर) क्या दोष हो सकता है ? (अर्थात् कुछ नहीं)।

विशेष—रामादिः प्रतिपादकः—भाव यह है कि कवि अपने काव्य में जो राम आदि का वर्णन करता है, वह इतिहास आदि की भाँति राम आदि का व्यक्तिगत वर्णन नहीं हुआ करता। काव्य इतिहास नहीं है। कवि धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के आदर्श प्रतीक रूप में राम आदि का वर्णन अपने काव्य में करता है। कवि के काव्य में वर्णित राम की अवस्थाएँ वस्तुतः राम की व्यक्तिगत अवस्था नहीं हुआ करती हैं। वे तो कवि के द्वारा अपने सामयिक समाज में अनुभूत तथा अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा कल्पित हुआ करती हैं। राम आदि नायक उन अवस्थाओं के वस्तुतः आश्रय न हो कर कल्पित आश्रय हुआ करते हैं। आखिर उन अवस्थाओं के वर्णन के

ननु चेति । सीतादीनां देवीनाम्=परमाराध्यानां मातृत्वेनोत्प्रेक्ष्यमाणानां सीतादीनां देवपत्नीनां समाजिकैः स्वरत्यादेरालम्बनविभावत्वेनोत्प्रेक्षा कथमौचित्यं बिभर्तीति प्रश्नाशयः। तत्र समाधत्ते—**धीरोदात्ताद्येति । प्रातिस्विकीम्**=व्यक्तिविशेषसम्बद्धाम्, **सर्वलोकसाधारणाः**—सर्वलोकेषु=सर्वजनेषु साधारणाः=सामान्येनोपलब्धाः ।

ताः—सीतादिशब्दा इति धनिकः, सीताद्या इति प्रभाकारः । वस्तुतस्तु **ताः**=धीरोदात्ताद्यवस्था इति व्याख्यानमेव समीचीनम्, **परित्यक्तविशेषाः**=साधारणीकृताः, सामान्यतो नायिकादिरूपेणोपस्थिता इत्यर्थः ॥ अत्रानेन कथनेन काव्यद्वारा विभावादीनां साधारणीकरणं सूचितम् ॥

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥ ४१ ॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकश्रृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः, किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् । यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति ।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

लिए किसी-न-किसी आश्रय का अवलम्बन तो करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार काव्य-नाट्यगत सीता आदि भी केवल प्रतीक भर हुआ करती हैं, वे वहाँ जनक-पुत्री सीता अथवा राम-पत्नी सीता के रूप में नहीं होती हैं। वे अपनी सारी व्यक्तिगत विशेषताओं को छोड़कर स्त्रीमात्र के रूप में रस का निमित्त हुआ करती हैं। यही कारण है कि सामाजिक की रति का जब वे आलम्बन विभाव बनती हैं तो कोई दोष नहीं होता है।

पूर्वपक्षी—(यदि काव्य में वर्णित सीता आदि व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर स्त्रीमात्र के वाचक हैं) तब क्यों उनका वर्णन किया जाता है ? (किसी शीला या मालती का ही वर्णन क्यों नहीं कर दिया जाता ?)। इसका उत्तर दिया जा रहा है—

सिद्धान्ती—जैसे खेलने वाले बालकों को मिट्टी से निर्मित हाथी आदि के द्वारा अपने उत्साह का आस्वादन होता है (अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है); वैसे ही श्रोताओं या दर्शकों को अर्जुन आदि (जगद्विदित पात्रों) के द्वारा अपने उत्साह का आस्वादन होता है (किसी घुरहू या कतवारू के द्वारा नहीं, क्योंकि इनकी कोई भी विशेषता किसी को ज्ञात नहीं रहती है) ॥ ४१ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि—काव्य-नाट्य के रसास्वादन में, लौकिक रतिभाव आदि की भाँति, स्त्री आदि विभावों का उपयोग नहीं होता है। तो फिर यहाँ क्या होता है ? काव्य-रस (नाट्य-रस) लौकिक रस से विलक्षण हुआ करता है, जैसा कि बतलाया जा चुका है। (भरत ने अपने नाट्यशास्त्र ६।१५ में) कहा भी है—'नाट्य-रस संख्या में केवल आठ ही होते हैं।'

विशेष—लौकिकरसविलक्षणत्वम्—इस कथन का आशय यह है कि काव्य-रस लौकिक रस से विलक्षण हुआ करते हैं। यही कारण है कि वहाँ नायिका आदि की वास्तविक रूप से उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती है।

नर्तक को भी रसास्वादन हो सकता है

यदि नर्तक (अभिनेता) काव्यार्थ के साथ तन्मयता स्थापित कर लेता है तो उसको भी रस का आस्वादन हो सकता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता ॥ ४२ ॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।

कथं च काव्यात्स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥ ४३॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥ ४४॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः। तस्य च सामान्यात्म-

---

(नाटकादि में अनुकार्य राम आदि के अनुकरणकर्ता) नर्तक (अभिनेता) को भी लौकिक रस (रति भाव आदि) से रसयुक्त नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस क्षण वह भोग्यरूप में अपनी स्त्री आदि का ग्रहण नहीं कर सकता (अर्थात् अपनी स्त्री आदि से संयुक्त नहीं होता)। किन्तु यदि उसका अन्तःकरण काव्यार्थ की भावना से भावित है तो वह भी सामाजिक के समान ही रस का आस्वादन कर सकता है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रस-प्रक्रिया तथा उसका स्वरूप

काव्य द्वारा अपने ही आनन्द की अनुभूति (अर्थात् रसास्वादन) कैसे होती है तथा उस (रस) का स्वरूप क्या है ? अब इसका प्रतिपादन किया जा रहा है—

काव्यार्थ के साथ तन्मयता होने से जो अपने आनन्द का अनुभव हुआ करता है, वही स्वाद (रस) कहलाता है। वह स्वाद चार प्रकार का माना गया है—(१) चित्त का विकास, (२) चित्त का विस्तार, (३) चित्त का क्षोभ और, (४) चित्त का विक्षेप। ये चारों प्रकार के मनोविकार—विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप—क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में पाये जाते हैं। (ये ही चारों मनः-प्रकार) क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण रस में भी होते हैं॥ ४३-४४॥ इसीलिये हास्य आदि रसों को (क्रमशः) शृङ्गार आदि रसों से उत्पन्न माना जाता है। और यही कारण है कि ('आठ ही रस हैं' इस प्रकार का) नियम-निर्धारण भी किया जाता है॥४३,४४,४५॥

काव्यार्थ, अर्थात् विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव के साथ सहृदय के अन्तः-करण का सम्भेद हो जाने पर अर्थात् परस्पर घुल-मिल जाने पर तथा 'स्व' एवं 'पर' के विभाग को भूल जाने पर (अर्थात् काव्य में वर्णित विभाव आदि से युक्त स्थायी भाव के विषय में सहृदय का 'यह मेरा है' तथा 'यह पराया है।' इस प्रकार के भेद के विनष्ट हो जाने पर) जो प्रबलतर आत्मानन्द की उपलब्धि होती है, उसी को स्वाद (रस) कहा जाता है। यद्यपि वह स्वाद सभी रसों में समान रूप से पाया जाता है

कत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—श्रृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः। अत एव—

'श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥'

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

'श्रृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः।'

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात्। अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति सम्भेदान्तराणामभावात्।

फिर भी प्रत्येक रस में अपने-अपने (अलग-अलग) विभाव आदि कारणों से उत्पन्न चित्त का संभेद (एकात्मता) हुआ करता है; अतः चित्त की चार प्रकार की अवस्थाएँ (भूमियाँ) हो जाती हैं (अर्थात् अलग-अलग रस के अलग-अलग ढङ्ग के विभाव पाये जाते हैं, अतः इस भेद के कारण सहृदय के चित्त की चार प्रकार की स्थितियाँ पायी जाती हैं)। जैसे श्रृङ्गार रस में (चित्त का) विकास होता है, वीर रस में (चित्त का) विस्तार होता है, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप। श्रृङ्गार आदि इन चार रसों से भिन्न हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण—इन चार रसों में भी—जिनकी पुष्टि अपनी-अपनी कारण-सामग्री (विभाव आदि) से होती है—वे ही चार विकास आदि चित्त-भूमियाँ क्रमशः मिलती हैं। इसीलिए (भरतमुनि ने ना० शा० ६।३९ में) कहा है—

'श्रृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है॥'

यहाँ चित्त के सम्भेद की अपेक्षा से ही हेतु-हेतुमान् का भाव (अर्थात् श्रृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान् = कार्य) बतलाया गया है, न कि कार्य-कारण-भाव के अभिप्राय से (अर्थात् ऐसा नहीं है कि श्रृङ्गार आदि कारण हैं और हास्य आदि उनके कार्य); क्योंकि हास्य आदि की उत्पत्ति, श्रृङ्गार आदि के कारण (विभाव आदि) से भिन्न कारणों (अर्थात् विभाव आदि) से हुआ करती है (न कि श्रृङ्गार आदि से)।

'जो श्रृङ्गार की अनुकृति है, उसे हास्य कहा जाता है।' (नाट्य शा० ६।४०) इत्यादि के द्वारा (श्रृङ्गार तथा हास्य आदि में) विकास आदि चित्त-सम्भेद की एकता को ही स्पष्ट किया गया है। (चित्त की चार अवस्थाएँ हैं तथा एक-एक अवस्था का दो-दो रसों से सम्बन्ध है) इसीलिए 'रस आठ ही हैं' यह नियम-निर्धारण

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुःष्यात् ? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां, कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा

भी किया गया है। इन चार को छोड़ कर चित्त-संभेद (अन्तःकरण की तन्मयता) की अवस्थाएँ ही नहीं होती हैं।

विशेष—काव्यार्थ०—'काव्यार्थ' का अर्थ है—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संसृष्ट स्थायी भाव। विभाव आदि से संयुक्त स्थायी भाव ही वाक्यार्थ होने के कारण काव्यार्थ होता है। विभाव आदि तो काव्य में पदार्थ के समान हैं।

आत्मानन्दसमुद्भवः—आत्मानन्द की अनुभूति। इसका भाव यह है—रसिक अपने चित्त में वर्तमान रति आदि भाव के आनन्द का अनुभव करता है। काव्य में वर्णित विभाव आदि से संसृष्ट रति आदि स्थायी भाव के साथ सहृदय के हृदय में स्थित रति भाव की तन्मयता हो जाती है। फिर क्या है ? रसिक अपने ही हृदय के रति आदि भाव का आस्वादन करने लगता है।

तस्य च०—उस आस्वाद के। यद्यपि वह रसास्वाद सभी रसों में समानरूप से पाया जाता है। फिर भी सभी रसों के विभाव आदि अलग-अलग हुआ करते हैं। अतः रसिक के हृदय की तन्मयता भी भिन्न-भिन्न रूप की हो जाती है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न रस माने गये हैं।

सभी रस आनन्दस्वरूप हुआ करते हैं, इसका प्रतिपादन :

पूर्वपक्षी—शृङ्गार, वीर तथा हास्य आदि सुखात्मक होते हैं। अतः इन रसों के प्रसङ्ग में वाक्यार्थ के साथ सहृदय के हृदय की तन्मयता होने से आनन्द की उत्पत्ति (अर्थात् आनन्द की अनुभूति) हो सकती है। किन्तु करुण आदि तो दुःखात्मक हैं। अतः उनमें आनन्द की उत्पत्ति (अर्थात् अनुभूति) कैसे हो सकती है ? क्योंकि करुणरस वाले काव्य के श्रवण से सहृदयों (के चित्त) में दुःख की उत्पत्ति होती है तथा अश्रुपात आदि होते हैं। यदि करुण रस सुखात्मक होता तो यह बातें न होतीं।

सिद्धान्ती—आपका यह कथन पूर्णतया सत्य है (कि करुण काव्यों के सुनने से रसिक लोगों को दुःख होता है, वे रोते और आँसू गिराते हैं); किन्तु काव्य से उत्पन्न होने वाला यह आनन्द वैसा ही सुख-दुःखात्मक होता है, जैसा कि स्त्री-सम्भोग की अवस्था में प्रहार (दन्त-क्षत आदि) के अनन्तर स्त्रियों के आनन्दपूर्वक कोप (कुट्टमित) में होने वाला आनन्द सुख-दुःखात्मक होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण रस की अपेक्षा काव्यगत करुण रस भिन्न होता है। यही कारण है कि काव्यगत करुण रस में सहृदयों की अधिकाधिक प्रवृत्ति हुआ करती

न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन, विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत्, प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते अतस्तदुच्यते—

है। यदि काव्यविषयक करुण रस लौकिक करुण रस की भाँति दुःखात्मक ही होता तो इसमें किसी भी (सहृदय) की प्रवृत्ति न होती। इसका परिणाम यह होता कि करुण-रस-प्रधान रामायण आदि महाकाव्यों का लोप ही हो गया होता। (पर बात कुछ दूसरी ही है। लोग करुण-रस-प्रधान काव्य रामायण को बड़े प्रेम से पढ़ते-सुनते हैं। सुनकर रसास्वाद ग्रहण करते हैं। अतः यह सिद्ध है कि करुण-रस-प्रधान काव्य भी आनन्दोत्पत्ति अवश्य करते हैं)। वैसे कथा के वर्णन को सुनने पर सहृदय सामाजिक दुःख का अनुभव करके उसी प्रकार आँसू गिराते हैं, जैसे लोक में किसी दुःखी जन को देख कर हम लोग आँसू गिराते हैं। अतः सहृदयों के द्वारा ऐसे वर्णनों को सुनकर, आँसू गिराना रस या आनन्द का विरोधी नहीं है। इन सभी बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शृङ्गार आदि रसों की तरह करुण रस भी आनन्दात्मक ही होता है।

विशेष—रसों की सुख-दुःखरूपता के विषय में प्रधानतया चार मत हैं—

(क) सारे रस सुखात्मक ही होते हैं—साहित्यदर्पण आदि।

(ख) सारे रस सुख-दुःखात्मक होते हैं—अभिनव भारती, शृङ्गारप्रकाश एवं रसकलिका।

(ग) शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस सुखात्मक होते हैं, किन्तु रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा करुण रस दुःखात्मक होते हैं—नाट्यदर्पण।

(घ) शृङ्गार आदि रस सुखात्मक होते हैं, किन्तु करुण आदि सुख-दुःखात्मक होते हैं—दशरूपक।

धनिक के अनुसार शृङ्गार आदि सभी रसों को आनन्दात्मक माना गया है। इस तरह करुण भी आनन्दात्मक ही है। किन्तु उन्होंने करुण में होने वाले आनन्द को सुख-दुःखात्मक कहा है—'तादृश एवासावानन्दः सुख-दुःखात्मकः।'

विकास आदि चार अवस्थाओं में शान्त रस का भी अन्तर्भाव :

(जैसा कि बतलाया जा चुका है कि) शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता। अतः नाट्य में शान्त रस का प्रवेश (अर्थात् निबन्धन) नहीं होता। फिर भी सूक्ष्म तथा अतीत आदि सभी वस्तुओं का शब्द के माध्यम से प्रतिपादन किया जा सकता है, अतः शान्त रस भी काव्य (अर्थात् श्रव्य काव्य) का विषय बनता है—इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा गया है—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

शान्तो हि यदि तावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'

इत्येवं लक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयतां श्रुतिरपि—'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्री-करुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

यदि शम नामक स्थायी भाव का प्रकर्ष शान्त रस है—यह कहा जाय तो वह अनिर्वचनीय होगा (अर्थात् उसकी परिभाषा नहीं बतलायी जा सकती है)। परन्तु (उस शान्त रस को प्रकट करने के उपायभूत) जो मुदिता आदि (अर्थात् मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा आदि) हैं वे उन (विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप नामक चित्त की अवस्थाओं) के रूप में ही होते हैं (अतः यह कहा जा सकता है कि शान्त रस का भी चित्त की उक्त चार अवस्थाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है) ॥ ४५ ॥

यदि शान्त रस का यह लक्षण माना जाय—"जहाँ न तो दुःख है और न सुख ही है, न तो चिन्ता है, न राग-द्वेष है और न कोई इच्छा ही है, सम्पूर्ण भावों में शम की ही प्रधानता है; उसे श्रेष्ठ मुनिजनों ने शान्त रस कहा है।"

तब तो उस (शान्त रस) का प्रादुर्भाव उस मोक्ष की अवस्था में ही होना सम्भव है जहाँ कि आत्म-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। और उस (आत्मा) की स्वरूपतः अनिर्वचनीयता को श्रुति ने भी अन्यापोह के रूप में कहा है कि 'वह (आत्मा) यह नहीं है, यह नहीं है।' और इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि उस प्रकार के (अर्थात् अनिर्वचनीय) शान्तरस का आस्वादन सहृदय जन कर भी नहीं सकते हैं। पर यदि (अथापि) उस (शम) के उपायभूत मुदिता, मैत्री, करुणा एवं उपेक्षा ही उस (शान्त रस) का स्वरूप है तब तो वह भी (अर्थात् शान्त रस भी) विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप (रूप चित्त की चार अवस्थाओं) के रूप में ही होगा। इस प्रकार उन (विकास, विस्तार आदि) के कथन के द्वारा ही शान्त रस के आस्वादन का निरूपण कर दिया गया।

ननु चेति । कुट्टमिते=केशादिग्रहे सति स्त्रीणां कृत्रिमे प्रकुपिते । द्वितीये प्रकाशे कुट्टमितस्य स्त्रीणां सात्त्विकालङ्कारे परिगणनमपि वर्तते । **उच्छेदः**=लोपः । **विनिपातितेषु**=दुःखितेषु, विपद्ग्रस्तेष्वित्यर्थः; **वैक्लव्यदर्शनादिवत्**—वैक्लव्यम्=शोकावेगः, **प्रेक्षकाणाम्**=सहृदयदर्शकानाम् ॥

शमप्रकर्षेति । शमप्रकर्षः—शमस्य=शमनाम्नः स्थायिभावस्य प्रकर्षः=परिपाकः,

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसंचार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥ ४६ ॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

विशेष—काव्यविषयत्वं न निवार्यते—नाट्य में शान्त रस का निषेध किया गया है, किन्तु श्रव्य काव्य में तो वह होता ही है। अतः उसका निषेध आप कैसे करेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर दो भागों में दिया गया है। (१) यदि यह माना जाय कि शम भाव की पुष्टि (प्रकर्ष) ही शान्त रस है तो कहना यह है कि शम तो सम्पूर्ण सुख-दुःखादि भावों के अभाव का नाम है। ऐसी अवस्था तो व्यक्ति को तभी उपलब्ध हो सकती है जब कि उसे आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाय—मुक्ति मिल जाय। यह स्थिति अवर्णनीय है। श्रुतियों ने भी इस अवस्था की परिभाषा देने में असमर्थता व्यक्त की है। ऐसी परिस्थिति में न तो लोक में शम-भाव का अनुभव करने वाले व्यक्ति मिल सकते हैं, न तो यह काव्य का ही विषय हो सकता है और न ही इसका आस्वादन करनेवाले रसिक जन ही उपलब्ध हो सकते हैं। (२) यदि यह कहा जाय कि शम-भाव के जो उपाय हैं—मुदिता, मैत्री, करुणा आदि—उनकी पुष्टि ही शान्त रस है; तब तो कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि मुदिता आदि चारों भावों का समावेश क्रमशः विकास आदि चित्त की चार अवस्थाओं में ही हो जाता है। फिर शान्त को अलग से मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

सम्प्रति विभाव आदि के विषय में काव्य के जो अन्य व्यापार होते हैं उन्हें दिखलाते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

काव्य में विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभाव की संज्ञा को धारण करने वाले (अर्थात् विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभाव कहे जाने वाले) क्रमशः चन्द्रमा, निर्वेद एवं रोमाञ्च आदि पदार्थों के द्वारा भावित (पुष्ट किये गये) रति आदि स्थायी भावों का जो आस्वादन किया जाता है उसे ही रस कहते हैं ॥ ४६-४७॥

शान्तरसोऽस्ति तर्हि स इति शेषः, **अनिर्वाच्यः** = अवर्णनीयो वर्तते। न शक्यं तद्रूपनिरूपणमिति भावः। यदि **मुदितादेः** = मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षाणां पुष्टिरेव शान्तरसतर्हि तेषां **तदात्मता** = विकासादिचित्तावस्थारूपता वर्ततेऽतो न कोऽपि दोष इति भावः। **तस्य** = इत्येवंलक्षणस्य, शमप्रकर्षरूपशान्तस्येत्यर्थः। **तस्य चेति** = आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणस्य चेति। **अन्यापोहरूपेण** = अन्यव्यावृत्तिरूपेणेत्यर्थः। **तदुक्त्यैव** = विकासादिकथनेनैव।

विभावादिविषयेत्यादिः—विभावादीनां विषये = सम्बन्धेऽवान्तरो यो काव्यव्यापारस्तत्प्रदर्शनपूर्वकः। **अतिशयोक्तिरूपेत्यादिः**—अतिशयोक्तिरूपः = चमत्काराधायक इत्यर्थो यः काव्यव्यापारस्तेनाहितः = धृत विशेषः = चमत्कारो यैस्तैरिति समासपद्धतिरत्रेति ॥

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः = भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

अतिशयोक्तिरूप (चमत्कारपूर्ण कथनरूप) काव्य के व्यापार के द्वारा अलौकिकता प्राप्त करके चन्द्रमा आदि ही उद्दीपन विभाव कहलाते हैं, प्रमदा आदि ही आलम्बन विभाव बनते हैं, निर्वेद आदि ही व्यभिचारी भाव और भ्रू-विक्षेप तथा कटाक्ष आदि अनुभाव कहलाते हैं। ये विभाव आदि काव्य के अवान्तर व्यापार के वाच्य हुआ करते हैं, अतः (ये) पदार्थ के समान हैं। इनसे पुष्ट हुआ—सहृदय-हृदय के आस्वादन के योग्य बना—रति आदि स्थायी भाव (काव्य में) वाक्यार्थ हुआ करता है। आस्वादन के योग्य बना स्थायी भाव ही (सः) रस कहलाता है। इस प्रकार ऊपर के प्रकरण में (इस कारिका का) तात्पर्य निहित है।

विशेष—अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापार०—किसी भी वस्तु का चमत्कारिक ढङ्ग से वर्णन ही काव्य का व्यापार है। यदि काव्य-वर्णन में कुछ अलौकिकता न आयी तो वह निरर्थक होता है।

आहितविशेषैः—काव्य-व्यापार साधारण से साधारण वस्तु में भी कुछ विशेषता, अलौकिकता उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार अलौकिकता प्राप्त वस्तुओं के द्वारा।

अवान्तरव्यापारः—शाब्द-बोध की प्रक्रिया में भाट्ट मीमांसक दो प्रकार का व्यापार मानते हैं—(१) अवान्तर व्यापार तथा (२) प्रधान व्यापार। वाक्य में प्रयुक्त समग्र पद सर्वप्रथम अपने-अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते हैं, यही अवान्तर = गौड व्यापार है। पदार्थबोध के अनन्तर आकाङ्क्षा आदि से अन्वित होकर वाक्य से तात्पर्यवृत्ति के द्वारा अन्वित अर्थ (वाक्यार्थ) का बोध होता है, यही प्रधान व्यापार है। ठीक इसी प्रकार काव्य में भी अवान्तर व्यापार के द्वारा पदार्थस्थानीय विभाव आदि की प्रतीति होती है। प्रधान व्यापार के द्वारा विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव की प्रतीति होती है। स्थायी भाव की यह प्रतीति वाक्यार्थ के समान है।

प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्—यहाँ 'विभावैः' (४।१), 'वाच्या प्रकरणादिभ्यो०' (४।३७), 'रसः स एव स्वाद्यत्वात्' (४।३८), 'धीरोदात्ताद्यवस्थानाम्' (४।४०), 'ता एव' (४।४१), 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदात्' (४।४३), 'पदार्थैः' (४।४६) तथा 'अभेदाद्रसभावयोः' (४।४७), कारिकाओं से तात्पर्य है।

भरत के नाट्यसूत्र—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के 'संयोगात्' पद की व्याख्या आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। भट्ट लोल्लट के अनुसार उसका अर्थ है—'उत्पाद्य-उत्पादकभाव', शङ्कुक के मत से इसका अर्थ है—'अनुमाप्य-अनुमापकभाव', भट्टनायक के अनुसार इसकी व्याख्या है—'भोग्य-भोजकभाव' तथा

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वाक्यशेषः ।

तत्र तावच्छृङ्गारः—

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ॥
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

अभिनवगुप्त एवं ध्वनिवादियों के मत से उक्त पद का अर्थ है—'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' ! दशरूपककार धनञ्जय ने 'संयोगात्' को 'भावितः' पद से स्पष्ट कर 'भाव्यभावक' सम्बन्ध माना है। जिस प्रकार लोल्लट का मत उत्पत्तिवाद, शङ्कुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है, उसी प्रकार धनञ्जय के रस-सम्बन्धी मत को 'भावनावाद' कहा जा सकता है। इनके मत से काव्य रस का भावक (=भावना कराने वाला) है; किन्तु तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही। इन्होंने भट्टनायक का विशेष प्रकार का भावना व्यापार नहीं स्वीकार किया है और न ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य में व्यञ्जनाव्यापार ही माना है।

रसों के लक्षण, भेद और उदाहरण

(अब तक तो सामान्य रूप से रस का विवेचन किया गया किन्तु) अब (रसों के) विशेष लक्षण बतलाये जा रहे हैं। आदरणीय आचार्य (भरत) ने विभाव आदि का प्रतिपादन करते हुए (नाट्यशास्त्र के षष्ठ अ० में) रति आदि स्थायी भावों तथा (सप्तम अ० में) शृङ्गार आदि रसों का अलग-अलग लक्षण बतलाया है। किन्तु यहाँ—

(शृङ्गार आदि रस) तथा (रति आदि) स्थायी भाव का एक ही लक्षण बतलाया जा रहा है, क्योंकि रस तथा स्थायी भाव के (आलम्बन तथा उद्दीपन) विभाव एक ही हुआ करते हैं। यही कारण है कि (रस तथा स्थायी भाव) दोनों में अभिन्नता होती है। (स्थायी भाव की परिपुष्ट स्थिति ही रस कहलाती है)।

(कारिका में 'लक्षणैक्यम्' के साथ) 'क्रियते' (किया जाता है) यह वाक्य अलग से जोड़ा जाता है।

सर्वप्रथम (रसों में) शृङ्गार का लक्षण बतलाया जा रहा है—

मनोहर देश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन से परस्पर प्रेमासक्त युवक-युवती को जो प्रमोद होता है वही रति-भाव कहा जाता है और जब वही अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा पुष्ट होता है (प्रहृष्यमाणः) तब शृङ्गार रस कहलाता है ॥४७-४८ ॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं श्रृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति कव्युपदेशपरमेतत् ।
तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥' २९२ ॥

कलाविभावो यथा—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै—
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥' २९३ ॥

इसका भाव यह हुआ कि इस प्रकार का वर्णन करने वाला काव्य श्रृङ्गार रस का आस्वादन कराने में सक्षम होता है । यह कवि को उपदेश देने के लिए है ।

विशेष—अन्योन्यरक्तयोः—इसका भाव यह है कि जहाँ नायक-नायिका परस्पर अनुरक्त होते हैं, वहीं श्रृङ्गार रस हुआ करता है । यदि एक अनुरक्त होता है और दूसरा नहीं तो वहाँ श्रृङ्गार रस न होकर श्रृङ्गाराभास होता है ।

मधुराङ्गविचेष्टितैः—अङ्गों की मनोहर चेष्टाएँ श्रृङ्गार रस का अनुभाव हुआ करती हैं ।

आगे प्रत्येक देश तथा विभाव आदि के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

उनमें देश-विभाव, जैसे उत्तररामचरित (१।२६) में (राम सीता से कह रहे हैं)—

'हे सुन्दरी, लक्ष्मण के द्वारा की गयी शुश्रूषा से आनन्दपूर्वक रहते हुए हम दोनों के द्वारा उस पर्वत पर बिताये गये उन दिनों की याद करती हो ? अथवा सरस तटवाली गोदावरी की क्या स्मृति है ? तथा गोदावरी के तट-प्रान्तों में हम दोनों के विहार करने की क्या याद है ? ॥' (१।२६) ॥

काल-विभाव जैसे—

जिनके अन्दर (मानों) वचन छिपे बैठे हैं ऐसे हाथों के द्वारा अर्थ भली-भाँति प्रकट कर दिया गया; पाद-प्रक्षेपों के माध्यम से लय प्राप्त हो गयी तथा रसों में तन्मयता भी (आ गयी); अनुवृत्तों (?) के द्वारा शाखा (एक प्रकार के विचित्र हस्त-सञ्चालन) से उत्पन्न होने वाला छः प्रकार का मृदु अभिनय भी सम्पन्न हो गया । यह सभी भावों को विषयों के प्रति प्रेरित करता है, यही रागबन्ध है ।

रम्यदेशकलेत्यादिः—अनुरक्तयोः=अन्योन्यासक्तयोः, अनेनानुभयनिष्ठायां रत्यां रसाभाव सूचितः, **यूनोः**=युवत्या युवकस्य चेत्यर्थः, **प्रमोदात्मा**—प्रमोदः=मनसः प्रवणायितम् आत्मा यस्याः सा तादृशी रतिर्भवति, रतिःप्रमोदात्मिकेत्याचार्यभरतो नाट्यशास्त्रस्य सप्तमाध्याये । **सैव**=रतिरेवेत्यर्थः, **प्रहृष्यमाणा**—परिपुष्टा सती श्रृङ्गारो भवतीति ॥

यथा च—

'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥' २९४ ॥

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

'असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥' २९५ ॥

इत्युपक्रमे—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥' २९६ ॥

और, जैसे (नागानन्द १।१५)—'यहाँ इस (संगीत) के द्वारा दस प्रकार की व्यञ्जन धातु के माध्यम से व्यक्तता प्राप्त कर ली गयी; द्रुत, मध्य तथा विलम्बित रूप में विभक्त यह तीन प्रकार का लय भी स्पष्ट हो गया है; गोपुच्छ आदि तीनों यतियाँ भी क्रमशः सम्पादित की गयी हैं तथा तत्त्व, ओघ एवं अनुगत त्रिविध वाद्य-विधियाँ भी सम्यग् रूप से दिखला दी गयी हैं ॥

विशेष—कला-विभाव वहाँ होता है जहाँ ललित कला के माध्यम से रति-भाव का उद्बोधन होता है। यहाँ प्रथम उदाहरण में नृत्य तथा द्वितीय उदाहरण में सङ्गीत के निमित्त से होने वाली रति का वर्णन है। **लयः**—क्रिया के अनन्तर विश्राम ही लय है—'क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः' (संगीतरत्ना० अ० ५) लय तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्य और विलम्बित। **शाखा**—विचित्र प्रकार से हाथ घुमाना-फिराना ही शाखा है—'तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना' (वही)। **षड्विकल्पः**—अभिनय छः प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आङ्गि के तीन भेद होते हैं—शारीर, मुखज और चेष्टाकृत (ना० शा० अ० ८)। **व्यञ्जनधातुना**—ना० शा० (अ० २९) में वीणा में दस व्यञ्जन धातुओं का प्रयोग निर्दिष्ट है—पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उद्घृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, बिन्दु तथा अपमृष्ट। **वाद्यविधयः**—वादन के तीन प्रकार होते हैं—तत्त्व, अनुगत और ओघ (संगीत रत्ना० अ० ६)।

काल-विभाव, जैसे कुमारसम्भव (३।२६) में—'(वसन्त ऋतु के आ जाने से) अशोक वृक्ष ने सुन्दरियों के झङ्कृत नूपुरों से युक्त चरण के स्पर्श की बिना अपेक्षा किये ही शीघ्र तने से लेकर ऊपर तक कोपलों के साथ पुष्पों को उत्पन्न कर दिया ॥

ऐसा उपक्रम करके (कुमार० ३।३६)—'भ्रमर अपनी प्रिया का अनुवर्तन करता हुआ एक ही पुष्प-पात्र में मकरन्द पीने लगा। काला मृग (अपने) स्पर्श के (सुख के) कारण आँखें बन्द की हुई हरिणी को खुजलाने लगा ॥

वेषविभावो यथा तत्रैव—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥' २९७ ॥

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै—
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥' २९८ ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥' २९९ ॥

वेष-विभाव जैसे वहीं (३।५३)—'(शङ्कर के पास जाती हुई) पार्वती ने वसन्त ऋतु के फूलों का आभूषण धारण कर रखा था, जिनमें अशोक-पत्र के द्वारा पद्मराग मणि तिरस्कृत हो रहा था, कर्णिकार के द्वारा सुवर्ण की कान्ति छीनी जा रही थी, सिन्दुवार (के पुष्पों) को मोतियों की माला के समान धारण कर रखा गया था ॥'

विशेषः—यहाँ पार्वती के वेष-विन्यास के द्वारा शिव के मन में रति-भाव का उद्भव दिखलाया गया है ॥

उपभोग-विभाव, जैसे—(नायिका के शरीर पर सम्भोग के चिह्नों को देखकर उसकी सखी कह रही है) 'हे सखी, तुम्हारी आँखों का काजल-कण कुछ पोंछा गया है, अधरोष्ठ पर की पान की ललाई भी चाट ली गयी है, जूड़ा (शिथिल होकर) कपोल-तल पर बिखर गया है, शरीर की चमक लुप्त सी हो गयी है। हे मान करनेवाली यौवन से मतवाली सुन्दरी, सम्प्रति ऐसा प्रतीत होता है कि प्रियतम ने किन्हीं उपायों के माध्यम से तुम्हारे चित्तरूपी भूमि में बढ़े हुए मानरूपी विशाल-वृक्ष को तोड़ डाला है ॥'

विशेषः—जहाँ उपभोग चिह्नों के द्वारा नायक-नायिका का रति-भाव लक्षित होता है, वहाँ उपभोग विभाव होता है। यहाँ युवती की आँखों से काजल पुत गया है। इससे प्रतीत होता है कि नायक ने जमकर उससे रति-क्रीडा की है। अतः नायक का रति-भाव लक्षित होता है ॥

प्रमोदात्मा रति जैसे मालतीमाधव (१।३९) में—'संसार में नवीन चन्द्रकला आदि अनेक पदार्थ चित्ताकर्षक हैं। मन को मत्त बना देनेवाले स्वभावतः सुन्दर और दूसरे भी पदार्थ हैं। किन्तु संसार में नेत्रों के लिए कौमुदी यह (मालती), जो

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहूनतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥' ३०० ॥

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्—
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥' ३०१ ॥

मेरी आँखों के समक्ष आ चुकी है, वही मेरे लिये जीवन का उत्कृष्टतम एकमात्र आनन्द है' ॥

विशेषः—अभी पीछे यह बतलाया गया है कि रति प्रमोदात्मा है। प्रमोद एक विशेष प्रकार का आनन्द है। यहाँ मालती को देखकर उत्फुल्ल हुए माधव के प्रमोद का वर्णन है और यही प्रमोद रति-भाव का रूप है ॥

युवति-विभाव, जैसे मालविकाग्निमित्र (२।३) में—(नायक अग्निमित्र मन-ही-मन मालविका के विषय में सोच रहा है) 'इसका मुख बड़ी-बड़ी आँखों से युक्त तथा शरद् के चन्द्रमा के समान कान्तिवाला है; भुजाएँ कन्धे पर कुछ झुकी हुई हैं, मोटे तथा ऊँचे स्तनों से वक्षःस्थल कसा हुआ है, दोनों पार्श्व-भाग मानो परिमार्जित किये हुए हैं, कमर मुट्ठी भर है (पतली है,) जाँघें सुन्दर नितम्बों से युक्त हैं, दोनों चरण किञ्चित् झुकी हुई अँगुलियों से शोभित हैं। इस प्रकार नृत्य के उपदेष्टा की जैसी इच्छा होती है वैसा ही इसका शरीर गढ़ा गया है' ॥

विशेषः—जहाँ युवती के यौवन का वर्णन किसी युवक के रति-भाव का निमित्त हुआ करता है, वहाँ युवतिभाव होता है ॥

युवक तथा युवती—दोनों का विभाव, जैसे मालतीमाधव (१-१८) में—(कामन्दकी कह रही है)—'प्रासाद की अटारी के उत्तुङ्ग वातायन में विराजमान रति-सदृशी मालती, अपने पार्श्व-नगर की गली से बार-बार आने-जानेवाले साक्षात् नूतन कामदेव के सदृश माधव को देख-देखकर उत्कट उत्कण्ठा से युक्त है, अतः स्पन्दित होते हुए सुन्दर अङ्गों से पीड़ित हो रही है' ॥

विशेषः—जहाँ युवक तथा युवती—दोनों ही प्रेमासक्त हो एक-दूसरे की अभिलाषा रखते हैं वहाँ दोनों का यौवन पारस्परिक रति-भाव का निमित्त होता है। अतः दोनों ही वहाँ विभाव होते हैं ॥

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥' ३०२ ॥

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥' ३०३ ॥

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति । (स्थायिनम्)
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४९ ॥

(नायक-नायिका का) परस्पर अनुराग, जैसे वहीं (मालतीमाधव १।३२ में माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है)—'जाती हुई, बार-बार (मुझे देखने के लिए) किञ्चित् वक्र ग्रीवावाले अतः पार्श्व भाग की ओर मुड़े हुए वृन्त से युक्त कमल के सदृश मुख को धारण करती हुई, घनी भौंहों से सुशोभित आँखोंवाली मालती ने अमृत तथा विष से सिक्त कटाक्ष मानो मेरे हृदय में गहरा गाड़ दिया है।'

अङ्गों की मधुर चेष्टाएँ जैसे वहीं (मालतीमाधव १।३०, माधव मकरन्द से कह रहा है)—'निश्चल तथा विकसित, ऊपर की ओर चलनेवाली भ्रूलताओं से युक्त, स्निग्ध तथा मुकुलित, अपाङ्ग तक फैली हुई, मेरे नेत्रों से मिलने पर कुछ सकुचाई हुई-सी (मालती की) विविध दृष्टियों का मैं पात्र हो गया' ॥

विशेषः—अङ्गों की मधुर चेष्टाएँ अनुभाव हैं। यहाँ इस श्लोक में मालती की मधुर अङ्ग-चेष्टाओं का वर्णन है ॥

श्रृङ्गार के पोषक तथा विरोधी भाव

जो आठ सात्त्विक भाव तथा आठ स्थायी भाव एवं तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं ये सभी मिल कर उनचास (४९) होते हैं। आलस्य, उग्रता, मरण तथा जुगुप्सा—इन भावों का श्रृङ्गार के साथ एक ही आश्रय (व्यक्ति) में अवस्थान नहीं होता है (अर्थात् श्रृङ्गार के साथ इन भावों का आलम्बनैक्य विरोध माना गया है) ॥४९॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत्। युक्त्या = अङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बन-विभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते। प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरित-वृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि—दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिका-न्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात्।

तैंतीस व्यभिचारी भाव, आठ स्थायी भाव और आठ सात्त्विक भाव ये सब मिल-कर उनचास (४९) भाव हैं। युक्ति अर्थात् अङ्गरूप में वर्णित होकर ये शृङ्गार रस के परिपोषक होते हैं। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा तथा मरण आदि भावों की यदि एक (अर्थात् रति भाव के) आलम्बन का ही आश्रयण कर साक्षात् या अङ्गरूप से वर्णन किया जाता है तो विरोध होता है। अन्य प्रकार से इनकी योजना यदि की जाय तो कोई विरोध नहीं होता; यह बात पहले (४।३४ में) बतलायी ही जा चुकी है।

विशेषः—स्थायिन एव चाष्टौ—शृङ्गार रस के सन्दर्भ में रति उस (शृङ्गार) का स्थायी भाव होता है तथा शेष सात (७) उसके सञ्चारी हुआ करते हैं। **आश्रयाद्वैत-विरुद्धम्**—इसका आशय यह है कि जो प्रमदा रति का आलम्बन होती है, वही शृङ्गार के विरोधी आलस्य आदि का आलम्बन नहीं बनती। **प्रकारान्तरेण**—अन्य आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर आलस्य आदि का वर्णन किया जा सकता है।

शृङ्गार के विभाग

वह (शृङ्गार रस) तीन प्रकार का होता है—(क) अयोग, (ख) विप्रयोग तथा (ग) सम्भोग।

'विप्रलम्भ शब्द औपचारिकमात्र न रह जाय, इस कारण यहाँ दोनों (अर्थात् अयोग एवं विप्रयोग) को सामान्य रूप से कहने के लिए (दोनों के वाचक के रूप में) विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। सच तो यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार एक विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही है। जैसे कि—(किसी स्थान पर जाने का) सङ्केत देकर जब नायक वहाँ नहीं पहुँचता तथा समय बीत जाता है और वह नायक दूसरी नायिका का अनुसरण करता है, तब इस बात को सूचित करने के

त्रयस्त्रिंशदिति। सम्पादयन्ति=परिपोषयन्ति। **एकालम्बनविभावाश्रयत्वेन**—यमा-लम्बनविभावमाश्रित्य रतिरुपनिबध्यते तमेवाश्रित्य तद्विरोधिनो भावा नोपनिबध्यन्ते। **प्रकारान्त-रेण**—भावान्तरव्यवधानेन, अन्यालम्बनविभावाश्रयेण वेति॥

शृङ्गारस्य भेदं दर्शयति—**अयोगेत्यादिना**। विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति स एतत्सामान्याभिधायित्वेन न प्रयुक्तः। कुतः? विप्रलम्भस्य अयोगविप्रयोगविशेषत्वादित्यन्वयः॥

शृङ्गार के भेद—

वह (शृङ्गार रस) तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग।

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः, पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद् गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोगः ।

लिए मुख्यतः 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि विप्रलम्भ शब्द का अर्थ है—वञ्चना।

विशेषः—विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि विप्रलम्भ सामान्यतः नायक एवं नायिका के संयोगाभाव को ही अभिहित करता है। बल्कि उसके द्वारा मुख्यतया वञ्चनारूप अर्थ भी बोधित होता है। जहाँ किसी प्रेमिका को मिलने का सङ्केत देकर भी नायक नहीं आता और दूसरी नायिका से मिलने चला जाता है उस वञ्चना को साहित्य-शास्त्र में विप्रलम्भ कहते हैं। विप्रलम्भ का यही मुख्य अर्थ है। विप्रलम्भ के दो भेद हैं—अयोग तथा विप्रयोग। इस प्रकार विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ है। सभी प्रकार का अयोग व विप्रयोग तो विप्रलम्भ है नहीं। ऐसी अवस्था में यदि अयोग एवं विप्रयोग को बतलाने के लिए विप्रलम्भ का प्रयोग किया जायगा तो वह मुख्य न होकर औपचारिक होगा। यही कारण है कि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग न कर अयोग तथा विप्रयोग का यहाँ प्रयोग किया गया है।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वात् – यतः अयोगविशेष तथा विप्रयोगविशेष ही विप्रलम्भ है। **एतत्सामान्याभिधायित्वेन**—सामान्य अयोग तथा सामान्य विप्रयोग के वाचक रूप से। **उपचरितवृत्तिः**—औपचारिक। विशेष अर्थ का वाचक शब्द जब सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है तो वह औपचारिक (गौड, लाक्षणिक) माना जाता है।

अयोग

उनमें अयोग वहाँ होता है जहाँ नवयौवन से युक्त, परस्पर अनुरक्त (एकचित्त) नायक-नायिका का, प्रबल चाह रहने पर भी, दूसरे (अर्थात् माता-पिता आदि) के अधीन रहने के कारण अथवा दैववश (एक-दूसरे से) दूर रहने से मिलन नहीं हो पाता है ॥५०-५१॥

(नायक-नायिका का) एक-दूसरे को स्वीकार करना ही योग है। उसका अभाव ही अयोग कहलाता है। पराधीनतावश दूर रहने के कारण जो अयोग होता है, उसका उदाहरण है; जैसे दैव तथा उसके साथ ही माता-पिता आदि के अधीन होने के कारण सागरिका का वत्सराज के साथ तथा मालती का माधव के साथ मिलन

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥
अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥' ३०४ ॥

नहीं हो पाता। (विशुद्ध) दैववश होने वाला अयोग है; जैसे पार्वती और शिव का (बहुत दिनों तक) मिलन नहीं होता।

अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएँ

अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएँ हुआ करती हैं। उनमें सर्वप्रथम अभिलाषा है। उसके बाद क्रमशः चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता और पुनः मरण अवस्थाएँ होती हैं। इनमें पूर्व-पूर्व अवस्थाओं की अपेक्षा आगे-आगे की अवस्थाएँ अधिक दुःखदायिनी हुआ करती हैं ॥ ५१-५२ ॥

विशेषः—इन अवस्थाओं का स्वरूप तथा उदाहरण आदि आगे दिखलाये जा रहे हैं—

१—अभिलाष

उनमें अभिलाषा वह है जिसमें सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रिय के दिखलाई पड़ने पर अथवा उसके विषय में सुनने पर उसके प्रति उत्कट इच्छा का होना पाया जाय। उसमें विस्मय, आनन्द तथा सम्भ्रम (साध्वस)—ये तीन अनुभाव हुआ करते हैं। (प्रिय का) दर्शन, १—साक्षात् रूप से, २—चित्र में, ३—अत्यन्त हल्की निद्रावाले स्वप्न में, अथवा ४—माया (इन्द्रजाल आदि) में हुआ करता है। उसे (प्रिय) का श्रवण (क) सखी के द्वारा, (ख) गीत के द्वारा, तथा (ग) मागध आदि के द्वारा गुण-कीर्तन के बहाने से हुआ करता है ॥ ५३-५४ ॥

अभिलाष, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल (१।२३) में (कण्व के आश्रम में सुन्दरी शकुन्तला पर मुग्ध हुआ दुष्यन्त सोच रहा है)—'निश्चय ही यह शकुन्तला क्षत्रिय के ग्रहण-योग्य है तभी तो मेरा पवित्र मन इसके लिये लालायित हुआ है। सन्देहास्पद वस्तुओं के विषय में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण हुआ करती है' ॥

अभिलाष इति। **स्पृहा**=उत्कटेच्छा, **विस्मयानन्दसाध्वसाः** तत्रानुभावा भवन्ति। नायिकया प्रियस्य दर्शनं **साक्षात्**=प्रत्यक्षं **प्रतिकृतौ**=चित्रे **स्वप्नच्छायायाम्**=स्वप्नावस्थायां **मायायाम्**=इन्द्रजालादि के, **व्याजात्**=द्वारा, **श्रुतिः**=श्रवणम् ॥

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥' ३०५ ॥

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

'सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥' ३०६ ॥

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥' ३०७ ॥

यथा वा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' ३०८ ॥

विस्मय जैसे—'कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर युवक शिर हिलाने लगता है । (ऐसा वह इसलिए करता है) मानो उन स्तनों के बीच गड़ी हुई अपनी दृष्टि को (हिलाकर) उखाड़ रहा है' ॥

आनन्द, जैसे विद्धशालभञ्जिका (१।३१) में (प्रासाद के परकोटे के समीप नायिका के मुख को देखकर नायक कह रहा है)—'जरा परकोटे के अग्रभाग पर तो निगाह डालो और विचार करो कि बिना आकाश के ही मृग (के लाञ्छन) से विहीन यह कौन चन्द्रमा है, जो लवली के फलों को पक्वता प्रदान करनेवाली, अमृत के ग्रसन में तत्पर उपवन के चकोरों के द्वारा पान की जाती हुई स्वच्छ चाँदनी को बिखेर रहा है' ॥

साध्वस (सम्भ्रम), जैसे कुमारसम्भव (५।८५) में—'उन (शिव) को देखकर पर्वतराज (हिमालय) की पुत्री (पार्वती) का कोमल कृश शरीर काँपने लगा । वे आगे बढ़ने के लिए उठाये हुए पग को लिये हुए, मार्ग में पर्वत के आ जाने से क्षुब्ध हुई नदी के समान, न आगे बढ़ सकीं और न ठहर ही सकीं' ॥

अथवा जैसे, (कुमारसम्भव ८।२)—'कुछ कहने पर उत्तर नहीं दिया, आँचल पकड़ लेने पर वहाँ से चली जाने के लिए उद्यत हो गईं, शय्या पर दूसरी ओर मुख करके सोयीं । किन्तु फिर भी शंकरजी के लिए आनन्ददायिनी थीं' ॥

विशेषः—अभिलाषा के होने पर विस्मय, आनन्द तथा साध्वस हुआ करते हैं । इन्हें देखकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि तरुणी किसी को हृदय से चाह रही है ॥

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम्॥ ५५॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

दिङ्मात्रं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते॥ ५६॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम्।

अथ विप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा॥ ५७॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः।

अनुभाव तथा विभाव के सहित चिन्ता आदि तो पहले ही प्रदर्शित किये जा चुके हैं।

यहाँ गुणकीर्तन (गुणकथा) का अलग से लक्षण या व्याख्यान नहीं किया गया है, क्योंकि वह स्पष्ट ही है।

विशेषः—पूर्वम्—व्यभिचारी भावों के वर्णन के प्रसङ्ग में (४।९-३३) गुणकथा = प्रिय के गुणों के वर्णन के कथन किया जा चुका है॥

आचार्यों के द्वारा (अयोग की) दस अवस्थाओं का ही प्रदर्शन किया गया है, क्योंकि प्रायः ये ही अवस्थाएँ हुआ करती हैं। वैसे तो महाकवियों के प्रबन्धों में उन अवस्थाओं के अनन्त प्रकार देखे जा सकते हैं॥ ५५-५६॥

केवल निर्देश भर के लिए यहाँ दिखलाया जा रहा है।

(प्रिय को) देखने अथवा (उसके विषय में) सुनने पर जो अभिलाषा उत्पन्न होती है तो उस (अभिलाषा) से क्या मिलन की उत्सुकता नहीं जागृत होती? फिर (प्रिय के) न मिलने पर क्या निर्वेद नहीं होता? तथा अत्यधिक चिन्ता से क्या ग्लानि नहीं होती? (इस प्रकार अभिलाषा की दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की भी अवस्थाएँ पायी जाती हैं)॥ ५६-५७॥

बाकी छिपकर प्रेम करना आदि (अयोग की) अवस्थाएँ कामसूत्र से ज्ञात की जा सकती हैं।

विप्रयोग

(अत्यन्त प्रेम के कारण) जिनका परस्पर का विश्वास अत्यन्त दृढ हो चुका है ऐसे नायक एवं नायिका का अलग हो जाना ही विप्रयोग कहलाता है। यह (विप्रयोग) दो प्रकार का होता है—(१) मानविप्रयोग, तथा (२) प्रवासविप्रयोग। मान भी दो तरह का होता है—(क) प्रणय में और (ख) ईर्ष्या में॥ ५७-५८॥

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च। मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति।

तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः स च द्वयोर्नायकयोर्भवति। तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥' ३०९ ॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित—
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत्।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता—
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥' ३१० ॥

मिले हुए नायक-नायिका का अलग हो जाना ही विप्रयोग कहलाता है। उसके दो भेद होते हैं—मान और प्रवास। मानविप्रयोग भी दो प्रकार का होता है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान।

इनमें नायक-नायिका में से किसी एक अथवा दोनों के कोपयुक्त होने पर प्रणयमान हुआ करता है ॥ ५८ ॥

प्रेम के द्वारा (प्रिय या प्रिया को) वश में करना ही प्रणय है। इस प्रणय को भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान कहलाता है। यह प्रणयमान दोनों—नायक तथा नायिका—में हुआ करता है। उनमें नायक का प्रणयमान है, जैसे उत्तररामचरित (३।३७) में—

(वनदेवी वासन्ती राम से कह रही है)—'इसी लता-गृह में आप सीता के आगन-मार्ग में दृष्टि लगाये हुए थे और वह हंसों से कौतुक कर गोदावरी नदी के बालुकामय तट पर काफी देर तक रुकी रही। (वहाँ से) वापस आती हुई सीता ने आपको कुपित-सा देखकर कातरता से कमल के मुकुल की तरह सुन्दर प्रणामाञ्जलि बाँध ली ॥'

नायिका का प्रणयमान, जैसे श्रीवाक्पतिराज देव के पद्य में—

'देवी (पार्वती) को प्रणय से कुपित देख कर हड़बड़ाहट तथा आश्चर्य से भरे हुए त्रिलोकी के अधिपति शिव भयवश सद्यः प्रणाम करने लगे। पर प्रणाम में शिर झुकाये हुए शिव के शिर पर गङ्गा के दिखलायी पड़ने पर पार्वती ने पैर से उन्हें मार दिया। त्रिलोचन शिव की यह विचित्र अवस्था आपकी रक्षा करे ॥'

उभयोः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम्।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो ॥ ३११ ॥
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥')

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९ ॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः।
त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सति। अन्यासङ्गः श्रुतो वानुमितो दृष्टो वा स्यात्।

तत्र श्रवणं सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वात्। यथा ममैव—

'सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता।

दोनों का प्रणयमान, जैसे (गाथा सप्त० २७)—

(नायक तथा नायिका को प्रणयमान किये हुए देखकर सखियाँ आपस में कह रही हैं)—'बताओ तो सही, प्रणय से कुपित, मानयुक्त, झूठे ही सोये हुए, बिना हिले-डुले साँस रोक कर (यह जानने के लिए कि उसे नींद आ गयी अथवा नहीं) एक दूसरे की ओर कान लगाये हुए इन दोनों में कौन मल्ल (वीर, अधिक जिद्दी) है' ?

ईर्ष्यामान

प्रियतम को किसी दूसरी नायिका में आसक्त सुनकर, अनुमान कर अथवा स्वयं देखकर स्त्रियों में जो कोप होता है, उसे ईर्ष्यामान कहते हैं। इनमें से सुनना तो सखी के मुख से होता है। (प्रियतमकृत अपराध का) अनुमान तीन प्रकार से होता है—(प्रियतम की) स्वप्न की बड़बड़ाहट से, (प्रियतम के शरीर पर दूसरी नायिका के साथ किये गये) भोग के चिह्नों को देखने से तथा (प्रियतम के द्वारा) भूलकर दूसरी नायिका का नाम लेने से। इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखा गया दृष्ट कहलाता है ॥ ५९-६० ॥

अपने प्रियतम को दूसरी नायिका में आसक्त जान कर ईर्ष्यामान होता है। यह ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही हुआ करता है। (प्रियतम की) दूसरी नायिका में यह आसक्ति (नायिका के द्वारा) सुनी गयी होती है अथवा अनुमान की गयी होती है अथवा प्रत्यक्ष देखी गयी होती है। इनमें सुनना सखी के मुख से हुआ करता है; क्योंकि वह विश्वासपात्र हुआ करती है। जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(ईर्ष्यामानवाली नायिका से नायक कह रहा है—) 'हे सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरी, तुम मक्खन की तरह कोमल हृदयवाली हो, अतः दुष्ट मन्त्रणा देने वाले,

किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥' ३१२ ॥

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥' ३१३ ॥

भोगाङ्कानुमितो यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥' ३१४ ॥

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥' ३१५ ॥
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥')

झूठे ही प्रिय करनेवाले, ऊपर से ही प्रिय वचन बोलनेवाले किसी व्यक्ति के द्वारा तुम हम पर कुपित कर दी गयी हो । किन्तु हे मृगनयनी, क्षण भर के लिए जरा सोचो तो सही कि इन सभी प्रियजनों में तुम्हारा (सच्चा) हितैषी कौन है ? यह धाय की दुहिता या यह सखी या हमारे मित्र अथवा हम' ॥

अनुमान से अन्यासक्ति के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं—

(क) स्वप्न की बड़बड़ाहट से होने वाला, जैसे रुद्र कवि का पद्य है—

"जल में डुबकी लगा कर मैंने कामावेग के कारण सखी का आलिङ्गन कर लिया, यह मिथ्या बात किसने आज तुमसे कह दी । हे राधा, (जिससे) तुम व्यर्थ ही कुपित हो रही हो"—इस तरह स्वप्न की बड़बड़ाहट में शय्या पर सोये हुए कृष्ण के वचन को सुनकर रुक्मिणी (लक्ष्मी) ने कोई बहाना बनाकर (कृष्ण के) कण्ठालिङ्गन को ढीला कर दिया । वही (कण्ठग्रह) आप लोगों की रक्षा करे' ॥

(ख) (दूसरी नायिका के) भोग के चिह्न से अनुमान की गयी (अन्यासक्ति) यह है, जैसे (माघ ११।३४ में कोई नायिका नायक से कह रही है)—'ताजे नखक्षत से युक्त अङ्ग को वस्त्र से ढँक रहे हो, दाँतों से काटे गये ओष्ठ को हाथ से छिपा रहे हो । किन्तु चतुर्दिक् फैलने वाले, अन्य स्त्री के समागम को सूचित करने वाले इस नूतन परिमल-गन्ध को कैसे छिपाया जा सकता है' ?

गोत्र-स्खलन से अनुमित (अन्यासक्ति) जैसे, (हाल ९६७, नायिका की सखी

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित—
त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत्
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता—
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥' ३१६ ॥

एषाम्—

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एषाम् = श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः—क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तम् = मानम् । उपाचरेत् = निवारयेत् ।

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥

नायक से कह रही है)—'हे दुष्ट, हँसी में तुम्हारे द्वारा दूसरी स्त्री का नाम लिया जाने पर छल-कपट से अनभिज्ञ वह वधू (जाया) वस्तुतः रोने ही लगी। तुम अपने परिहास को तो देखो' ॥

विशेषः—गोत्रस्खलन०—भूल से किसी दूसरी नायिका का नाम लेना गोत्र-स्खलन कहलाता है ॥

(ग) प्रत्यक्षरूप से देखा गया (दृष्ट) जैसे श्री मुञ्ज का पद्य है—

'(देवी पार्वती) को प्रणय से कुपित देखकर हड़बड़ाहट तथा आश्चर्य से भरे हुए त्रिलोकी के अधिपति शिव भयवश सद्यः प्रणाम करने लगे। किन्तु प्रणाम में शिर झुकाए हुए शिव के शिर पर गङ्गा के दिखलायी पड़ने पर पार्वती ने पैर से उन्हें मार दिया। त्रिलोचन शिव की यह विचित्र अवस्था आपकी रक्षा करे' ॥

इन (श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले ईर्ष्यामानों) में—

(श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले मानों में) क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती अधिक श्रमसाध्य हुआ करता है। इन मानों का छः प्रकार के उपायों से उपशमन करना चाहिए। ये उपाय हैं—(१) साम, (२) भेद, (३) दान, (४) प्रणति, (५) उपेक्षा तथा (६) अन्य रस' ॥ ६१ ॥

इनमें अर्थात् श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले मानों में बाद-बाद वाला मान गुरु अर्थात् क्लेश से दूर किया जा सकने वाला होता है। 'तम्' का अर्थ है—उस मान को। 'उपाचरेत्' अर्थात् निवारित करे।

इनमें प्रिय वचन बोलना साम है, नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेना ही भेद है, किसी बहाने से आभूषण आदि का देना ही दान है, पैरों पर ('मुझे क्षमा कर दो' ऐसा कहते हुए) गिर जाना ही नति है। साम आदि इन चारों

सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः।

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव—

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥' ३१७ ॥

यथा वा—

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥' ३१८ ॥

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥ ३१९ ॥

उपायों के विफल हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीन हो जाना ही उपेक्षा है। रभस (शीघ्रता, उद्विग्नता), भय तथा हर्ष आदि से (नायिका के) कोप का उपशमन ही रसान्तर है। स्त्रियों की जो कोप-चेष्टाएँ हुआ करती हैं, उनका प्रतिपादन तो पहले ही किया जा चुका है ॥ ६२, ६३, ६४ ॥

इनमें प्रियवचन रूप साम, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(कोई नायक नायिका को मनाते हुए कह रहा है—) 'हे सलोनी शरीरवाली, तुम्हारा मुखचन्द्र अपनी मुस्कराहटरूप चाँदनी से सारे जगत् को धवल बना रहा है, तुम्हारी दृष्टियाँ चारों ओर अमृतरस-सा बरसा रही हैं, तुम्हारा शरीर चारों दिशाओं में मधुर लावण्य छिटका रहा है। फिर आज तुम्हारे हृदय ने यह निष्ठुरता कहाँ से बटोर ली है' ?

अथवा जैसे (शृङ्गारतिलक ३)—'हे प्रेयसि, विधाता ने नीलकमल से तुम्हारे नेत्र को, लालकमल से मुख को, कुन्द पुष्प से दाँतों को, नवपल्लव (नयी-नयी लाल-कोपलों) से अधरोष्ठ को तथा चम्पा की पंखुड़ियों से तुम्हारे अङ्गों को बनाया है। किन्तु (तुम्हारे) चित्त को पत्थर-सा कैसे बना दिया (यही नहीं समझ में आता)' ॥

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेना ही भेद है। इसके उदाहरण के लिए जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

'मुहुरुपहसितामिवालिनादै—
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥ ३२० ॥

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

'णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअं त्ति च्चिअ कहेइ ॥ ३२१ ॥
('नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ॥')

उपेक्षा तदवधीरणं यथा—

'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥' ३२२ ॥

(मना कर थका हुआ नायक नायिका से कह रहा है)—'हे सुन्दर भौंहोंवाली प्रिये, अनेक बार (तुम्हारी) आज्ञा का उल्लङ्घन करके भी जब मैं तुम्हारे सामने चरण छूने के लिए नत होने लगता था तो तुम मुस्कराकर बीच में ही मुझे हाथ से पकड़ कर कोप को छोड़ दिया करती थी। पर आज यह कैसा अपूर्व कोप तुमने धारण किया है कि जिसके समक्ष प्रिय सखियों के स्नेह भरे वचन भी निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं' ॥

किसी बहाने से आभूषण आदि देना ही दान है, जैसे माघ (७।५५) में—(मान किये बैठी कोई नायिका नायक से कह रही है—) 'भ्रमरों की गुञ्जार से मानो जिसका बार-बार उपहास किया जा रहा है, ऐसी कलिका (नन्हीं-सी कली) को मुझे क्यों दे रहे हो ? हे शठ, रात्रि में उस (नायिका) के घर जाकर आज तुमने महान् कलि (१–क्लेश, २–कली) ही हमें दे दी है' ॥

(नायिका के चरणों में गिरना ही नति है, जैसे (गाथा० १८८)—'प्रिया के पैरों पर गिरे हुए प्रिय के केश, जो कि प्रियतमा के नूपुरों से उलझ गये हैं, इस बात को बतला रहे हैं कि नायिका का मानी हृदय अब मान से उन्मुक्त हो गया है' ।

प्रिया के प्रति उदासीन हो जाना ही उपेक्षा है, जैसे—

(जब बहुत प्रकार से मनाने पर भी नायिका नहीं मानती है, तब वह नायक उदासीन होकर उसके पास से चला जाता है। इस पर नायिका अपनी सखी से कह रही है—) 'हे सखि, उसके समीप जाने से क्या (लाभ) ? जाना ठीक नहीं है। किन्तु स्वामी के प्रति कठोरता भी समीचीन नहीं है। अनुनय-विनय करके तुम उसे ले आओ। अथवा (मेरा) अनभल करनेवाला व्यक्ति मनाने योग्य भी कैसे हो सकता है ? (अर्थात् उसे मनाना भी ठीक नहीं है)' ॥

रभसत्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव—
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम्।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥ ३२३ ॥

अथ प्रवासविप्रयोगः—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥ ६४ ॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

'होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम्।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ॥' ३२४ ॥

हड़बड़ी, त्रास तथा हर्ष आदि के द्वारा किसी अन्य रस की उत्पत्ति के कारण कोप का शमन, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'सिद्ध अपराधवाला, (प्रिया को मनाने के लिए) निष्फल सम्पूर्ण प्रयासवाला धूर्त नायक काफी देर तक सोच-विचार करके सद्यः निपुणतापूर्वक बनावटी भय के साथ 'यह पीछे !, पीछे क्या है !' ऐसा कह कर नायिका को एकाएक डराकर (पुनः भयवश) शरीर से लिपटती हुई वधू का मौज से मुस्कराते हुए आलिङ्गन करता है' ॥

प्रवासजनित विप्रयोग

किसी कार्यवश, किसी विप्लव (या गड़बड़ी) से अथवा शाप के कारण (नायक-नायिका का) अलग-अलग स्थानों में रहना प्रवास-विप्रयोग कहलाता है। इसमें नायक तथा नायिका दोनों ही में अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, (न सँवारे जाने के कारण) बालों का बढ़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं। इनमें कार्यवश होनेवाला प्रवास बुद्धिपूर्वक (अर्थात् जान-बूझ कर) होता है और वह तीन प्रकार का होता है—भावी (भविष्यत्), वर्तमान (भवत्) तथा भूत (अर्थात् जो हो चुका है तथा थोड़ा बाकी है) ॥ ६४-६५ ॥

प्रथम अर्थात् कार्यवश होनेवाले प्रवास में समुद्र-यात्रा तथा नौकरी आदि कार्य के लिए बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है, अतः वह तीन प्रकार का होता है—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान।

इनमें 'यास्यत्प्रवास (अर्थात् भावी प्रवास) का उदाहरण जैसे (गाथा० ४७)—

'प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से दुःखी भावी पथिक (अर्थात् भविष्य में

('भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद् गृहेषु प्रियविरहसहीका ॥')

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥' ३२५ ॥

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥' ३२६ ॥

परदेश जानेवाले) की पत्नी पड़ोसिनियों से, पति के परदेश चले जाने पर, जीवन को धारण करने के रहस्य के विषय में पूछती हुई घर-घर फिर रही है ॥'

विशेषः—यास्यत्प्रवास—यास्यत्प्रवास उस प्रवास को कहते हैं, जब कि प्रिय विदेश गया न हो, किन्तु शीघ्र ही दो-चार दिन में जाने वाला हो ।

पृच्छन्ती भ्रमति—इस परदेश जानेवाले की प्रिया अभी तरुणी है । उसने अभी कभी प्रिय का वियोग सहा नहीं है । अतः पहली बार वह यह नहीं समझ पा रही है कि प्रियतम के बिना जीऊँगी कैसे ? वह घर-घर घूम कर पड़ोसिनियों से पूछ रही है—'बहन जी, जब आपके प्राणनाथ परदेश चले जाते हैं, तब वह कौन-सा तरीका है, जिससे आप लोग जीवित रहती हैं ।'

गच्छत्प्रवास का (जब कि पति परदेश के लिए प्रस्थान कर रहा है, उस समय का) उदाहरण जैसे अमरुशतक में—

'हे नाथ, एक प्रहर के बाद, या दिन के मध्य तक, या अपराह्न तक अथवा सूर्य के अस्त होने तक तो लौट आओगे न ?' आहें भरती हुई आँसुओं को बहा कर इस प्रकार के वचनों से नायिका बड़े दूर (अर्थात् सौ दिन में प्राप्य) देश को जाने की इच्छावाले प्रिय का जाना रोक रही है' ॥

अथवा जैसे, वही (अमरुशतक के पद्य ९९ में)—

प्रिया अनेक देशों तथा सैकड़ों नदी व पहाड़ोंवाले काननों से अन्तर्हित है, (अतः) यत्न करने पर भी आँखों से देखी नहीं जा सकती, इस बात को जानते हुए भी नेत्रों में आँसू भरे हुए पथिक गर्दन ऊँची करके तथा एँड़ी उठा कर उस देश की दिशा की ओर (जिधर कि उसकी प्रिया रहती है) पता नहीं क्या-क्या सोचता हुआ बड़ी देर तक खड़ा रहता है' ॥

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥' ३२७ ॥

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लपाद्वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

(अतीत समय में) चले गये (और निकट भविष्य में वापस होने वाले) पुरुष का प्रवास यह है, जैसे मेघदूत (उत्तरमेघ २३) में—(यक्ष मेघ से कह रहा है)—'अथवा, हे भली आकृतिवाले, मलिन वस्त्रोंवाली गोद में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त रचे गये पदोंवाले गीत को गाने की अभिलाषिणी, पर नेत्र-जल (आँसुओं) से गीले तारवाली वीणा को किसी-किसी तरह ठीक करके बार-बार स्वविरचित मूर्च्छना को भी भूलती हुई (मेरी प्रिया तुम्हें दीख पड़ेगी)' ॥

(प्रियतम विदेश से) लौटकर आ रहा हो अथवा आ गया हो, ऐसी अवस्था में तो प्रवास ही नहीं रहता । और जब प्रियतम (विदेश से) लौट कर वापस आने-वाला हो तब तो गत-प्रवास से कोई भेद ही नहीं होता । अतः (प्रवासविप्रयोग) का तीन प्रकार का होना उचित ही है ।

सम्भ्रम से होनेवाला प्रवास

द्वितीय (अर्थात् सम्भ्रम से होने वाला) प्रवास वह है, जो दैवी उपद्रव या मनुष्यकृत विप्लव से सहसा होता है ।

भू-कम्प, अतिवृष्टि तथा बाढ़ आदि विपत्तियाँ, वज्रपात, आँधी आदि से होने-वाले (दिव्य) उपद्रव के कारण अथवा शत्रु-राजा के द्वारा घेरा डालने आदि से होनेवाले (मानुष) उपद्रव के कारण होनेवाला सम्भ्रमजन्य प्रवास एक ही प्रकार का होता है; क्योंकि वह सभी बिना पूर्व सोच-विचार के ही (अबुद्धिपूर्वक) हुआ करता है। उदाहरणार्थ विक्रमोर्वशीय नाटक में उर्वशी और पुरुरवा का प्रवास (दैवी उपद्रव के कारण) तथा मालती माधव में कपालकुण्डल के द्वारा मालती का अपहरण कर लिये जाने पर मालती और माधव का (मानवकृत उपद्रव के कारण) प्रवास होता है ।

शाप से होनेवाला प्रवास

नायक तथा नायिका के पास में रहने पर भी स्वरूप परिवर्तन के कारण जो देशान्तर गमन (का अनुभव) होता है, वह शाप से होनेवाला प्रवास है ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशंपायनस्येति ।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न श्रृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासश्रृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८ ॥

जैसे कादम्बरी में वैशम्पायन का प्रवास है ।

विशेषः—शापज प्रवास के लिए यहाँ दिया गया लक्षण कुछ ठीक नहीं प्रतीत होता । वस्तुतः शाप के कारण होनेवाला प्रिया के साथ प्रिय का वियोग शापज प्रवास है । मेघदूत में यक्ष का यक्षिणी के साथ हुआ वियोग उसका समीचीन उदाहरण है ।

प्रवास-विप्रयोग तथा करुण रस में भेद

एक व्यक्ति (नायक अथवा नायिका) के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति विलाप करता है, वहाँ करुण (शोक) रस ही होता है, प्रवास विप्रयोग नहीं अर्थात् श्रृङ्गार नहीं होता; क्योंकि वहाँ श्रृङ्गार का आलम्बन ही विनष्ट हो चुका रहता है । किन्तु (मृत नायक या नायिका) यदि पुनर्जीवित हो उठता है तो वहाँ करुण नहीं होता (अपितु श्रृङ्गार ही होता है) ॥ ६७ ॥

जैसे रघुवंश में इन्दुमती के मर जाने पर अज का विलाप (प्रवास विप्रयोग न होकर) करुण ही है । कादम्बरी में भी पहले तो पुण्डरीक के (परलोकगमन पर) करुण ही है, किन्तु आकाशवाणी होने के अनन्तर वहाँ प्रवास-विप्रयोग (श्रृङ्गार) ही है ।

विशेषः—दशरूपककार के कथन का अभिप्राय है कि पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में आकाशवाणी होने से पहले करुण ही है । इसका कारण यह है कि वहाँ रतिभाव का आलम्बन ही समाप्त हो जाता है । अतः रति का उद्भव ही सम्भव नहीं है । पर आकाशवाणी सुनने के बाद महाश्वेता के मन में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा अंकुरित हो उठती है, अतः रतिभाव का उद्भव होता है । अतः वहाँ विप्रयोग नामक श्रृङ्गार होता है । इसका शापजन्य प्रवास में अन्तर्भाव माना गया है । ऐसे स्थलों पर साहित्यदर्पणकार आदि करुण-विप्रलम्भ मानते हैं (देखिए ३।२०९) ॥

उनमें (अर्थात् अयोग तथा विप्रयोग के भेदों में) नायिका (की अवस्था) के बारे में यह नियम है—

प्रणयमान (विप्रयोग) में तथा अयोग में नायिका उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) होती है, प्रवास-विप्रयोग में प्रोषित-प्रिया, ईर्ष्यामान (से होनेवाले विप्रयोग) में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा तथा खण्डिता कहलाती है ॥ ६८ ॥

अथ संभोगः—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यथोत्तररामचरिते—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥' ३२८ ॥

अथवा। 'प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' ३२९ ॥

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागुरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते।

विशेषः—द्वितीय प्रकाश में २३ से २७ कारिका तक नायिका की आठ अवस्थाएँ वर्णित की गयी हैं। उनमें ही उत्कण्ठिता आदि प्रकार भी हैं॥

अब सम्भोग श्रृङ्गार को बतला रहे हैं—

वह आनन्दपूर्ण अवस्था सम्भोग श्रृङ्गार है, जिसमें दो विलासी जन अनुकूल होकर परस्पर दर्शन, स्पर्श आदि का उपभोग करते हैं ॥ ६९ ॥

जैसे, उत्तररामचरित (१।२७) में—

(राम सीता से कह रहे हैं कि हे सीते, क्या तुम्हें स्मरण है? यह वही स्थान है जहाँ) 'एक दूसरे के कपोलों पर कपोल सटाये धीरे-धीरे बिना किसी क्रम के ही कुछ बातें करते हुए अपनी एक भुजा को गाढ़े आलिङ्गन में लगाये हुए हम दोनों की वह रात्रि ही बीत गयी थी, उसके व्यतीत होते हुए प्रहरों का पता भी न चला था'॥

अथवा—प्रिये, यह क्या है?

'यह निश्चय नहीं हो सकता कि तुम्हारा यह स्पर्श मेरे लिये सुख है अथवा दुःख, यह मोह है अथवा नींद की बेहोशी, शरीर में यह विष का सञ्चार है अथवा मद। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श पर मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जो मेरी इन्द्रियों को निष्क्रिय बना देता है, हृदय को जड बना देता है तथा भीतर-ही-भीतर ताप भी उत्पन्न करता है'॥

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—

(नायक नायिका के सौन्दर्य की प्रशंसा में कह रहा है) 'हे कृशाङ्गी, वर्षाकालीन

नासावंशमनोज्ञकेतकतनुभ्रूपत्रगर्भोल्लसत्—
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥' ३३० ॥

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम्

'स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥' ३३१ ॥ इत्यादि

घन-घटा के समान चारों ओर सौन्दर्यरूप अमृत की वृष्टि करनेवाला, कृष्ण अगरु (की पत्र-रचना) से श्यामल तुम्हारा स्तनभार बहुत दूर तक उमड़ आया है। उसके उमड़ने पर तुम्हारे नासिका-वंश रूपी मनोहर केतकी के भौंहरूपी पत्रों में से प्रस्फुटित होते हुए पुष्प की शोभावाले तिलक का तुम्हारे केशरूपी भौंरों के द्वारा पान किया जा रहा है ॥'

सम्भोग में युवतियों की श्रृङ्गार चेष्टाएँ

इस (सम्भोग श्रृङ्गार) में नायिकाओं में प्रिय के प्रति लीला आदि दस चेष्टाएँ पायी जाती हैं। ये (सारी चेष्टाएँ) दाक्षिण्य, मृदुता एवं प्रेम के अनुरूप हुआ करती हैं ॥ ७० ॥

उदाहरण के सहित ये (चेष्टाएँ) नायकविषयक द्वितीय प्रकाश में दिखला दी जा चुकी हैं।

नायक कला, क्रीडा आदि के द्वारा उस नायिका के साथ रमण करे। रमण के समय उसे प्रियतमा की चाटुकारिता करनी चाहिए। उस समय न तो ग्राम्य आचरण करे और न नर्म (हँसी मजाक) को भ्रष्ट करनेवाला व्यवहार ही ॥ ७१ ॥

ग्राम्य-सम्भोग का तो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन निषिद्ध ही किया जा चुका है, किन्तु फिर भी यहाँ निषेध इसलिए कर रहे हैं कि काव्य में भी इसका वर्णन नहीं करना चाहिए।

(नायक के नागरिक आचरण का उदाहरण है) जैसे, रत्नावली (१।२१) में (राजा वासवदत्ता से कह रहे हैं)—

'हे प्रिये, तुम्हारे द्वारा कामदेव की अर्चना में संलग्न हाथ से स्पर्श किया गया अशोक-वृक्ष फूट करके निर्गत विलक्षण सुकोमल किसलय (नूतन-पत्र) वाला सा

रमयेदिति । चाटुकृत् = प्रियंवदः, **ग्राम्यम्** = असंस्कृतजनाचरणम्, अविदग्धचेष्टितमित्यर्थः, **नर्म** = वैदग्ध्यक्रीडितम्, नर्मनाशकं क्रोधादि वर्जयेदिति ॥

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीरः—

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥ ७२ ॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते = भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति ।

प्रतीत हो रहा है (अर्थात् अशोक पर रक्खा गया तुम्हारा हाथ ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें अत्यन्त सुकोमल एक दूसरा किसलय ही निकल आया हो)' ॥

सुकवि को चाहिए कि वह इस प्रकार (१) नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक, नाटिका आदि के लक्षणों के प्रसङ्ग में बतलाये गये; (२) कवि-परम्परा से अवगत तथा (३) औचित्य की सम्भावना के अनुरूप स्वयं कल्पित (बातों) को ध्यान में रखते हुए शृङ्गार रस की योजना करे ।

वीर रस

प्रताप, विनय, उद्योग या प्रयास, सत्त्व (बल), मोह, अविषाद, नय, विस्मय तथा पराक्रम आदि से होनेवाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस होता है । यह वीर रस दया, युद्ध और दान (रूप अनुभावों) के कारण तीन प्रकार का हो जाता है । उसमें मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष (व्यभिचारी भाव) होते हैं ॥ ७२ ॥

प्रताप, विनय आदि (विभावों) के द्वारा विभावित, करुणा, युद्ध, दान आदि (अनुभावों) से अनुभावित तथा गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क आदि (व्यभिचारी भावों) के द्वारा भावित उत्साह नामक स्थायी भाव आस्वादन का विषय होता है; अर्थात् सहृदयों के चित्त को विकसित करते हुए आनन्द प्रदान करता है; यही वीररस है । (यह वीर रस तीन प्रकार का होता है—दयावीर, युद्धवीर और दानवीर) । इनमें दयावीर का उदाहरण है, जैसे नागानन्द में जीमूतवाहन का उत्साह, युद्धवीर का उदाहरण है । वीरचरित में राम का उत्साह और दानवीर का उदाहरण है परशुराम और बलि आदि का दानविषयक उत्साह । जैसे (महावीरचरित २।३५ में परशुराम से राम कह रहे हैं—) 'सातों समुद्रों से वेष्टित पृथिवी के निष्कपट दानपर्यन्त आपका त्याग है ।'

(दानवीर का एक अन्य उदाहरण है बलि से दान लेनेवाले वामन के विराट्

'खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि विकसद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥' ३३२ ॥

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥' ३३३ ॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणां भावात्त्रैधं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

अथ बीभत्सः—

बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।

रूप का वर्णन) 'जिस विराट् शरीर में छोटी ग्रन्थियों से सन्धि-स्थलों के मुक्त हो जाने के कारण विकसित होते हुए वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि चमक रहा था, नाभि-कमल रूपी कुटी से गम्भीर साम-ध्वनि निकल रही थी, दान-पात्र की प्राप्ति के लिए उत्सुक बलि ने जिसे आनन्दपूर्वक देखा था, क्रमशः बढ़ते हुए गौरव एवं आश्चर्य से परिपूर्ण विष्णु का वह शरीर आपकी रक्षा करे' ॥

दानवीर का एक और अन्य उदाहरण जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'यह वही राजा बलि हैं, जिन्होंने लक्ष्मी के पयोधरों पर लगे कुङ्कुम से रक्ताभ विष्णु के कर को भिक्षा-पात्र बनाया था' ॥

विनय आदि के विषय में पहले (नायक के प्रकरण में) दिये गये उदाहरणों को ही समझना चाहिए। प्रताप, गुण तथा आकर्षण आदि के भेद से भी (प्रताप वीर इत्यादि) वीर हुआ करते हैं। अतः दयावीर आदि केवल तीन ही भेद इसलिए बतलाये गये हैं कि प्रायः तीन प्रकार के ही वीर हुआ करते हैं। (प्रायः कहने से और भी भेदों की स्वीकृति दे दी गयी है)। पसीना निकलना, मुख तथा नेत्रों का लाल होना आदि जो क्रोध के अनुभाव हैं, उनसे रहित होने पर युद्धवीर होता है और उनके होने पर रौद्र रस हुआ करता है।

विशेषः—प्रताप०—प्रताप आदि वीर रस के उद्दीपन विभाव होते हैं ॥

बीभत्स रस

बीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है (जुगुप्सैकभूः)। इसके तीन भेद होते हैं—(क) उद्वेगी बीभत्स, (ख) क्षोभण बीभत्स तथा (ग) घृणाशुद्ध बीभत्स। (क) उद्वेगी बीभत्स कीड़े, दुर्गन्ध तथा वमन आदि विभावों से होता है। (ख) क्षोभण बीभत्स रुधिर, अँतड़ियाँ, हड्डी, मज्जा तथा मांस आदि

**वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥ ७३ ॥**

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण-उद्वेगो बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥' ३३४ ॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सो यथा वीरचरिते—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण—
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस—
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥' ३३५ ॥

विभावों से होता है । तथा (ग) घृणाशुद्ध बीभत्स जघन एवं स्तन आदि (स्त्री-अवयव) के प्रति वैराग्य से होता है । यह नाक सिकोड़ना, मुख फेरना आदि अनुभावों से युक्त होता है । आवेग, आर्ति (व्याधि), शङ्का आदि इसमें (व्यभिचारी भाव) हुआ करते हैं ॥ ७३ ॥

विशेषः—साहित्यदर्पण दुर्गन्ध, मांस, रुधिर आदि को आलम्बन विभाव तथा उनमें कीड़ा पड़ने आदि को उद्दीपन विभाव बतलाता है ॥

(क)—हृदय को बिलकुल स्वीकार न होने वाले कीड़े एवं दुर्गन्ध आदि से होने वाला जो जुगुप्सा नामक स्थायी भाव है, उसका परिपाक ही बीभत्स रस होता है । यह उद्वेजक हुआ करता है । जैसे मालतीमाधव (५।४६) में—

'सर्वप्रथम चमड़े को उखाड़-उखाड़ कर कन्धे, कूल्हे तथा पीठ आदि के सन्धि-स्थलों में आसानी से प्राप्त, अत्यधिक सूजे हुए, बड़ी बुरी दुर्गन्धवाले मांस को चबा-कर आँखें फैलाता हुआ, आतुर तथा स्पष्ट दिखलायी पड़नेवाले दाँतों से युक्त यह दरिद्र प्रेत गोद में स्थित अस्थिपञ्जर से निकाले हुए मांस को भी हथेली पर रख कर आनन्द से खा रहा है' ॥

(ख)—क्षोभण बीभत्स रस रक्त, अँतड़ियाँ, हड्डी, मज्जा तथा मांस आदि से होता है । जैसे, महावीरचरित (१।३५) में—

'अँतड़ियों में गूँथे गये विशाल कपालों तथा जाँघ की हड्डियों (नलक) से बने हुए भयानक शब्द करने वाले, कङ्कण आदि अनेक चञ्चल आभूषणों की ध्वनि से आकाश को शब्दायमान करती हुई, पीकर वमन किये गये रुधिर के कीचड़ से लथपथ शरीर के ऊपरी भाग पर भीषण रूप से दिखलायी पड़ने वाले वेग से हिलते हुए स्तन-भार से भयावने शरीर वाली, यह कौन है ? जो बन्ध के कारण उद्धत रूप से भाग रही है' ॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणा शुद्धो बीभत्सो यथा :—

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥' ३३६ ॥

न चायं शान्त एव विरक्तः, यतो बीभत्समानो विरज्यते ।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः ।

(ग)—रमणीय प्रतीत होने वाले, सुन्दरियों के जाँघ तथा स्तन आदि के प्रति भी वैराग्य से होने वाली घृणा शुद्ध बीभत्स है । जैसे—

'कामरूपी ग्रह से पीड़ित व्यक्ति लार को मुख की मदिरा समझता है, मांस के पिण्डों को पयोधर मानता है तथा मांस एवं हड्डी के उभरे हुए भाग को जघन जानता है'॥

इस श्लोक में वर्णित विरक्त को शान्त रस से युक्त नहीं माना जा सकता है; क्योंकि कोई विरक्त तब होता है जब वह (रमणीय वस्तुओं से) घृणा करता है । (अतः घृणा या बीभत्स को वैराग्य का कारण माना जा सकता है और वही यहाँ है)।

विशेषः—उत्कृत्य० आदि में आलम्बन विभाव है शव, उसको नोच-नोच कर खाना उद्दीपन विभाव है ॥

मत्सर तथा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला जो क्रोध है, उसका परिपोष ही रौद्र रस कहलाता है । इसके बाद (मानसिक अनुभाव) क्षोभ उत्पन्न होता है; जो अपने ओठ को काटना, काँपना, भौंह चढ़ाना, पसीना आना तथा मुख का लाल होना एवं शस्त्र उठाना, डींग हाँकना, (हाथ से) कन्धे पर और (पैर से) पृथिवी पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना आदि (आङ्गिक, वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों) से युक्त होता है । अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता तथा वेग आदि, इसमें अनुभाव पाये जाते हैं ॥७४॥

मात्सर्य विभाव से होने वाला रौद्र, जैसे महावीरचरित (३।४४) में—

(परशुराम विश्वामित्र से कह रहे हैं) 'चाहे तुम ब्रह्मतेज को धारण करने वाले होओ अथवा अपनी जाति की प्रथा के अनुसार धनुर्धारी होओ । (दोनों ही अव-

---

क्रोध इति । मत्सरवैरिवैकृतमयैः—मत्सरश्च वैरिवैकृतञ्च मत्सरवैरिवैकृते तन्मयैः = तत्प्रधानैः, विभावैः । **अनुजः**—अयं क्षोभे विशेषणम्, क्षोभः क्रोधानन्तरभवः । क्षोभस्तु क्रोधस्य मानसिकोऽनुभावो वर्तते । अस्योत्पत्तिस्तु वाचिकाङ्गिकानुभावैः सह भवति ॥

उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि

पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥' ३३७ ॥

वैरिवैकृतादिर्यथा वेणीसंहारे—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

आकृष्टपाण्डवधूपरिधानकेशाः

स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥' ३३८ ॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः, परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।

हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ७५ ॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परि-

---

स्याओं में मैं तुम्हारे तेज को समाप्त करने में समर्थ हूँ) । तुम्हारी तपस्या को मैं अपने उग्र तप से खाक बना डालूँगा और यदि तुम धनुर्धारी क्षत्रिय हो तो उस अवस्था में मेरा परशु तुम्हारे योग्य आचरण करेगा—(अर्थात् तुम्हें मौत के घाट उतार देगा)'॥

शत्रु के द्वारा कृत अपकार आदि (विभाव) से होने वाला रौद्र यह है जैसे—वेणीसंहार (१।८) में (नेपथ्य से भीम कह रहे हैं)—

'लाक्षा (लाह) के घर में आग, विषमिश्रित भोजन तथा सभा में प्रवेश के द्वारा हम लोगों के प्राणों तथा धन-संग्रहों पर प्रहार करके (और) पाण्डवों की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र तथा बालों को खींच कर धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते जी, स्वस्थ होंगे (अर्थात् नहीं स्वस्थ होंगे)' ॥

इस तरह (मात्सर्य आदि) के विभावों से, प्रस्वेद, मुख का लाल होना आदि अनुभावों से एवं अमर्ष आदि व्यभिचारी भावों से हुआ क्रोध का परिपोष ही रौद्र रस कहलाता है । इसे महावीरचरित तथा वेणीसंहार आदि नाटकों में परशुराम, भीम तथा दुर्योधन आदि के आचरणों में देखा जा सकता है ।

विशेषः—लाक्षागृहानल० आदि में दुर्योधन आदि आलम्बन विभाव, उनके द्वारा आग लगाना उद्दीपन विभाव तथा उनके नाश का द्योतित संकल्प ही अनुभाव है । इनसे परिपुष्ट क्रोध ही रौद्र रस है ॥

अपने अथवा दूसरे के विकृत आकार, वचन तथा वेश आदि (विभावों) से जो हास (स्थायी भाव) होता है उसका परिपोष हास्य रस कहलाता है । यह (हास) त्रिप्रकृति कहा गया है (अर्थात् यह तीन प्रकार के आश्रयों में रहने वाला होता है) ॥७५॥

अपने अथवा दूसरे के विकृत वेष तथा भाषा आदि विभावों का आलम्ब करके

आत्मस्थानिति । द्व्यधिष्ठानः—द्वे अधिष्ठाने = आश्रयौ यस्य तादृशः । क्वचिदात्मैवाधिष्ठानतां

पोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्षड्विधः ।

आत्मस्थो यथा रावणः—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥' ३३९ ॥

परस्थो यथा—

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ॥' ३४० ॥

होने वाला हास (नामक स्थायी भाव) है । हास का परिपोष ही हास्य रस है । इस (हास) के दो आश्रय होते हैं (स्वयं या अन्य), और वह उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के भेद से छः प्रकार का हो जाता है ।

अपने विकृत वेष आदि को देख कर उत्पन्न हास्य, जैसे (रावण अपने आपको देखकर कह रहा है—

'मेरे (शरीर पर लगे) रूक्ष भस्म के द्वारा (मलय) चन्दन के चूर्ण की भूषा की गयी है, यज्ञोपवीत वक्षःस्थल पर योग्य हार (का काम दे रहा) है, उलझी हुई लम्बी जटाएँ कोमल केश-कलाप (के स्थान पर) हैं, सम्पूर्ण रुद्राक्षों के साथ (धारण किया गया) वृक्ष-त्वक् रत्नों की मालाओं से विभूषित रेशमी वस्त्र (बना हुआ) है । आह ! (मैंने) सीता की आँखों को आकृष्ट करने वाले, कामी व्यक्ति के रम्य शरीर की साज-सज्जा बना ली है' ॥

विशेषः—कामी व्यक्ति किसी सुन्दरी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये शरीर पर चन्दन का लेप करता है, हार पहनता है, बालों को सजा-सँवार कर रखता है तथा बेल-बूटा वाला रेशमी वस्त्र धारण करता है ॥

दूसरे के विकृत वेष आदि से होने वाला हास्य, जैसे—

प्रश्नकर्ता—'हे भिक्षुक, क्या तुम मांस का सेवन करते हो ?

भिक्षुक—मदिरा के बिना उससे (अर्थात् मांस-सेवन से) क्या (मजा) ?

प्रश्नकर्ता—क्या तुम्हें मदिरा भी प्यारी है ?

भिक्षुक—ओह ! वह तो प्रिय ही है, किन्तु वेश्याओं के साथ (न कि अकेले) ।

प्रश्नकर्ता—वेश्या तो पैसे की भूखी रहती है, तो तुम्हें धन कहाँ से प्राप्त होता है ?

भिक्षुक—जुआ अथवा चोरी से ।

प्रश्नकर्ता—आप चोरी और जुआ को भी अङ्गीकार कर चुके हैं ?

भजते कश्चिदन्यश्च । षड्विधः—आत्मस्थोत्तमप्रकृतिः, आत्मस्थमध्यमप्रकृतिः, आत्मस्थाधमप्रकृतिः, परस्थोत्तमप्रकृतिः, परस्थमध्यमप्रकृतिः, परस्थाधमप्रकृतिरिति षड्विधो हास्यः ॥

स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्
मधुरस्वरं विहसितम्, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
अपहसितं सास्राक्षम्, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

व्यभिचारिणिश्चास्य—

निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः) ।

अथाद्भुतः—

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥
कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ७९ ॥

भिक्षुक—भ्रष्ट व्यक्ति की दूसरी गति ही क्या होती है ?'

विशेषः—'जातं मे' आदि आत्मस्थ निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है । इसमें रावण स्वयं ही हास का आलम्बन है । उसका विकृत वेष उद्दीपन है । अपने ही विकृत वेष को देखकर मुस्कराना आदि अनुभाव हैं । शङ्का, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं । इसी प्रकार आगे वाला उदाहरण भी समझ लेना चाहिए ॥

उत्तम मध्यम तथा अधम प्रकृति में होने वाले हास के भेद—

इस हास में (१) जिसमें नेत्र भर विकसित होते हैं वह स्मित कहा जाता है; (२) जिसमें जरा-जरा दाँत दिखलाई पड़े वह हसित है, (३) जिसमें मधुर स्वर होता है वह विहसित कहलाता है, (४) यह विहसित जब शिर हिलाने के साथ-साथ होता है तब उपहसित कहा जाता है, (५) जिसमें आँखों में आँसू भर आवें वह अपहसित है, और (६) जिसमें अङ्गों को इधर-उधर फेंका जाता है वह अतिहसित है । इन छः में से क्रमशः दो-दो उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति में पाये जाते हैं ॥७७॥

अपने तथा दूसरे के (अङ्ग तथा वेष आदि में) विकार को देखकर उत्तम जन का स्मित एवं हसित होता है, मध्यम जन का विहसित और उपहसित तथा अधम जन का अपहसित एवं अतिहसित होता है। इनके उदाहरणों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए।

इस हास्य रस के व्यभिचारी भाव ये हैं—

निद्रा, आलस्य, थकान, ग्लानि तथा मूर्च्छा—ये (हास्य रस के) व्यभिचारी भाव हुआ करते हैं ।

अद्भुत रस

अद्भुत पदार्थों (को देखने तथा सुनने) से उत्पन्न विस्मय (स्थायी भाव) ही जिसका स्वरूप है, वह अद्भुत रस है (अर्थात् अद्भुत पदार्थों के देखने-सुनने से होने वाला विस्मय ही अद्भुत रस है)। वाह-वाह करना, (आँखों में) आँसू का

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत—
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥' ३४१ ॥

इत्यादि ।

अथ भयानकः—

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्यलक्षणः ॥
दैन्यसम्भ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥ ८० ॥

आना, काँपना, पसीना आना तथा गद्गद होना आदि इसके कार्य (अर्थात् अनुभाव) हैं । हर्ष, आवेग तथा धृति आदि (इसके) व्यभिचारी भाव हैं ॥७८-७९॥

लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन से विभावित (जनित), साधुवाद (वाह-वाह) आदि अनुभावों से परिपुष्ट, आवेग आदि व्यभिचारी भावों से भावित विस्मय नामक स्थायी भाव ही अद्भुत रस कहलाता है । जैसे (महावीरचरित १।५४)—

(धनुष टूटने के अनन्तर उसकी ध्वनि का वर्णन है) 'पूज्य राम के बालचरित की प्रस्तावना का डिण्डिम घोष, दूर तक फैले कपाल-सम्पुटों के मिलने से बने हुए ब्रह्माण्डरूपी पात्र के मध्य में घूमने से घनीभूत प्रचण्डता वाली (राम के) भुजदण्डों से खींचे गये शिव के धनुर्दण्ड के टूटने से उत्पन्न टङ्कार की यह ध्वनि आज (अब) भी क्यों नहीं शान्त हो रही है' ?

विशेषः—लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाला पदार्थ अद्भुत रस का आलम्बन विभाव है, उस पदार्थ के अद्भुत गुण उद्दीपन विभाव हैं । प्रस्तुत श्लोक में राम के द्वारा धनुष का तोड़ा जाना आलम्बन विभाव है । चतुर्दिक् प्रसारित उसकी टंकारध्वनि उद्दीपन विभाव है । उसकी प्रशंसा अनुभाव है तथा हर्ष आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं ॥

भयानक रस

अब भयानक रस (की परिभाषा दी जा रही) है—

डरावने शब्द अथवा सत्त्व (जीव, पराक्रम एवं राक्षस) आदि (विभावों) से उत्पन्न भय नामक स्थायी भाव (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है । समूचे शरीर में कँपकँपी, पसीना आना, मुख सूख जाना, रङ्ग फीका हो जाना आदि इसके लक्षण (अर्थात् अनुभाव) होते हैं । दीनता, भाग-दौड़, किङ्कर्तव्यविमूढ हो जाना, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं ॥७९-८०॥

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः, तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः, दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः।

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथा तथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम्॥' ३४२॥

यथा च रत्नावल्यां प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि।

यथा—

स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः॥ ३४३॥

डरावने शब्द को सुनने अथवा डरावने प्राणी को देखने से उत्पन्न भय (नामक) स्थायी भाव से (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है। इसमें सारे शरीर में कम्पन आदि का होना अनुभाव है तथा दीनता आदि व्यभिचारी भाव हैं।

भयानक (शब्द) जैसे—'इस शस्त्र को छोड़ कर, कुबड़ा बन कर (अर्थात् झुक कर) यदि समर्थ होओ तो जिस किसी भी प्रकार से चले जाओ'॥

और (भयानक प्राणी के दर्शन से होने वाला भय) जैसे रत्नावली (२-३) में—

श्लोक—'नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥'

अर्थ:—'मनुष्य में (वस्तुतः पुरुषों में) गणना न होने के कारण लज्जा को छोड़कर नपुंसक भाग कर छिप गए हैं। यह बौना भयवश कञ्चुकी के जामे में घुस रहा है। (अन्तःपुर के) प्रान्तभाग में रहनेवाले किरातों के द्वारा अपने नाम के अनुरूप किया गया है (अर्थात् वे भी भाग कर अन्तःपुर के बाहर खड़े हुए हैं)। अपने को देख लिये जाने की आशङ्का करने वाले कुबड़े चुपके से झुक कर ही जा रहे हैं॥'

अथवा जैसे (कोई कवि किसी राजा की स्तुति के प्रसङ्ग में कह रहा है)—

'आपकी विजय-यात्रा से चकित बुद्धिवाला शत्रु अपने घर से भाग कर मार्ग पर चला गया, वहाँ से घने जङ्गल में, और पुनः पर्वत पर, पर्वत से सघन वृक्षों से दुर्गम स्थान में गया और वहाँ से भी गुफा में भाग गया। इसके बाद भी अपने अङ्गों में ही सिकुड़ता हुआ वह (शत्रु) यह नहीं सोच पाता कि कहाँ छिपूँ'?॥

रौद्रशब्देति। रौद्रः=श्रवणस्फोटको यः शब्दस्तस्य श्रवणात्=आकर्णनात्, **रौद्रसत्त्वदर्शनात्**—रौद्राणाम्=भीषणानाम् सत्त्वानाम्=पिशाचादीनां भयोत्पादकप्राणीनां वा दर्शनात=अवलोकनात्॥

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥ ८१ ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः। इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥' ३४४ ॥

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम् ।

विशेषः—जिस व्यक्ति से भय उत्पन्न होता है वह भयानक रस का आलम्बन विभाव है और उसके पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव हैं। 'स्वगेहात्०' आदि प्रस्तुत श्लोक में विजय के लिये निकला राजा आलम्बन विभाव है; उसके पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव हैं। शत्रु का भाग कर इधर-उधर छिपना अनुभाव है, दैन्य, सम्भ्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट हुआ भय नामक स्थायी भाव भयानक रस होता है॥

करुण रस

इष्ट के विनाश तथा अनिष्ट की उपलब्धि से उत्पन्न शोक ही करुण रस का स्थायी भाव है (अर्थात् परिपुष्ट हुआ शोक ही करुण रस है)। उसके पश्चात् होने वाले निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि इसके अनुभाव हैं। निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जडता, उन्माद तथा चिन्ता आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं॥८१-८२॥

इष्ट अर्थात् भाई-बन्धु आदि के विनाश से तथा अनिष्ट अर्थात् बन्धन आदि के प्राप्ति से होने वाले शोक की प्रबलता से करुण रस उत्पन्न होता है (अर्थात् शोक के परिपोष से करुण रस की उत्पत्ति होती है)। (कारिका में) 'तम् अनु' (उसके बाद) इस कथन से उसके अनुभाव निःश्वास आदि का कथन किया गया है। निद्रा, अपस्मार आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

इष्ट के नाश से उत्पन्न करुण, जैसे कुमारसम्भव (४।३) में—'हे प्राणनाथ, तुम जीवित हो? ऐसा कह कर उठती हुई उस रति ने अपने सामने जमीन पर पड़ी हुई केवल पुरुष की आकृतिवाली शिव की कोपाग्नि की भस्म को देखा'॥ इत्यादि रति का प्रलाप है।

अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाला करुण, जैसे रत्नावली में सागरिका के बन्धन से उत्पन्न सागरिका का (शोक) है।

विशेषः—करुण रस का आलम्बन विभाव मृत प्रिय व्यक्ति होता और उसका दाह

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ।

षट्त्रिंशद् भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणानि 'साम भेदः प्रदानं च' इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

आदि उद्दीपन विभाव है । उपर्युक्त श्लोक में भस्म हुआ कामदेव आलम्बन विभाव है, उसके शरीर की भस्म उद्दीपन विभाव है, रति का रोना-धोना अनुभाव है तथा दैन्य ग्लानि आदि सञ्चारी भाव हैं । इनसे पुष्ट हुआ शोक ही करुण रस होता है ॥

पूर्वपक्षी—प्रीति, भक्ति आदि भाव तथा शिकार खेलना, जुआ खेलना आदि रस (अर्थात् शिकार खेलने आदि से उत्पन्न आनन्दरूप रस) का अलग निरूपण क्यों नहीं किया गया है ?

सिद्धान्ती—उक्त भावों तथा रसों का समावेश हर्ष एवं उत्साह आदि में ही स्पष्टतः हो जाता है । अतः अलग से इनका निरूपण नहीं किया गया है ॥ ८३ ॥

(कारिका का भाव) स्पष्ट है । (अतः उसके ऊपर वृत्ति लिखने की आवश्यकता नहीं है) ।

विशेषः—कुछ प्राचीन लोगों ने स्नेह तथा भक्ति आदि को अलग से भाव के रूप में माना है । उदाहरणार्थ रुद्रट ने प्रेयान् नामक रस माना है जिसका स्थायी भाव स्नेह है । इसी प्रकार कुछ लोगों ने मृगया तथा द्यूत को भी पृथक् रस माना है । इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए धनञ्जय ने उक्त कारिका की अवतारणा की है ॥

(इसी प्रकार नाट्य, काव्य के) छत्तीस (३६) भूषण आदि लक्षण तथा इक्कीस (२१) साम आदि सन्ध्यन्तर का भी (उपमा आदि) अलङ्कारों तथा हर्ष, उत्साह आदि (तेषु) में ही अन्तर्भाव हो जाता है (अतः उनका अलग से विवेचन नहीं किया गया है ॥ ८४ ॥

'विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान तथा गुणकीर्तन' इत्यादि छत्तीस काव्यलक्षण बतलाये गये हैं । साम, भेद तथा दान आदि इक्कीस सन्ध्यन्तर कहे गये हैं । इनका उपमा आदि अलङ्कारों में तथा हर्ष, उत्साह आदि भावों में ही समावेश हो जाता है । यही कारण है यहाँ इनका अलग से विवेचन नहीं प्रस्तुत किया गया है ।

विशेषः—विभूषण आदि तथा साम आदि सन्ध्यन्तर के लिए ना० शा० (अ० १६) एवं सा० द० (६।१७१-१९४) में चतुर्थ प्रकाश का उपसंहार देखना चाहिए ॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥
विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

॥ समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ॥

रमणीय या घृणित, उत्तम या अधमं, उग्र या आह्लादक तथा गूढ या विकृत ऐसी कोई भी वस्तु अथवा अवस्तु लोक में नहीं है जो कवि तथा भावक (सहृदय) के द्वारा भावित होकर रसरूपता को न प्राप्त करे (अर्थात् सरस न बने) ॥ ८५ ॥

विशेषः—वस्तु—काव्य या नाटक की कथावस्तु । अवस्तु—कवि के द्वारा स्वतन्त्ररूप से अथवा खण्डशः कल्पित वस्तु ॥

ग्रन्थ का उपसंहार

मुञ्जराज की सभा में विदग्धता को प्राप्त हुए, विष्णु के पुत्र धनञ्जय के द्वारा विद्वानों के मन को आह्लादित करने वाले इस दशरूपक (नामक ग्रन्थ) की रचना की गयी है ॥ ८६ ॥

विशेषः—इस श्लोक से यह पता चलता है कि धनञ्जय राजा मुञ्ज के सभापण्डित थे और इनके पिता का नाम था—विष्णु ॥

॥ इस प्रकार धनञ्जय के द्वारा रचित दशरूपक का चतुर्थ प्रकाश समाप्त हुआ ॥

॥ यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥

रम्यमिति । रम्यम् = मनोहारि, **जुगुप्सितम्** = उद्वेजकम्, **उदारम्** = उत्तमम्, **नीचम्** = अनुत्तमम्, **प्रसादि** = चेतःप्रसादकम्, **विकृतम्** = स्वभावाद्विगलितम्, **वस्तु** = कथावस्तु, **अवस्तु** = स्वतन्त्रतया कविकल्पितम्, खण्डशः कृतायाः कविताया वर्ण्यं वस्त्विति यावत् । **कविभावकभाव्यमानम्**—कविभावकाभ्याम् = कविसहृदयाभ्यां भाव्यमानम् = आस्वाद्यमानम्, स्वभावनाविषयीक्रियमाणम् , **रसभावम्** = रसवत्ताम्, सरसतामित्यर्थः । कविभावकभाव्यमानं सर्वं रसभावमुपैतीत्यभिप्रायः ॥ इति शम् ॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृतौ दशरूपकावलोकटिप्पणे चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

व्याख्याकर्तुः परिचयः

विन्ध्यक्षेत्रान्तरे रम्ये मीरजापुरमण्डले।
गम्भीरपुरनामाऽस्ति ग्रामः ख्यातो महीतले॥ १॥
तत्र रामप्रसादाख्यस्त्रिपाठी ब्राह्मणो ह्यभूत्।
तस्यासीत् प्रबला भक्तिर्विष्णोश्चरणपङ्कजे॥ २॥
अतो नामापरं तस्य रामदासेति विश्रुतम्।
जातः परमहंसोऽयमन्तिमे समये महान्॥ ३॥
चत्वार आत्मजास्तस्य बभूवुः कृतिनां वराः।
ज्येष्ठो गणपतिस्तेषु सोमदत्तोऽपरस्तथा॥ ४॥
तृतीयो देवदत्तश्च कृष्णदत्तश्चतुर्थकः।
कृष्णदत्तस्य तुर्यस्य द्वौ सुतौ प्रबभूवतुः॥ ५॥
दीनान्तः शीतलस्तत्र प्रथमः प्रथितोऽभवत्।
श्रीमान् रामदयाल्वाख्यो द्वितीयोऽभूत् परः कृती॥ ६॥
आद्यः शीतलदीनो यश्चतुरः सुषुवे सुतान्।
चतुरान् कृतविद्यांश्च चतुरः सागरानिव॥ ७॥
आदित्यरामस्तत्रैकः कर्मकाण्डी महायशाः।
दिवाकरो भास्करश्च प्रभाकर इतीरिताः॥ ८॥
आदित्यरामस्यैकोऽभूज्जेष्ठः पुत्रः सुधीवरः।
शिवप्रतापनाम्ना यः प्रसिद्धिं परमां गतः॥ ९॥
द्वितीयः शिवसम्पत्तिर्गुणज्ञो गुणवान् मतः।
शिवप्रतापस्य पुत्रो द्वेषमात्सर्यवर्जितः॥ १०॥
श्रीमान् रामसुमेरुर्हि पुण्यवान् भाग्यवांस्तथा।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा॥ ११॥
प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान्।
तेषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः॥ १२॥
त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः।
रमाशङ्करनामाऽहं टीकाकृत्तु तृतीयकः॥ १३॥
वात्सल्यभाङ्नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्धितः॥ १४॥
सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम्।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम॥ १५॥

———

परिशिष्टम् १

उदाहृतश्लोकानामनुक्रमणिका